मनु एवं याज्ञवल्क्य की वर्ण–व्यवस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन तथा उसकी प्रासंगिकता

मनुयाज्ञवल्क्ययोः वर्णव्यवस्थयोः तुलनात्मकमध्ययनं
तस्य प्रासंगिकता च
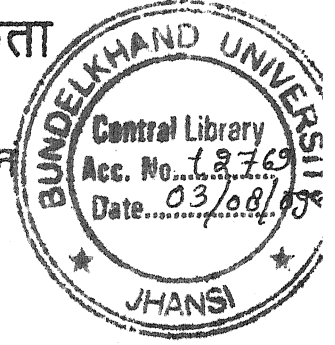
A Comparative Study of the Varna Systems of Manu and Yajnavalkya and Its Relevance

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय की पी–एच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध
वर्ष २००८

निर्देशक

डॉ. ओमप्रकाश शास्त्री
उपाचार्य एवं विभागाध्यक्ष
संस्कृत विभाग
नेहरू महाविद्यालय, ललितपुर
उत्तर प्रदेश

गवेषक

मनमोहन सिंह पाल
परास्नातक संस्कृत

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी (उत्तर प्रदेश)

स्वातन्त्र्यवीर

श्री विनायक दामोदर सावरकर,

पूज्य पिताजी

श्री रामप्रकाश पाल

एवम्

पूजनीया माताजी

श्रीमती सरजू देवी

को

श्रद्धया समर्पित

मनमोहन सिंह पाल

नेहरू महाविद्यालय, ललितपुर (उत्तर प्रदेश)

(सम्बद्ध – बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी)

डॉ. ओमप्रकाश शास्त्री
नव्यव्याकरणाचार्य (लब्धस्वर्णपदक),
एम.ए., एम.फिल., पी–एच.डी.
उपाचार्य एवं विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग

आवास : 108, अवधकुटी, आजादपुरा,
ललितपुर (उ.प्र.)
दूरभाष : (05176) 274032
मोबाइल : 09415509588

संस्तुति–पत्र

प्रमाणित किया जाता है श्री मनमोहन सिंह पाल ने मेरे निर्देशन में ''मनु एवं याज्ञवल्क्य की वर्ण–व्यवस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन तथा उसकी प्रासंगिकता'' विषय पर यह शोध प्रबन्ध पूर्ण किया है। यह शोध प्रबन्ध इनकी मौलिक दृष्टि एवं सतत अध्यवसाय का प्रतिफल है।

मेरी दृष्टि में यह शोध प्रबन्ध गम्भीर गवेषणापूर्ण एवं विद्या वाचस्पति (पी–एच.डी.) उपाधि हेतु सर्वथा समर्पणयोग्य है।

अतएव शोध प्रबन्ध संस्तुतिसहित प्रेषित है।

ओमप्रकाश शास्त्री

दिनांक 12/3/2008

(डॉ. ओमप्रकाश शास्त्री)
उपाचार्य एवं विभागाध्यक्ष
संस्कृत विभाग

प्रमाणित किया जाता है कि श्री मनमोहन सिंह पाल ने शोधकेन्द्र पर २०० दिन उपस्थित रहकर शोध कार्य पूर्ण किया है।

ओमप्रकाश शास्त्री

डा० ओमप्रकाश शास्त्री
अध्यक्ष संस्कृत विभाग
नेहरू स्नातकोत्तर महाविद्यालय
ललितपुर (उ० प्र०)

धन्यवादज्ञापन

सर्वप्रथम हम पूज्य गुरुजी डॉ. ओमप्रकाश शास्त्री के प्रति श्रद्धया धन्यवाद ज्ञापित करते हैं क्योंकि हमारी शोधेच्छा का संज्ञान होते ही उन्होंने अपने निर्देशकत्व में शोध करने हेतु हमें आमन्त्रित किया और अतिकृपापूर्वक मार्गदर्शन एवं साहाय्य प्रदान किया। डॉ. सुरेन्द्र कुमार के प्रति भी हम विशेष धन्यवाद ज्ञापित करते हैं क्योंकि मनुस्मृति–अनुशीलन नामक उनका समीक्षाग्रन्थ इस कार्य का प्रेरणास्रोत रहा। महामहोपाध्याय डॉ. पाण्डुरंग वामन काणे का ''धर्मशास्त्र का इतिहास'' इस कार्य में सहायक रहा, अतः वे भी धन्यवादार्ह हैं। काकेशस क्षेत्र के निवासी जॉर्ज गुर्जिएफ के रसियन शिष्य पी.डी. ऑस्पेंस्की के प्रति हम श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं क्योंकि उनके ग्रन्थों से भी इस कार्य का मार्ग प्रशस्त हुआ। आदरणीय ताऊजी डॉ. श्रीप्रकाश अग्रवाल (चिकित्साधिकारी) के जातीय एवं राजनैतिक विचार भी इस कार्य में अतीव सहायक सिद्ध हुए, अतः हम उनके प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित करते हैं। आदरणीय अग्रजवर श्री अमिताभ त्रिपाठी के प्रति हम सर्वाधिक धन्यवाद ज्ञापित करते हैं क्योंकि उन्होंने पौराणिक इतिहास, राजनीति एवं ज्योतिष के विषय में अपूर्व मार्गदर्शन प्रदान किया जिसके बिना इस कार्य को अन्तिम रूप दिया जाना कदापि सम्भव नहीं था। श्री विवेक गुप्ता ने अतिकुशलतापूर्वक टाइपिंग का कार्य सम्पादित किया, अतः वे भी धन्यवादार्ह हैं। प्रिय अनुजद्वय श्री दीपक कुमार पाल व श्री अविनाशी तिवारी ने बड़ी ही तत्परता से प्रूफरीडिंग का कार्य सम्पादित किया, अतः हम उनके प्रति धन्यवाद ज्ञापित करते हैं तथा उनके यशस्वी एवं सफल जीवन की कामना करते हैं। अन्त में हम उन **परमतत्त्व** के लिए बुद्ध्या, हृदयेन व शरीरेण धन्यवाद ज्ञापित करते हैं जो स्वरूपतः **सत्य, शिव** व **सुन्दर** हैं तथा जिनसे ही व जिनमें ही समस्त कार्यों का बीजारोपण एवं विपाक होता है।

त्वदीयं वस्तु सर्वेश तुभ्यमेव समर्पये।

मनमोहन सिंह पाल

प्राक्कथन

सन् 1987 ईस्वी में झाँसी नगर के "सतीश चन्द्र चतुर्वेदी, शिशु मन्दिर" की पाँचवीं कक्षा में हमारा प्रवेश हुआ और वहीं अपनी कक्षा के अविनाश खरे नामक विद्यार्थी से हमारी मित्रता हो गयी। अविनाश के अग्रज से हमें स्वातन्त्र्यवीर सावरकर का साहित्य प्राप्त हुआ। इस साहित्य में पुनः पुनः इस बात का उल्लेख किया गया है कि जिसने शक, यवन, हूण, कुषाण आदि अनेकानेक बाह्य आक्रान्ताओं को आत्मसात कर लिया, वही हिन्दू समाज इस्लाम को आत्मसात नहीं कर सका जिसका कारण अन्य आक्रान्ताओं से इस्लामिक आक्रान्ताओं का वैशिष्ट्य मात्र नहीं था अपितु हिन्दू समाज द्वारा अपने **मूलतत्त्व** का विस्मरण भी था। स्वातन्त्र्यवीर के वचनों से यह तो स्पष्ट न हो सका कि वह मूलतत्त्व क्या है किन्तु उस मूलतत्त्व की जिज्ञासा प्रबल से प्रबलतर होती चली गयी और अन्ततः शोधेच्छा में परिणत हो गयी। इस शोधकार्य में उसी मूलतत्त्व को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है। एतदर्थ "मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति के तुलनात्मक अध्ययन" को साधन बनाया गया है। इस बात का पूर्ण प्रयास किया गया है कि कार्य की प्रस्तावना में कार्य का सम्पूर्ण सार समाहित हो सके।

वस्तुतः मानवजीवन **अस्मिता** से संचालित होता है और जो व्यक्ति, समुदाय अथवा राष्ट्र अस्मिता को सर्वाधिक महत्त्व देता है वही अपने मूलतत्त्व को जान सकता है और वही सर्वांगीण विकास भी कर सकता है। हम आशा करते हैं कि हिन्दू समाज अपने **मूलतत्त्व** की जिज्ञासा एवं रक्षा हेतु दत्तचित्त एवं कटिबद्ध हो सके।

Knowledge is power.

Knowledge is virtue.

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

मनमोहन सिंह पाल

मनमोहन सिंह पाल

5 फरवरी, 2008 ईस्वी

पौष/माघ, कृष्ण त्रयोदशी

विक्रमाब्द 2064

शकाब्द 1929

विषय–सूची

प्रस्तावना

किसी भी काल में किसी भी भूभाग पर यदि किसी मानव समाज का अस्तित्व रहा तो उसमें अनिवार्यरूपेण कर्मविभाजन भी देखा गया। यह पृथक् विषय है कि कहीं पर यह कर्मविभाजन बड़ा ही दृढ था और कहीं पर बड़ा ही तरल। वर्तमान समाज को भी यदि देखा जाय तो सभी सदस्य एक ही कर्म नहीं करते प्रत्युत सभी के पृथक्–पृथक् कर्म ही देखे जाते हैं। आज एक विशेषता यह दिखलाई पड़ती है कि लोग लाभ एवं रुचि के आधार पर कर्म करते हैं। लाभ एवं रुचि की सम्भावना किसी अन्य कर्म में दिखने पर लोग उसे ग्रहण कर लेते हैं और पूर्वकर्म का त्याग कर देते हैं। इस प्रकार आज व्यक्ति की पहचान कर्म से बहुत अधिक नहीं रह गयी है तथापि आज समाज में स्थूलरूपेण सरकारी अधिकारी, सरकारी कर्मचारी, स्वतन्त्र व्यवसायी, गैर–सरकारी कम्पनियों के अधिकारी व कर्मचारी इत्यादि अनेकानेक नवीन वर्ग उभर चुके हैं। दूरसंचार के माध्यमों कम्प्यूटर, इण्टरनेट, मोबाइलफोन इत्यादि का इतना अधिक प्रसार हो रहा है कि अब महानगरों में उपभोक्ता को सामान खरीदने हेतु दुकान पर जाना अनिवार्य नहीं रह गया है प्रत्युत होम–डिलीवरी सेवाओं (home delivery services) के द्वारा भी वह सामान खरीद सकता है। परिणामस्वरूप छोटी–छोटी दुकानों के स्थान पर बड़े–बड़े शॉपिंग सेन्टर व स्टोर प्रभावी होते जायेंगे, जहाँ पर मोबाइलफोन आदि के द्वारा उपभोक्ता सामान का ऑर्डर कर देगा और उस तक सामान पहुँचाने के लिए होम–डिलीवर्स होंगे। इस प्रकार होम–डिलीवर्स का भी एक बड़ा वर्ग दस–बीस वर्षों में उभर सकता है। (1) समय व श्रम की बचत (saving of time and labour) (2) विश्राम, मनोरंजन व ज्ञान के साधनों का संग्रह (collection of the means of rest, entertainment and knowledge) (3) स्पर्धा व साहसिक कृत्य (sports and adventure) इन तीन आधारों पर समाज एक नया ही रूप लेता जा रहा है जिसमें वैयक्तिक योग्यता, धनसंग्रह, प्रतिस्पर्धा (competition) तथा स्वकेन्द्रितता (self-centredness) की प्रवृत्तियाँ तीव्र वेग से बढ़ रही हैं और सामूहिकता की भावना क्षीण से क्षीणतर होती जा रही है। अतः आवश्यक है कि समाज में कर्मविभाजन के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए देखा जाये कि इसका सूत्रपात कब और कैसे हुआ ? इसके गुण–दोष क्या रहे तथा इसकी उपादेयता क्या है ?

समाज की चार स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं – सामाजिक गठन, राजनीति, व्यापार तथा विज्ञान। इन चारों के बिना समाज का अस्तित्व ही नहीं हो सकता। समाज के अन्तर्गत **समुदाय, परिवार, व्यक्ति** तथा **शिशु** का अन्तर्भाव होता है। इन चारों का समन्वय ही सामाजिक गठन कहलाता है। जाति, गोत्र आदि समुदाय के अन्तर्गत होते हैं। पति–पत्नी तथा उनकी सन्तानों का समुच्चय परिवार कहलाता है।

समुदाय, परिवार तथा व्यक्ति इन तीनों के कुछ निश्चित कर्तव्य तथा अधिकार होते हैं। एक नवजात शिशु के भी कुछ निश्चित अधिकार होते हैं किन्तु उसका कोई भी कर्तव्य नहीं होता। आयुवृद्धि होने पर शिशु को कर्तव्यों की प्राप्ति होने लगती है। सामाजिक गठन राजनीति, व्यापार तथा विज्ञान को सहारा देता है, अतः ये तीनों भी सामाजिक गठन को नियन्त्रित करने का प्रयास करते हैं। राजनीति, व्यापार तथा विज्ञान के समुच्चय में केन्द्रीय स्थान पर राजनीति होती है। शासन व नेतृत्व करने की प्रबल आकांक्षा से राजनीति का उदय होता है। कैसा भी मानव समाज क्यों न हो उसमें कुछ लोग राजनैतिक प्रवृत्ति के अवश्य होते हैं। समाज के भरण–पोषण के लिए व्यापार अनिवार्य है। इसके बिना राजनीति पंगु हो जाती है। कृषि तथा पशुपालन आधारभूत व्यापार होते हैं। विज्ञान वह मार्ग है जिस पर सामाजिक गठन, राजनीति तथा व्यापार चलते हैं। मार्ग जितना अच्छा हो यात्रा भी उतनी ही अच्छी होती है। अतः विज्ञान की उन्नति पूर्वोक्त तीनों की उन्नति हेतु अत्यावश्यक है। इसके दो प्रधान भेद होते हैं – मनोविज्ञान (Psycology) तथा भौतिक विज्ञान (Physical Science)। प्राचीन साहित्य में मनोविज्ञान को **विद्या** अथवा **परा विद्या** तथा भौतिक विज्ञान को **अविद्या** अथवा **अपरा विद्या** कहा गया है। मनोविज्ञान में संस्कार, आदर्श, मूल्य, नैतिकता, मानवता, ध्यान–धारणा आदि अन्तर्निहित हैं जो मानव के आचरण में निहित पशुता को न्यून करने का प्रयास करते हैं। भौतिक विज्ञान के अन्तर्गत भौतिक संसाधनों के विकास का प्रयास किया जाता है। आनुवांशिकी (Genetics), ज्योतिष (Astrology), कल्प अथवा वास्तुशास्त्र (Architecture) आदि भौतिक विज्ञान की प्रमुख शाखाएं हैं।

अध्यात्म की चर्चा किए बिना विज्ञान की चर्चा अधूरी ही रहेगी। अध्यात्म का तात्पर्य है – आत्मविषयक ज्ञान। आजकल **आत्मा** (Self) शब्द का प्रयोग बड़े ही **हवाई** अर्थों में किया जाता है किन्तु प्राचीन मनीषियों ने आत्मा शब्द का प्रयोग अतिस्पष्ट अर्थ में किया था। उनके अनुसार किसी व्यक्ति के समस्त संस्कार (total conditioning) तथा समस्त कर्म (total acts) संघनित होकर बीजरूप में उसकी आनुवांशिकी अर्थात् **जेनेटिक कोड** (genetic code) से संयुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार व्यक्ति के समस्त संस्कारों तथा समस्त कर्मों से युक्त उसका जेनेटिक कोड ही उसका **आत्मा** है (संस्कृत में **आत्मा** शब्द पुँलिंगवाची है)। दूसरे शब्दों में **अहंता** (मैंपन) व **ममता** (मेरापन) का प्रवाह ही **आत्मा** है। इसी कारण अतिप्राचीन शास्त्रों में **पुत्र** को ही **आत्मा** कहा गया है।

निरुक्त (3–1–4) के अनुसार –

अंगादंगात् सम्भवसि हृदयादधि जायसे। आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्।।

महाभारत, वनपर्व (12–70) के अनुसार –

आत्मा हि जायसे तस्यां तस्माज्जाया भवत्युत। भर्ता च भार्यया रक्ष्यः कथं जायान्ममोदरे।।

महाभारत, वनपर्व (313–72) के अनुसार

पुत्र आत्मा मनुष्यस्य भार्या दैवकृतः सखा। उपजीवनं च पर्जन्यो दानमस्य परायणम्।।

मनुस्मृति (9–8) के अनुसार –

पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायसे। जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः।।

इस प्रकार किसी पुरुष के लिए उसका **पिता** ही उसका **पूर्वजन्म** है तथा उसका **पुत्र** ही उसका **पुनर्जन्म** है। किन्तु किसी स्त्री के लिए उसकी **माता** व उसका **पिता** दोनों ही उसके **पूर्वजन्म** हैं तथा उसकी **पुत्री** व उसका **पुत्र** दोनों ही उसके **पुनर्जन्म** हैं। अतः किसी स्त्री के लिए उसकी पुत्री व उसका पुत्र दोनों ही उसके आत्मा हैं जबकि किसी पुरुष के लिए उसका पुत्र ही उसका आत्मा है तथा उसकी पुत्री उसका **उपात्मा** है। पूर्वजन्म के स्मरण की जो बात कही जाती है उसका इतना ही तात्पर्य है कि जिस प्रकार एक मोबाइलफोन का सन्देश दूसरे मोबाइलफोन द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है उसी प्रकार एक व्यक्ति के मस्तिष्क में संचित अनुभवों की तरंगे उसकी मृत्यु के पश्चात् दूसरे अनेकों व्यक्तियों के मस्तिष्कों द्वारा ग्रहण की जा सकती हैं। इतना ही नहीं, **टैलीपैथी** में कुशल एक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार अपने अनुभवों की तरंगे किसी दूसरे व्यक्ति के मस्तिष्क में आरोपित कर सकता है। वस्तुतः भय, हीनभावना व कृतघ्नता से ग्रस्त तथा प्रेम से रहित व्यक्ति ही किसी हवाई आत्मा की वकालत करता है। फिर भी किसी **हवाई** आत्मा के अस्तित्व को हम पूर्णतया नकारना नहीं चाहते किन्तु इतना अवश्य कहना चाहते हैं कि किसी **हवाई** आत्मा के अस्तित्व पर बहुत अधिक जोर देने के कारण ही हिन्दू समाज की घोर दुर्गति हुई और दासता का एक लम्बा कालखण्ड इसे भोगना पड़ा। इसके अतिरिक्त हम जो कह रहे हैं वह भी सप्रमाण ही है। यह बात उन लोगों के लिए पीडादायी हो सकती है जो **अपने शरीर से पूर्णतया पृथक् आत्मा** तथा **कर्मफल के सिद्धान्त** को मानते हैं। वस्तुतः ये दोनों बातें तभी लागू हो सकती हैं जब **सन्तानोत्पत्ति** हो गयी हो। सन्तान ही अपने शरीर से पूर्णतया पृथक् आत्मा है तथा स्वयं द्वारा कृत कर्मों के शेष फल सन्तान को ही भोगने होंगे। वस्तुतः पूर्वजों द्वारा कृत कर्मों के प्रवाह के फल भी प्रवाहरूप ही होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने सम्पूर्ण जीवनकाल में तीन प्रकार के कर्मों के फल भोगता है –

(1) पिता के पूर्वजों तथा उनकी पत्नियों द्वारा कृत कर्म (विशेषतः प्रारब्ध)

(2) पिता तथा माता द्वारा कृत कर्म (विशेषतः संचित)

(3) स्वयं द्वारा कृत कर्म (विशेषतः क्रियमाण)

कोई भी व्यक्ति अपने सम्पूर्ण जीवनकाल में इन तीनों प्रकार के कर्मों के समस्त फलों को नहीं भोग सकता। कुछ न कुछ फलों का भोग शेष रह ही जाता है। जिन फलों का भोग शेष रह जाता है उन फलों को सन्तान भोगती है। अनेक सन्तानें होने पर यह फल उन सभी सन्तानों में वितरित हो जाता है। ज्योतिष के अनुसार कोई भी कर्मफल अधिकतम सातवीं पीढ़ी तक ही भोगा जा सकता है। अधिकांश कर्मफल सातवीं पीढ़ी से पूर्व ही क्षीण हो जाते हैं। सन्तान अपने **गर्भाधान** से पूर्व तक माता–पिता द्वारा कृत कर्मों के फल विशेषरूपेण भोगती है। गर्भाधान के पश्चात् माता–पिता द्वारा कृत कर्मों का प्रभाव सन्तान पर अपेक्षाकृत न्यून होता है। इसी कारण प्राचीन ज्योतिष में **गर्भाधानकाल** को **जन्मकाल** से भी अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है और पूरे विधि–विधान के अनुसार ही गर्भाधान करने का निर्देश दिया गया है क्योंकि गर्भाधान के समय माता–पिता के जो मनोभाव होते हैं वे सन्तान के मनोजगत् की आधारशिला बनते हैं। गर्भाधानकाल में माता–पिता के जो उद्देश्य तथा प्रवृत्तियाँ होती हैं, वे सरलतया सन्तान में प्रविष्ट हो जाती हैं। स्त्री का मासिक रजोस्रावकाल, जो प्रायः 3 से 6 दिनों तक चलता है, **निन्दित काल** कहलाता है। विज्ञानियों के अनुसार रजोस्राव के प्रथम दिन से लेकर 21वें दिन तक के **अनिन्दित काल** में गर्भाधान करने पर गर्भधारण (conception) की सम्भावना होती है। वस्तुतः आजकल ऐसे पिता दुर्लभ ही हैं जो अपनी सन्तान का गर्भाधानकाल बताने में समर्थ हों। यह तथ्य किसी समाज के चारित्रिक व नैतिक स्तर का परिचायक है। ज्योतिष के मर्मज्ञ विद्वान् इन रहस्यों को भली–भाँति जानते हैं। अतः वे निरन्तर सत्कर्मों की प्रेरणा देते रहते हैं ताकि वंशजों को सुखद फलों की प्राप्ति हो सके। इसी कारण ध्यानी अपने मन को वश में रखने की प्रेरणा देते हैं क्योंकि जिस व्यक्ति का अपने मन पर नियन्त्रण नहीं होता वह दुष्कर्म कर बैठता है जिसका दुःखद फल उसको तथा उसके वंशजों को भी भोगना पड़ता है। हमारा वातावरण भी हमारे मन को प्रभावित करता है। इसी कारण वास्तुशास्त्री भी भवननिर्माण की ऐसी योजना बनाते हैं ताकि हमारा मन सत्कर्मों में ही प्रवृत्त हो। आनुवांशिकी तो स्पष्टतया हमारे **जेनेटिक कोड** का ही अध्ययन करती है। इस प्रकार ध्यान, ज्योतिष, वास्तुशास्त्र तथा आनुवांशिकी इन चारों का समुच्चय ही **अध्यात्म** कहलाता है।

अध्यात्म के अनुसार मानवजीवन के चार लक्ष्य हैं जिन्हें धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष कहा गया है। इन्हें सम्मिलितरूपेण **चतुर्वर्ग** या **पुरुषार्थचतुष्ट्य** कहा गया है।

व्यक्ति के लिए निर्दिष्ट कर्तव्यों का समुच्चय **धर्म** कहलाता है। महामहोपाध्याय डॉ. पी.वी. काणे बताते हैं कि **भविष्य पुराण** के अनुसार धर्म के छः प्रकार हैं – **वर्णधर्म** (यथा, ब्राह्मण को कभी सुरापान नहीं करना चाहिए), **आश्रमधर्म** (यथा, ब्रह्मचारी का भिक्षा माँगना तथा दण्ड धारण करना), **वर्णाश्रम धर्म**

(यथा, ब्राह्मण बह्मचारी को पलाश वृक्ष का दण्ड धारण करना चाहिए), **गुणधर्म** (यथा, राजा को प्रजा की रक्षा करनी चाहिए), **नैमित्तिक धर्म** (यथा, वर्जित कार्य करने पर प्रायश्चित्त करना) तथा **साधारण धर्म** (जो सबके लिए समान है। यथा, माता–पिता की सेवा करना, अहिंसा एवं अन्य साधु वृत्तियाँ)। धर्मविरुद्ध विचार, कथन अथवा कर्म **अधर्म** कहलाता है।

माता के गर्भ से बाहर आते ही मानव क्षुधा, तृषा, शैत्य, औष्ण्य आदि कष्टों से पीडित हो जाता है जिनका निवारण न होने पर उसकी प्राणरक्षा असम्भव है। आहार, वस्त्र, औषधि आदि से उसकी प्राणरक्षा होती है। प्राणरक्षा के लिए अनिवार्य इन्हीं पदार्थों का समुच्चय **अर्थ** कहलाता है। मानव को धर्म की परिधि में रहते हुए ही अर्थप्राप्ति की चेष्टा करनी चाहिए। धर्मविरुद्ध रीति से प्राप्त किया गया अर्थ **अनर्थ** अथवा **अपार्थ** कहलाता है।

मानव के दो लैंगिक भेद होते हैं – पुरुष व स्त्री। इनके बीच अतिप्रबल आकर्षण पाया जाता है जिसके कारण इनमें परस्पर **मिलनेच्छा** उत्पन्न हो जाती हैं जिसे **कामवासना** कहा जाता है। कामवासना की पूर्ति न होने पर मानव अनेकों मनोसंतापों से पीडित हो जाता है तथा उसके व्यवहार में असहजता (abnormality) उत्पन्न हो जाती है। अतः मानव के मानसिक सुख व स्वास्थ्य के लिए **पुरुष व स्त्री का मिलन** अति आवश्यक है। वंशवृद्धि का साधन होने के कारण यह मिलन अतिपवित्र एवं अतिउत्तरदायित्वपूर्ण भी है। रत, संभोग, मैथुन आदि इस मिलन के नामान्तर हैं। पुरुष–स्त्री का मिलन तथा उसमें सहायक समस्त पदार्थों का समुच्चय **काम** कहलाता है। धर्मविरुद्ध रीति से प्राप्त किया गया काम **अकाम** अथवा **अपकाम** कहलाता है। अपकाम के चार प्रकार होते हैं – प्रकट, प्रच्छन्न, गोत्रीय तथा रक्तीय।

प्रकट अपकाम के प्रमुख रूप निम्नवत् हैं –

(1) **हस्तरत** (Onanism or Masturbation) – अपने हाथ से अपने जननांगों का मर्दन, घर्षण इत्यादि **हस्तरत** कहलाता है।

(2) **आपद्रव्यक** – कृत्रिम शिश्न तथा कृत्रिम भग **अपद्रव्य** कहलाते हैं। अपद्रव्य के द्वारा कामतृप्ति करना **आपद्रव्यक** कहलाता है।

(3) **औपरिष्टक** (Oral sex) – मैथुन के साथी के जननांगों को अपने मुख से चाटना–चूसना **औपरिष्टक** कहलाता है। इसका अपर नाम **मुखरत** है।

(4) **चित्ररत** (Strange sex) – विचित्र ढंग से मैथुन करना **चित्ररत** कहलाता है। इसके प्रमुख रूप निम्नवत् हैं –

(क) **संघाटक** – जब परस्पर आत्मीयता तथा सद्भाव रखने वाली दो स्त्रियों के साथ एक पुरुष मैथुन करे तो इसे **संघाटक** कहते हैं। इसके विपरीत स्थिति **प्रतिसंघाटक** कहलाती है अर्थात् एक स्त्री तथा दो पुरुष।

(ख) **गोयूथिक** – जब बहुत–सी स्त्रियों के साथ एक पुरुष मैथुन करे तो इसे **गोयूथिक** कहते हैं। इसके विपरीत स्थिति **प्रतिगोयूथिक** कहलाती है अर्थात् एक स्त्री तथा बहुत–से पुरुष। यदि बहुत–सी स्त्रियाँ तथा बहुत–से पुरुष हों तो इस स्थिति को **अतिगोयूथिक** कहते हैं।

(ग) **पायविक** (Sodomy or Anal sex) – पुरुष द्वारा अपने शिश्न को किसी अन्य की गुदा (पायु) में प्रवेश कराना **पायविक** कहलाता है। इसका अपर नाम **अधोरत** है। चित्ररतों में यह सर्वाधिक अधम तथा मनोशारीरिकदृष्ट्या सर्वाधिक विकृत है।

(5) **बालरत** – किसी कन्या के रजस्वला होने के पूर्व उसके साथ मैथुन करना **बालरत** कहलाता है।

(6) **आर्तवरत** – प्रायः प्रति 28, 27 या 26 दिन बाद स्त्री का रजोस्राव आरम्भ हो जाता है जो 3 से 6 दिनों तक चलता है। इस रजोस्रावकाल में किया गया मैथुन **आर्तवरत** कहलाता है।

(7) **गर्भरत** – गर्भवती स्त्री के साथ मैथुन करना **गर्भरत** कहलाता है। इससे गर्भस्थ शिशु को हानि भी हो सकती है।

(8) **पशुरत** – पशुओं के साथ मैथुन करना **पशुरत** कहलाता है।

(9) **क्लीवरत** – पुरुषों द्वारा क्लीवों के साथ मैथुन करना **क्लीवरत** कहलाता है। क्लीवों के साथ **औपरिष्टक** तथा **पायविक** जैसी विकृत क्रियाएं ही सम्भव हैं।

(10) **समलैंगिकता** – पुरुष द्वारा पुरुष के साथ तथा स्त्री द्वारा स्त्री के साथ मैथुन करना **समलैंगिकता** कहलाता है। यह अपकाम का विकृततम रूप है। **स्त्री–समलैंगिकता** (Lesbianism) की तुलना में **पुरुष–समलैंगिकता** (Homosexuality) कई गुना अधिक विकृत है क्योंकि इसमें **औपरिष्टक** तथा **पायविक** भी सम्मिलित होते ही हैं।

आचार्य वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र (2–9–41,42) में सहजकाम के साथ–साथ अपकाम के भी अनेकों रूपों का वर्णन किया है किन्तु उनके अनुसार **श्वमांस** (कुत्ते के मांस) की ही भाँति अपकाम भी सेव्य नहीं है। केवल वर्ण्य विषय होने के कारण ही उन्होंने अपकाम का भी उल्लेख किया है।

न शास्त्रमस्तीत्येतावत्प्रयोगे कारणं भवेत्। शास्त्रार्थान्व्यापिनो विद्यात्प्रयोगांस्त्वेकदेशिकान्।।

रसवीर्यविपाका हि श्वमांसस्यापि वैद्यके। कीर्तिता इति तत्किं स्याद्भक्षणीयं विचक्षणैः।।

प्रच्छन्न अपकाम के दो रूप होते हैं – लम्पटता तथा हिंसा।

लम्पटता – एक **लम्पट** (lupanar) व्यक्ति के लिए काम अस्वच्छ वातावरण से आवृत होता है। ऐसा व्यक्ति अस्वच्छ शब्दों तथा अस्वच्छ विचारों के साथ काम के विषय में बोलता अथवा सोचता है। वह अभद्र आख्यानों को गढ़ता है अथवा उन्हें सुनना पसन्द करता है। उसका सम्पूर्ण जीवन अश्लील भाषा से भरा होता है। वह काम को एक प्रहसन (मजाक) की भाँति लेता है तथा उसमें कुछ न कुछ हास्यास्पद खोजने का प्रयास करता है। एक सहज व्यक्ति के लिए काम **पवित्र** तो हो सकता है किन्तु **हास्यास्पद** कदापि नहीं।

हिंसा – एक **हिंसक** (violent) व्यक्ति में काम तथा कामसम्बद्ध समस्त भाव अवश्यम्भावी खीझ, संशय व ईर्ष्या से संयुक्त हो जाते हैं। किसी भी क्षण वह स्वयं को हानि की अनुभूति, अपमानित गौरव की अनुभूति अथवा स्वामित्व पर खतरे की अनुभूति के पूर्णतया वश में पा सकता है। हिंसा व क्रूरता के ऐसे कोई रूप नहीं जिन्हें वह अंजाम न दे सके, अपने "कुचले गये सम्मान" अथवा "आहत भावनाओं" के प्रतिशोध हेतु। भावावेश में ऐसा व्यक्ति अनुचित काम–सम्बन्धों अथवा अनुचित काम–क्रियाओं का अश्लील उल्लेख करते हुए अपने हिंसक, क्रूर, दुष्ट व अत्याचारपूर्ण भावों को प्रकट करता है। भावावेश के अपराधों के समस्त प्रकार अपकाम के इसी रूप से सम्बद्ध होते हैं। एक सहज व्यक्ति **भावावेशी** नहीं अपितु **विनोदी** होता है।

लम्पटता तथा हिंसा को इस तथ्य के द्वारा व्याख्यायित किया जा सकता है कि काम तथा वह सब जो काम से सम्बद्ध है, स्वयं को मानव के सर्वाधिक विरोधी पक्षों (हास्य व हिंसा) के साथ जोड़ने की क्षमता रखता है। इसी कारण इन दोनों को प्रच्छन्न अपकाम कहा गया है।

अपकाम से युक्त लोगों को काम सदैव एक प्रकार के प्रलोभन, पाप, अपराध, प्रमत्तता अथवा व्यभिचार की ओर ले जाता है। वस्तुतः प्रकट तथा प्रच्छन्न दोनों प्रकार के अपकाम का मौलिक कारण कुसंग तथा अविकसित व्यक्तित्व है। अतः सन्तानों व शिष्यों को कुसंग से बचाने का तथा सृजनात्मक कार्यों में लगाने का प्रयास सदैव करते रहना चाहिए।

गोत्रीय अपकाम – रक्तनैकट्य वाले स्त्री–पुरुषों का सम्बन्ध **गोत्रीय अपकाम** कहलाता है। इसके परीक्षण के दो प्रकार हैं – पुरुषनिष्ठ तथा उभयनिष्ठ।

पुरुषनिष्ठ गोत्रीय अपकाम के तीन प्रकार होते हैं – प्रथमगोत्रीय, द्वितीयगोत्रीय तथा तृतीयगोत्रीय।

प्रथमगोत्रीय अपकाम – यदि पुरुष के ''पिता का पक्षगोत्र'' (प्रथम गोत्र) स्त्री के पिता के पक्षगोत्र से समानता रखता हो तो इसे **प्रथमगोत्रीय अपकाम** कहते हैं।

द्वितीयगोत्रीय अपकाम – यदि प्रथमगोत्रीय अपकाम न हो किन्तु पुरुष की ''माता का कुलगोत्र'' (द्वितीय गोत्र) स्त्री के पिता के कुलगोत्र से समानता रखता हो तो इसे **द्वितीयगोत्रीय अपकाम** कहते हैं।

तृतीयगोत्रीय अपकाम – यदि द्वितीयगोत्रीय अपकाम न हो किन्तु पुरुष की ''पितामही का कुलगोत्र'' (तृतीय गोत्र) स्त्री के पिता के कुलगोत्र से समानता रखता हो तो इसे **तृतीयगोत्रीय अपकाम** कहते हैं।

तृतीयगोत्रीय अपकाम की तुलना में द्वितीयगोत्रीय अपकाम निकृष्ट है किन्तु प्रथमगोत्रीय अपकाम तो निकृष्टतम तथा पूर्णतया अविहित है।

उभयनिष्ठ गोत्रीय अपकाम के भी तीन प्रकार होते हैं – द्विगोत्रीय, चतुर्गोत्रीय तथा षड्गोत्रीय।

द्विगोत्रीय अपकाम – यदि पुरुष के पिता का पक्षगोत्र तथा स्त्री के पिता का पक्षगोत्र दोनों ही समान हों तो **द्विगोत्रीय अपकाम** होता है।

चतुर्गोत्रीय अपकाम – यदि द्विगोत्रीय अपकाम न हो किन्तु पुरुष के पिता व माता के दो कुलगोत्र तथा स्त्री के पिता व माता के भी दो कुलगोत्र; इस प्रकार प्राप्त चार कुलगोत्रों में से कोई दो कुलगोत्र समान हों तो **चतुर्गोत्रीय अपकाम** होता है।

षड्गोत्रीय अपकाम – यदि चतुर्गोत्रीय अपकाम न हो किन्तु पुरुष के पिता, माता व पितामही के तीन कुलगोत्र तथा स्त्री के पिता, माता व पितामही के भी तीन कुलगोत्र; इस प्रकार प्राप्त छः कुलगोत्रों में से कोई दो कुलगोत्र समान हों तो **षड्गोत्रीय अपकाम** होता है।

षड्गोत्रीय अपकाम की तुलना में चतुर्गोत्रीय अपकाम निकृष्ट है किन्तु द्विगोत्रीय अपकाम तो निकृष्टतम तथा पूर्णतया अविहित है।

प्रत्येक जाति में विवाहनिश्चय हेतु **पुरुषनिष्ठ** अथवा **उभयनिष्ठ** गोत्रीय अपकाम में से किसी एक का परीक्षण अवश्य किया जाता है। दोनों के प्रथम प्रकार समान ही हैं। सगोत्र स्त्री–पुरुषों में रक्तनैकट्य होता है। ऐसे स्त्री–पुरुषों के सम्बन्ध समाज के चारित्रिक स्तर को गिराते हैं। इसके अतिरिक्त रक्तनैकट्य वाले स्त्री–पुरुषों से उत्पन्न सन्तानें रोगप्रतिरोधक शक्ति से रहित तथा आनुवांशिक रोगों की अतिवाहक होती हैं।

रक्तीय अपकाम – रक्तीय अपकाम के दो प्रकार होते हैं – र्‌हीसस–सम्बन्धी तथा रक्तवर्गीय।

र्‌हीसस–सम्बन्धी अपकाम – 85 प्रतिशत मनुष्यों के रक्त में **र्‌हीसस तत्त्व** (Rhesus factor) पाया जाता है। र्‌हीसस तत्त्व की उपस्थिति **पॉजिटिव** तथा अनुपस्थिति **निगेटिव** कहलाती है। अतः पुरुष व स्त्री के चार प्रकार के जोड़े बन सकते हैं – (1) पुरुष व स्त्री दोनों ही पॉजिटिव, (2) पुरुष व स्त्री दोनों ही निगेटिव, (3) पुरुष निगेटिव तथा स्त्री पॉजिटिव, (4) पुरुष पॉजिटिव तथा स्त्री निगेटिव। इन चारों में से अन्तिम प्रकार के जोड़े से निषेचित होने वाली दूसरी सन्तान गर्भ में ही मृत्यु को प्राप्त हो सकती है। अतः पुरुष के पॉजिटिव तथा स्त्री के निगेटिव होने पर **र्‌हीसस–सम्बन्धी अपकाम** होता है। अस्तु, विज्ञानियों के अनुसार उचित संयोग हेतु पुरुष तथा स्त्री दोनों को ही पॉजिटिव अथवा दोनों को ही निगेटिव होना चाहिए।

रक्तवर्गीय अपकाम – मनुष्यों में प्रमुखतः चार प्रकार के **रक्तवर्ग** (Blood groups) पाए जाते हैं – A, B, AB तथा O। समान रक्तवर्ग वाले स्त्री–पुरुषों से उत्पन्न सन्तानों की मनोशारीरिक क्षमताएं न्यून होती हैं तथा वे अनेक प्रकार के रोगों से ग्रस्त हो सकते हैं। विज्ञानियों के अनुसार "A व B" का तथा " AB व O" का मिलन होना चाहिए। कम से कम पुरुष व स्त्री दोनों का रक्तवर्ग असमान तो होना ही चाहिए।

इस प्रकार A, B, AB व O **रक्तगोत्र** हैं तथा पॉजिटिविटी (positivity) व निगेटिविटी (negetivity) **रक्तवर्ण** हैं। अतः असमान रक्तगोत्र वाले तथा समान रक्तवर्ण वाले स्त्री–पुरुषों का संयोग ही विज्ञानसम्मत है। पुरुष के निगेटिव किन्तु स्त्री के पॉजिटिव होने पर **अनुलोम** संयोग होगा तथा पुरुष के पॉजिटिव किन्तु स्त्री के निगेटिव होने पर **प्रतिलोम** संयोग होगा।

रक्तीय अपकाम से बचने के लिए समाज में यह परम्परा विकसित की जा सकती है कि पॉजिटिव पुरुष तथा निगेटिव स्त्रियाँ परस्पर भ्राता–भगिनी का भाव रखें। इसी प्रकार समान रक्तवर्ग वाले पुरुष व स्त्री भी परस्पर भ्राता–भगिनी का भाव रखें। वस्तुतः रक्तीय अपकाम से बचने का उपाय यह है कि जन्म–कुण्डलियों के मिलान की ही भाँति **प्री–मैरिटल टैस्ट रिपोर्ट्स** (Pre-marital test reports) अर्थात् प्राग्वैवाहिक परीक्षण रिपोर्ट्स के मिलान की परम्परा भी विकसित की जानी चाहिए। प्री–मैरिटल टैस्ट में मुख्यतः चार परीक्षण कराए जाते हैं –

(1) रक्तवर्ग परीक्षण – इसके द्वारा र्‌हीसस तत्त्व तथा रक्तवर्ग का परीक्षण किया जाता है। इस परीक्षण से यह भी पता चल जाता है कि जोड़े को कोई ऐसा रोग तो नहीं है जो उनकी सन्तान को भी प्राप्त हो जाएगा।

(2) एच.आई.वी. परीक्षण – इसके द्वारा एड्स (AIDS) रोग का पता चलता है।

(3) वी.डी.आर.एल. परीक्षण – इसके द्वारा यौनसंक्रमित रोगों का पता चलता है।

(4) रक्तचित्र परीक्षण – अनेक रोग ऐसे होते हैं जिनके स्पष्ट लक्षण चार–पाँच वर्ष बाद ही दिखते हैं जबकि रक्त में इन रोगों के लक्षण पहले से ही उपस्थित होते हैं। रक्तचित्र परीक्षण के द्वारा रक्तकैंसर तथा एनीमिया जैसे रोगों के लक्षण पता चल सकते हैं।

इस प्रकार प्रकट अपकाम, प्रच्छन्न अपकाम, गोत्रीय अपकाम तथा रक्तीय अपकाम से रहित काम ही विहित एवं सेव्य है।

अर्थ व काम का समुच्चय **द्विवर्ग** कहलाता है। धर्म के बिना अर्थ व काम कभी भी भ्रमित हो सकते हैं। इसी कारण मनीषियों ने पुरुषार्थगणना करते समय धर्म को अर्थ व काम से पहले परिगणित किया है। धर्म, अर्थ व काम का समुच्चय **त्रिवर्ग** कहलाता है। यह अहंता–ममता के सहज रूप का परिचायक है।

अध्यात्म के अनुसार मानवजीवन का अन्तिम लक्ष्य **मोक्ष** है जिसे **अपवर्ग** भी कहते हैं। मोक्ष का तात्पर्य है – अहंता व ममता से मुक्ति। अहंता–ममता से मुक्ति का उपाय है – समाजसेवा। यजुर्वेद (40–1) में **ममता** अथवा **परिग्रह** (Possession) में निहित कृपणता पर आघात करते हुए **त्यागपूर्वक** अथवा **दानपूर्वक** ही भोग करने का परामर्श दिया गया है क्योंकि सम्पूर्ण धन **ईश्वर** का ही है, किसी अन्य का नहीं, अतः **लोभ** नहीं करना चाहिए।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।।

वस्तुतः अहंता–ममता के बिना लोकव्यवहार का चलना असम्भव है किन्तु अहंता–ममता पर अधिक जोर देने वाला व्यक्ति किसी का भी प्रिय नहीं रह जाता। फलतः उसके जीवन का सम्पूर्ण रस ही समाप्त हो जाता है और उसे जीवन क्लेशमय लगने लगता है। अतः अच्छे परिवार तथा अच्छे समाज में जीवन के पूर्वार्द्ध में नैतिक ढंग से अहंता–ममता के विकास का उपाय किया जाता है तथा जीवन के उत्तरार्द्ध में अहंता–ममता से मुक्ति का उपाय भी किया जाता है क्योंकि मृत्यु अन्तिम सत्य है। अहंता–ममता से मुक्त व्यक्ति के लिए दुःख का कोई कारण नहीं रह जाता और सारी पृथ्वी उसे अपना परिवार ही प्रतीत होती है। कहा भी गया है –

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्। उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना। स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्।। मनु. 12–125

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति।। यजुर्वेद 40–6

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः को शोकऽएकत्वमनुपश्यतः।। यजुर्वेद 40–7

अहंता–ममता से मुक्त व्यक्ति सभी के लिए कल्याण व शान्ति की कामना करता है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।।

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।

वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाश्शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिश्शान्तिरेव शान्तिः।

सा मा शान्तिरेधि।। ॐ शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः।

अस्तु, हम विज्ञान पर चर्चा कर रहे थे। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाये तो राजनीति, व्यापार तथा विज्ञान क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य तथा पुरोहित वर्ण के ही द्योतक हैं। किन्तु क्या प्रारम्भ से ही इस प्रकार का कोई वर्णविभाजन किया गया था अथवा कालान्तर में ऐसा हो गया ? इस प्रश्न का उत्तर मानवता के आदिम इतिहास में छिपा हुआ है।

आदिम मानव समाज अधिकांशतः **मातृसत्तात्मक** था और छोटे–छोटे कबीलों में विभक्त था। **पिता** जैसी कोई सत्ता नहीं थी क्योंकि **पति** की संकल्पना का उदय नहीं हुआ था। प्रायः मनमाने यौन सम्बन्ध बनते थे। निश्चित ही कुछ कबीले **पितृसत्तात्मक** होने लगे थे। उनमें इस प्रवृत्ति का उदय निम्नोक्त कारणों से हुआ होगा –

(1) बलवान् पुरुषों ने इस बात को सहन नहीं किया होगा कि इतर पुरुष उनकी भोग्या स्त्री अथवा स्त्रियों से यौन सम्बन्ध स्थापित करें। ऐसा होने पर वे बलवान् पुरुष इतर पुरुषों को दण्डित करते होंगे। आज भी बहुत–सी पक्षी–प्रजातियों तथा बन्दर आदि पशु–प्रजातियों में इस प्रवृत्ति को देखा जा सकता है।

(2) गर्भवती होने की दशा में स्त्री के लिए नेतृत्व करना कठिन हो जाता है। अतः शनैः शनैः स्त्री के पास नाममात्र सत्ता रह गयी और वास्तविक सत्ता पुरुषों ने अधिगृहीत कर ली।

(3) कबीलों को प्रायः यहाँ से वहाँ प्रव्रजन करना पड़ता था और इस प्रव्रजन में दूसरे कबीलों से झड़पें भी हो जाती होंगी। इन झड़पों में पुरुष ही स्वाभाविक नायक हो जाते थे।

इन कबीलों में स्वाभाविकरूपेण **राजा** का उदय हुआ जो कबीले का सर्वसम्मत नायक होता था। उसके कार्यों में सहयोगी बलवान् युवक **क्षत्रिय** कहलाए जो कबीले की आन्तरिक शान्ति और व्यवस्था को बनाए रखने हेतु सशस्त्र होकर पहरा दिया करते थे। कबीले के शेष लोग पशुपालन, कृषि तथा व्यापार आदि करते थे। इन कर्मों को **यज्ञ** कहा गया तथा यज्ञ करने वाले **यजमान** अथवा **वैश्य** कहलाए। राजा इन यजमानों से **राजबलि** अर्थात् "पशुपालन, कृषि तथा व्यापारादि का एक निश्चित

भाग" ग्रहण करता था। कृषि की उपज का प्रायः छठा भाग राजा द्वारा राजबलि के रूप में वसूला जाता था। इन कबीलों में कोई–कोई अतिविचारवान् पुरुष होते थे जो जीवन, प्रकृति, समाज, व्यवस्था आदि पर चिन्तन करते रहते थे और एक निश्चित स्थान पर अग्नि को सतत जलाए रखते थे। प्राचीनकाल में सम्पूर्ण पृथ्वी पर सभी कबीलों में **सूर्य** तथा **अग्नि** को अतिपवित्र माना गया क्योंकि सूर्य से दिन में तथा अग्नि से रात्रि में प्रकाश प्राप्त होता था। इसके अतिरिक्त अग्नि से पकाया गया आहार सुस्वादु तथा सुपाच्य होता था। अतः यह आवश्यक था कि कुछ लोग एक निश्चित स्थान पर अग्नि को सतत प्रज्वलित रखें और उसे बुझने न दें। यही लोग **पुरोहित** कहलाए। राजा कभी–कभी इन लोगों के पास परामर्श लेने जाता था। इस प्रकार प्रायः सभी कबीलों में यजमान, क्षत्रिय तथा पुरोहित होते थे किन्तु ऐसा होना वंशानुगत नहीं था। केवल राजा का पद ही वंशानुगत होता था। कभी–कभी कोई बलवान् पुरुष राजा को पदच्युत कर स्वयं राजा हो जाता था। इस प्रवृत्ति को रोकने हेतु राजा को अलौकिक शक्ति से सम्पन्न घोषित किया गया। इतना ही नहीं, उसका पूजन इत्यादि भी किया जाने लगा जो उसके मरणोपरान्त भी जारी रखा गया ताकि उसके कबीले के लोग उसके नाम पर संगठित रह सकें। इस भाँति राजा का अलौकिकीकरण प्रायः सम्पूर्ण पृथ्वी पर किया गया। इस प्रकार किसी कबीले का **पूर्वज राजा** ही प्रायः उस कबीले का पूज्य होता था। इस पूज्य की एक प्रतिमा भी बनायी जाती थी जो पूरे कबीले के लिए श्रद्धास्पद होती थी। इस श्रद्धा की पुष्टि हेतु कुछ लोग अपने पूज्य का स्तुतिगान भी करते थे। ये स्तुतिगान करने वाले ही **ऋषि** कहलाए। अधिकांश ऋषि पुरोहित ही थे।

दो कबीलों में युद्ध होने पर विजयी राजा पराजित कबीले के राजा को मारकर उसके स्थान पर किसी अन्य को अपना अधीन राजा नियुक्त कर देता था तथा पराजित कबीले के पूज्य की प्रतिमा का भंजन कर स्वपूज्य की प्रतिमा को स्थापित कर देता था। पराजित सेना को विजयी राजा अपनी सेना में मिला लेता था। पश्चिमी एशिया में **हब्शियों** (काले लोगों) से बलात् सेवा ग्रहण की जाती थी। ये सेवक **दास** कहलाते थे तथा इनका क्रय–विक्रय भी होता था।

जो राजा कई कबीलों को जीत लेता था वह समस्त विजित कबीलों का **अधिराज** अथवा **महाराज** कहलाता था तथा अधीन राजाओं से **अधिबलि** वसूलता था। अधिबलि से होने वाली हानि से बचने हेतु कुछ राजा अपने कबीले के यजमानों से छठे भाग से भी अधिक राजबलि वसूलते थे।

प्राचीनकाल में अधिकांश कबीलों द्वारा अपने पूर्वज राजा का किसी न किसी प्राकृतिक शक्ति के साथ समीकरण कर दिया गया। इन प्राकृतिक शक्तियों में सूर्य, चन्द्र, ताराविशेष, मेघों की विद्युत, झंझावात इत्यादि प्रमुख हैं। कुछ कबीलों में नदियों के साथ पूर्वज रानियों का तथा पर्वतों व समुद्रों के

साथ पूर्वज राजाओं का समीकरण किया गया क्योंकि "नदी, पर्वत व समुद्र" कबीलों के लिए प्राकृतिक सीमा का कार्य करते थे। पुरोहितों ने अपने पूर्वजों का समीकरण प्रायः अग्नि के साथ किया क्योंकि अग्नि को सतत प्रज्वलित बनाये रखना ही उनका प्रमुख कार्य था। प्राकृतिक शक्तियों के कारण आने वाली आपदाओं को पूर्वज राजाओं का कोप माना गया। इस कोप को शान्त करने हेतु उनकी प्रतिमाओं के सम्मुख भोज्य पदार्थों को समर्पित किया गया तथा उनके नाम से अग्नि में आहुति दी गयी।

कालान्तर में राजा तथा अधिराज की संकल्पनाओं के आधार पर "सम्पूर्ण सृष्टि के शासक" की संकल्पना का उदय हुआ जिसे सामान्यतः **ईश** अथवा **ईश्वर** (God) कहा जाता है। प्राचीनकाल में ईश अथवा ईश्वर का तात्पर्य **राजा** ही था। अतिप्राचीन ग्रन्थों में ईश्वर से वार्तालाप तथा निर्देशप्राप्ति के जो उल्लेख हैं वे वस्तुतः किसी वैभवशाली राजा अथवा अधिराज से वार्तालाप तथा निर्देशप्राप्ति के उल्लेख ही हैं। मनु द्वारा ईश्वर के अर्थ में प्रयुक्त "वह", "भगवान्", "प्रभु", "स्वयम्भू", "महाद्युति" आदि शब्द वस्तुतः उनके पूर्वज राजा **सूर्य** के ही द्योतक हैं।

भारतीय कबीलों में **रुद्र** नामक कबीला अतिप्रभावशाली सिद्ध हुआ। इसमें रुद्र नामक अतिप्रतापी ग्यारह राजा हुए जो **एकादश रुद्र** कहलाए। रुद्रों ने ही लोकतन्त्र, ध्यानविद्या, आसनविद्या, कराटेविद्या, धनुर्विद्या एवं अन्य अनेकों विद्याओं का सूत्रपात किया। इन्होंने अतिप्राचीनकाल में उत्तरभारत में राजनैतिक एकता का सूत्रपात किया। इनका राज्य वर्तमान उत्तराखण्ड से लेकर तिब्बत की मानसरोवर झील के इलाके तक विस्तृत था। मानसरोवर झील के निकट ही सिन्धु, सतलज व ब्रह्मपुत्र (उपसिन्धु) नदियों के उद्गम हैं। इन्होंने उत्तर की ओर बढ़कर सम्पूर्ण तिब्बत पर तथा पूर्व की ओर बढ़कर क्रमशः नेपाल, सिक्किम, भूटान, अरुणाचल प्रदेश, नागालैण्ड, मणिपुर, मिजोरम तथा त्रिपुरा तक के सम्पूर्ण पर्वतीय क्षेत्र के कबीलों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। त्रिपुरा को जीतने के पश्चात् रुद्र **त्रिपुरारि** कहलाए। रुद्रों ने अपने द्वारा विजित सम्पूर्ण पर्वतीय क्षेत्र को पन्द्रह गणों में विभक्त किया जिनके प्रधान **गणपति** या **गणेश** कहलाए। अधिकांश पितृसत्तात्मक कबीलों ने रुद्र के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। पितृसत्तात्मक कबीले **शैव** कहलाते थे तथा पाषाणनिर्मित **लिंग** (पुरुष–जननांग) का पूजन करते थे। केवल मातृसत्तात्मक कबीलों ने रुद्र के आधिपत्य को स्वीकार नहीं किया। ये कबीले **शाक्त** कहलाते थे तथा पाषाणनिर्मित **भग** (स्त्री–जननांग) का पूजन करते थे। निर्णायक संघर्ष के पश्चात् रुद्र की विजय हुई तथा शाक्तों को उनकी अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। इसके पश्चात रुद्र ने शाक्तों को मातृक वंश–परम्परा के स्थान पर पैतृक वंश–परम्परा चलाने हेतु प्रेरित किया। रुद्रों ने दमन के स्थान पर समन्वय का आश्रय लिया और शाक्तों में प्रचलित **रानी के लिए बलिदान** को चलने

दिया। केवल इतना प्रतिबन्ध रखा गया कि **रुद्र के लिए अधिबलिदान** अवश्य किया जाय। यहीं से **सनातन** अथवा **हिन्दू** जीवन–शैली का आरम्भ होता है। इस प्रकार भारतीयों के लिए वस्तुतः रुद्र ही **राष्ट्रजनक** (Father of Nation) हैं। **हिन्दू जीवन–दर्शन** सिन्धु घाटी के उत्खनन में प्राप्त उन मुद्राओं से स्पष्टतया द्योतित होता है जिनमें एक पुरुष ध्यानमुद्रा में बैठा है, उसके पार्श्व में त्रिशूल है तथा निकट ही पशु खड़े हैं। पुरुष प्रतीक है – पैतृक वंश–परम्परा का। त्रिशूल प्रतीक है – स्वरक्षा तथा शत्रुहनन की सामर्थ्य का। पशु प्रतीक हैं – समृद्धि के। ध्यानमुद्रा प्रतीक है – स्वास्थ्य, शान्ति, प्रसन्नता, मानवता तथा ज्ञान की। दूसरे शब्दों में, पुरुष सामाजिक गठन को, त्रिशूल राजनीति को, पशु व्यापार को तथा ध्यानमुद्रा विज्ञान को प्रकट करते हैं।

जिस समय उत्तरभारत में रुद्र कबीले का प्रभाव बढ़ रहा था उसी समय पश्चिमी एशिया तथा यूरोप के कबीलों में घोर संघर्ष चल रहा था। सूर्य, चन्द्र, नाग, असुर, देव, यम, दैत्य, फेनप, दानव, विष्णु, गो, गरुड आदि प्रमुख कबीले थे। इनका शासनक्षेत्र **लोक** कहलाता था। वर्तमान जॉर्जिया, अजरबैजान तथा आर्मीनिया का क्षेत्र **सूर्यलोक** था जिसका राजा **सूर्य** कहलाता था। सूर्यलोक वर्तमान काला सागर (Black Sea), **ककुद्** (काकेशस) पर्वत तथा **कश्यप** (कैस्पियन) झील तक विस्तृत था। ककुद् पर्वत के निवासी होने के कारण ही सूर्यलोकवासी **ककुत्स्थ** कहलाते थे। सूर्य का एक पर्यायवाची **अर्यमा** है जिसका आर्मीनिया से स्पष्ट साम्य है। सूर्यलोक के दक्षिण में **असुरलोक** था जिसमें वर्तमान पूर्वी तुर्की व पश्चिमी ईरान का क्षेत्र अन्तर्निहित था। यहाँ का राजा **वरुण** कहलाता था। असुरलोक के दक्षिण में नागलोक था। वर्तमान कुर्दिस्तान, जिसके उत्तरी भाग पर तुर्की का तथा दक्षिणी भाग पर ईराक का अधिकार है, **नागलोक** था। नागों की माता **कद्रू** कही गयी है जिसका कुर्दिस्तान से स्पष्ट साम्य है। **नाग** शब्द **नग** से व्युत्पन्न है जिसका तात्पर्य है – पर्वत। पर्वतीय प्रदेश होने के कारण ही कुर्दिस्तान **नागलोक** कहलाया। नागलोक के दक्षिण में देवलोक था। यूफ्रेट्स व टिग्रिस नदियों द्वारा सिंचित **मेसोपोटामिया** प्रदेश का "मैदानी भाग" अर्थात् वर्तमान उत्तरी सीरिया व ईराक का क्षेत्र **देवलोक** था जो उत्तर में **सुमेरु** पर्वत तक विस्तृत था। देवलोक का राजा **इन्द्र** कहलाता था। अतिउर्वर क्षेत्र होने के कारण देवलोक को **स्वर्ग** भी कहा जाता था जिसका तात्पर्य है – अतिसुखद। देवलोक के दक्षिण में चन्द्रलोक व यमलोक थे तथा वर्तमान जॉर्डन नदी उनके मध्य सीमारेखा का कार्य करती थी। वर्तमान लेबनान तथा इजराइल का क्षेत्र **चन्द्रलोक** था जिसका राजा **चन्द्र** कहलाता था। चन्द्रलोक के पूर्व में यमलोक था जिसमें वर्तमान दक्षिणी सीरिया व जॉर्डन का क्षेत्र अन्तर्निहित था। यहाँ का राजा **यम** कहलाता था जिसका जॉर्डन की राजधानी **अम्मान** से स्पष्ट साम्य है। जॉर्डन की **मृत झील** (Dead

Lake) भी **मारक** यम का स्मरण कराती है। पौराणिक साहित्य में यम की प्रसिद्धि **धर्मराज** के रूप में है क्योंकि उन्होंने अपनी जुड़वा बहिन **यमी** के प्रणयनिवेदन को अस्वीकार कर दिया था। अतः आज भी यम की स्मृति में **यम द्वितीया** उत्सव मनाया जाता है जो "**सहोदर** (अर्थात् एक ही माता से उत्पन्न) भ्राता–भगिनी के मध्य मैथुननिषेध" का प्रतिपादक है। मरुस्थल होने के कारण यमलोक को **नरक** भी कहा जाता था जिसका तात्पर्य है – अतिदुःखद। यमलोक के दक्षिणपश्चिम में स्थित वर्तमान ईजिप्ट (मिश्र) **दैत्यलोक** था। यहाँ पर **स्फिंक्स** (Sphinx) नामक एक अतिविशालकाय प्रतिमा है जिसका सिर पुरुष का तथा धड़ सिंह का है। यह उसी **नृसिंह** की प्रतीकात्मक प्रतिमा है जिसने दैत्यराज **हिरण्यकशिपु** का वध किया था। काकेशस पर्वत के उत्तर में तथा यूराल नदी व यूराल पर्वत के पश्चिम में स्थित रसिया का विशाल मैदान **रसातल** या **रसलोक** था जिसका रसिया से स्पष्ट साम्य है। यहाँ **फेनप** कबीले का शासन था। फेनपों की ज्ञान–विज्ञान में विशेष रुचि थी। इसी कारण इनमें बहुत–से ऋषि–महर्षि हुए। रसातल के अतिविस्तृत होने के कारण सभी कबीलों के लोग वहाँ बसने लगे। कालान्तर में रसातल पर **दानव** कबीले ने एकाधिकार कर लिया। दानवों की माता **दनु** कही गयी है जिसका रसिया में बहने वाली **ड्वीना** नदी से स्पष्ट साम्य है। इसी ड्वीना नदी के तट पर **रीगा** नामक स्थान है जहाँ प्रथम बार **ऋग्वेद** का संकलन किया गया। **ऋक्** का **रीगा** से स्पष्ट साम्य है। बाद में विष्णु ने दानवों पर आक्रमण किया और वे लौटते समय ऋग्वेद के ज्ञाता फेनपों को भी विष्णुलोक ले आये। हयग्रीवरूपधारी विष्णु द्वारा मधु–कैटभ के अधीन हुए वेदों के उद्धार का रूपक इसी तथ्य को प्रकट करता है। फेनपों को विष्णुलोक का जो भूभाग प्राप्त हुआ, वह अब **फिनलैण्ड** कहलाता है। फेनप का फिनलैण्ड से स्पष्ट साम्य है। रसातल के पश्चिमोत्तर में स्थित स्कैण्डीनेविया प्रायद्वीप **विष्णुलोक** था जिसमें वर्तमान नॉर्वे, स्वीडन तथा फिनलैण्ड अन्तर्निहित हैं। विष्णुलोक पूर्व में श्वेत सागर (White Sea), ओनेगा व लैडोगा झीलों तथा फिनलैण्ड की खाड़ी तक विस्तृत था। यहाँ का राजा **विष्णु** कहलाता था। विष्णु का निवासस्थान **नारा** कहा गया है जिसका नॉर्वे से स्पष्ट साम्य है। **नारा** में रहने के कारण ही विष्णु **नारायण** कहलाए। श्वेत सागर ही पुराणोक्त **क्षीरसागर** है जो विष्णु का रमणस्थल था। स्कैण्डीनेविया के दक्षिणपश्चिम में स्थित वर्तमान डेन्मार्क व जर्मनी **गोलोक** था। गोलोक का पर्यायवाची **धेनुमार्ग** है जिसका डेन्मार्क से स्पष्ट साम्य है। आज भी गोदुग्ध–उत्पादन यहाँ का प्रमुख व्यवसाय है। विष्णु ने गोलोक के श्रेष्ठ विद्वानों को विष्णुलोक में बसाया। इन गोलोकवासियों को विष्णुलोक का जो भूभाग प्राप्त हुआ, वह अब **स्वीडन** कहलाता है। स्वीडन की भूमि ही वह **सुधेनु** अथवा **कामधेनु** थी जिससे विष्णु को मनोवांछित अस्त्र–शस्त्र प्राप्त हुए। आज भी अस्त्र–शस्त्रों का उत्पादन यहाँ का प्रमुख

व्यवसाय है। गोलोक के दक्षिण में सुदीर्घ **गरुडलोक** था जो **धेनुवती** (डेन्यूब) नदी के सम्पूर्ण प्रवाहक्षेत्र में विस्तृत था। सुन्दर नासिका व मुख वाले होने के कारण यहाँ के निवासी **गरुड** कहलाते थे। गरुडों की माता **विनता** कही गयी है जिसका वर्तमान ऑस्ट्रिया की राजधानी **वियना** से स्पष्ट साम्य है। एक बार दानवों ने पश्चिम की ओर बढ़कर गरुडलोक पर अधिकार कर लिया। तब विष्णु ने गरुडलोक को दानवों के आधिपत्य से मुक्त कराया और इसके बदले में उन्होंने गरुडलोक से घोर बलि वसूल की। गरुडलोक से वसूली गयी बलि के द्वारा ही विष्णुलोक का व्यय पूरा होता था। इसी कारण विष्णु को **गरुडासीन** कहा गया है।

पश्चिमी एशिया का असुर कबीला अतिविस्तारवादी था। सूर्य, दैत्य, दानव, यम आदि कबीलों से उसकी मैत्री थी। असुरों की दृष्टि देवलोक की सम्पत्ति पर टिकी हुई थी। इस कारण असुरों ने कई बार देवलोक पर चढ़ाई की। देव कबीले की भी चन्द्र, गरुड, विष्णु आदि कबीलों से मैत्री थी। इस प्रकार प्रायः सभी कबीले देवों तथा असुरों के पक्ष या विपक्ष में थे। केवल नाग कबीला ऐसा था जिसकी देव तथा असुर दोनों ही कबीलों से मैत्री थी।

इसी संघर्षपूर्ण वातावरण में एक महान् ऐतिहासिक दुर्घटना घटी जिसे पौराणिक साहित्य में **जलप्लावन** के नाम से जाना जाता है। इस जलप्लावन के कारण सम्पूर्ण पश्चिमी एशिया जलनिमग्न हो गया। सम्भवतः ध्रुवीय क्षेत्रों की बर्फ के पिघलने से ऐसा हुआ होगा। सूर्यलोक के **मनु** नामक एक अतिविद्वान् व्यक्ति **काला सागर** में होने वाली जलवृद्धि से सशंकित हो गये और उन्होंने भावी दुर्घटना से बचने की तैयारी शुरू कर दी। मनु पश्चिमी एशिया में **नूह** तथा यूरोप में **नोवा** (Nova) के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन्होंने **अरारात** पर्वतशिखर के निकट सूर्यलोक के कुशल शिल्पियों द्वारा एक अतिविशाल बहुमंजिला नगर बनवाना आरम्भ कर दिया। उस नगर में उन्होंने सभी कबीलों के प्रमुख विद्वानों, कलाकारों, शिल्पियों आदि को आमन्त्रित करना शुरू किया। उन्होंने सभी कबीलों के स्वस्थ व सुन्दर पुरुष–स्त्री जोड़ों को भी अपने नगर में स्थान दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने सभी कबीलों की उपयोगी वस्तुओं, खाद्यान्नों, पशु–पक्षियों, पेड़–पौधों आदि को अपने नगर में संग्रहीत करना शुरू कर दिया। बहुत–से लोग उनके इस कार्य का उपहास कर रहे थे। किन्तु एक दिन प्रातःकाल आँख खुलने पर लोगों ने देखा कि सर्वत्र भीषण जलवृद्धि हो रही है। तब लोगों ने पर्वतीय क्षेत्रों की ओर भागना प्रारम्भ किया। बहुत–से लोग डूब गये। जो लोग पर्वतीय क्षेत्रों में आश्रय पा गये थे उनमें से अधिकांश अन्नाभाव के कारण मृत्यु को प्राप्त हो गये। जलप्लावन की इस महान् दुर्घटना में प्रायः वे ही लोग जीवित बचे जिन्हें मनु द्वारा अत्युच्च पर्वतीय क्षेत्र में बनवाए गए उक्त नगर में आश्रय मिल गया था।

जलप्लावन से बचे लोगों ने मनु को अपना राजा मान लिया तथा उन्हें **प्रजापति** कहकर पुकारा। उन्होंने मनु द्वारा बनवाए गए नगर को **मनु की नौका** तथा उस नगर की रचना करने वाले प्रधान शिल्पी को **महामत्स्य** की संज्ञा प्रदान की। उन्होंने अरारात पर्वतशिखर को भी अतिश्रद्धास्पद माना। अरारात का संस्कृत के **अरित्र** शब्द से स्पष्ट साम्य है जिसका तात्पर्य है – लंगर। निस्सन्देह नगररूपी उनकी नौका के लिए अरारात पर्वतशिखर किसी लंगर की भाँति ही था। इस नगर में रहते हुए सभी कबीलों के लोग अपना पुराना वैमनस्य भूल चुके थे।

जल घटने पर लोगों ने **मनु की नौका** से निकलकर निचले क्षेत्रों की ओर बढ़ना आरम्भ किया। मनु के देहान्त के पश्चात् देवों तथा असुरों में पुराने वैमनस्य का पुनर्जागरण होने लगा। कालान्तर में इस वैमनस्य ने एक महाविनाशकारी युद्ध का रूप ले लिया जिसे पौराणिक साहित्य में **देवासुर संग्राम** कहा गया है। इस भीषण युद्ध में बहुत बड़ी संख्या में देव तथा असुर दोनों ही मारे गये। दोनों ही पक्षों की जनता त्राहि–त्राहि कह उठी। अन्ततः दोनों पक्षों के मित्र नागराज **वासुकि** ने प्रस्ताव रखा कि **यूफ्रेट्स** तथा **टिग्रिस** नदियों द्वारा सिंचित भूभाग देवों तथा असुरों की आवश्यकताओं तथा महत्त्वाकांक्षाओं की दृष्टि से पर्याप्त नहीं है, अतः **समुद्र–मन्थन** किया जाय। समुद्र–मन्थन का तात्पर्य था – पूर्वदिशा में विद्यमान **जन–समुद्र** को अपने अधीन कर उससे बलि वसूलना। देवासुर संग्राम से त्रस्त देवों तथा असुरों ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। अब देवों, असुरों तथा नागों ने सम्मिलितरूपेण समुद्र–मन्थन आरम्भ कर दिया। बाद में अन्य कबीले भी इस कार्य में सम्मिलित होने लगे। इस कार्य को **मन्दराचल** पर्वत के दक्षिणी ओर ही सीमित रखा गया।

एशिया में दो स्थानों को **पर्वतों की गाँठ** कहा जाता है – आर्मीनिया तथा पामीर। आर्मीनिया तथा पामीर में कई पर्वतशृंखलाओं का मिलन होता है। आर्मीनिया तथा पामीर को मिलाने वाली दो पर्वतशृंखलाएं हैं जिनमें से दक्षिणी पर्वतशृंखला **सुमेरु** तथा उत्तरी पर्वतशृंखला **मन्दराचल** कहलाती है। सुमेरु पर्वतशृंखला आर्मीनिया से दक्षिणपूर्व की ओर बढ़कर ईरान में क्रमशः **जैग्रोस** तथा **मकरान** पर्वतशृंखलाओं से मिलती है। मकरान पर्वतशृंखला पाकिस्तान में उत्तर की ओर बढ़कर क्रमशः **किरथर** तथा **सुलेमान** पर्वतशृंखलाओं से मिलती है और सुलेमान पर्वतशृंखला अन्ततः पामीर से मिल जाती है। मन्दराचल पर्वतशृंखला आर्मीनिया से पूर्व की ओर बढ़कर ईरान में **एल्बुर्ज** पर्वतशृंखला से मिलती है जो अफगानिस्तान में **हिन्दुकुश** पर्वतशृंखला से मिलती है और हिन्दुकुश पर्वतशृंखला पूर्व की ओर बढ़कर पामीर से मिल जाती है।

समुद्र–मन्थन से मिलने वाले नवीन भूभागों का बँटवारा सर्वसम्मति से होता रहा। अन्ततः देव

तथा असुर अफगानिस्तान की **नमकसर** नामक झील तक आ गये। इस झील का खारा जल उन्हें **विषतुल्य** प्रतीत हुआ, अतः वे इसे छोड़कर दक्षिणपूर्व की ओर बढ़े और **हेलमन्द** नामक झील तक आ पहुँचे। इस झील का मीठा जल उन्हें **अमृततुल्य** प्रतीत हुआ। अतः उन्होंने इस झील का नाम **अमृतसर** रख दिया। देव तथा असुर दोनों ही इस झील पर एकाधिकार करना चाहते थे, अतः दोनों में विवाद होने लगा। अन्ततः विष्णु ने एक समझौता प्रस्तुत किया कि हेलमन्द झील के निकट ही **गोद जिरह** नामक एक अन्य झील है तथा उस झील का पानी भी **अमृततुल्य** ही है, अतः देवों तथा असुरों को क्रमशः हेलमन्द तथा गोद जिरह झीलें प्राप्त होंगी तथा पूर्व से आकर हेलमन्द झील में मिलने वाली **हेलमन्द** नामक नदी देवों तथा असुरों के मध्य सीमारेखा का कार्य करेगी। देवों तथा असुरों ने इसे स्वीकार कर लिया। फलतः हेलमन्द एवं उसकी सहायक पश्चिमगामिनी नदियों के दक्षिण में विद्यमान **बलोचिस्तान** में ही असुर अपना विस्तार करते रहे। कालान्तर में असुरों ने किरथर पर्वतशृंखला व **सिन्धु** नदी पार की तथा वर्तमान पाकिस्तान के **सिन्ध** प्रान्त में बस गये। यहीं से वे राजस्थान तथा गुजरात की ओर बढ़े। अस्तु, ईरान में भी असुरों का प्रभाव बढ़ता रहा।

अमृता (हेलमन्द) नदी की सहायक नदियों से सिंचित भूभाग **गन्धर्वलोक** था जो उत्तर में **कुभा** (काबुल) नदी तक तथा पूर्व में सुलेमान पर्वतशृंखला तक विस्तृत था। नृत्यगीतवादन ही गन्धर्वों का व्यवसाय था। गन्धर्वलोक में पति–पत्नी का सम्बन्ध ऐच्छिक तथा अस्थायी माना जाता था जो स्त्री के गर्भवती होते ही स्वयमेव समाप्त हो जाता था। इसके पश्चात् पुरुष अन्य स्त्री से सम्बन्ध स्थापित कर सकता था किन्तु उसे गर्भवती हो चुकी पूर्वस्त्री को व्यय देना पड़ता था। विभिन्न देशों के धनाढ्य लोग यहाँ आकर रमण किया करते थे।

हेलमन्द नदी के उत्तरी तट के साथ पूर्व की ओर बढ़ते हुए देव गन्धर्वलोक तक आ पहुँचे। यहाँ आकर देव अतिप्रसन्न हुए और उन्होंने गन्धर्वों के साथ मैत्री कर ली। देवों ने **कपिशा** (हिन्दुकुश पर्वतशृंखला, काबुल नदी तथा सुलेमान पर्वतशृंखला के मध्य स्थित पर्वतीय प्रदेश) के निवासी **कम्बोजों** (कबाइलियों) के साथ भी मैत्री कर ली। कम्बोजों व गन्धर्वों की सहायता से देवों ने सुलेमान पर्वतशृंखला का **खैबर** दर्रा पार किया और **सप्तसैन्धव** प्रदेश में प्रविष्ट हो गये। **सिन्धु** नदी इस प्रदेश की प्रमुखतम नदी थी जिसकी पश्चिमी सहायक नदियों में काबुल, कुर्रम, गोमल आदि प्रमुख थीं तथा पूर्वी सहायक नदियों में झेलम, चिनाव, रावी, व्यास, सतलज, सरस्वती, दृषद्वती आदि प्रमुख थीं। इन नदियों से सिंचित इस प्रदेश का मैदानी भाग अतिउर्वर था। इसी प्रदेश के पर्वतीय भाग में देवों को **कश्मीर** की मनोरम घाटी प्राप्त हुई जो **पीरपंजाल** तथा **हिमालय** पर्वतशृंखलाओं के मध्य स्थित है। कश्मीर के सौन्दर्य से

देव इतने अभिभूत हो गये कि वे अपनी मूलभूमि को भूल गये। उन्होंने कश्मीर को भी **स्वर्ग** नाम दिया।

देवों ने कम्बोजों व गन्धर्वों को अपने पूर्ण नियन्त्रण में रखा तथा बलोचिस्तान के शासक **बलासुर** के विरुद्ध घोर षड्यन्त्र किये। उन्होंने कश्मीर घाटी को **भारतीय देवलोक** तथा **श्रीनगर** को अपनी **भारतीय राजधानी** बनाया। इस प्रकार कश्मीर घाटी **दैव** संस्कृति का केन्द्र बन गयी। देवों ने हिमालय को पार करने का साहस कदापि नहीं किया क्योंकि हिमालय के उत्तरवर्ती लद्दाख, कराकोरम, अक्साइ चिन आदि क्षेत्रों पर रुद्र का शासन था। देवों ने इन क्षेत्रों के निवासियों को भी **नाग** संज्ञा प्रदान की। विष्णु के परामर्श से देवों ने हिमाचल प्रदेश के राजा **दक्ष** को **प्रजापति** की उपाधि प्रदान की तथा उसे सप्तसैन्धव प्रदेश के सम्पूर्ण मैदानी भाग का शासक एवं अपना प्रतिनिधि घोषित किया। दक्ष रुद्र को अधिबलि देता था तथा इसकी पुत्री ने रुद्र का वरण किया था। देवों ने दक्ष को **प्राजापत्य** संस्कृति के प्रसार का कार्य सौंपा। प्राजापत्य संस्कृति का उद्देश्य था – **यज्ञ** (कृषि) तथा **संस्कृतभाषा** का प्रसार और यह कार्य देवों के निरीक्षण में चल रहा था। देवों के आगमन के पूर्व सप्तसैन्धव प्रदेश का मैदानी भाग सघन वन्य प्रदेश था। केवल व्यास व सतलज नदियों के मध्यवर्ती भूभाग (बिस्त दोआब) में ही दक्ष के यजमान (वैश्य) कृषि करते थे। देवों ने दक्ष के साथ मिलकर योजना बनाई कि सप्तसैन्धव प्रदेश के शेष मैदानी भाग में नदियों के निकटवर्ती वनों को काटकर वहाँ कृषि की जाये ताकि बलि में वृद्धि हो सके। देवों ने अधिबलि के रूप में इस वर्द्धित बलि के एक निश्चित भाग की माँग की। दक्ष ने इसे स्वीकार कर लिया तथा अपने यजमानों को इस योजना में लगा दिया। दक्ष के प्रजाजन (विशेषतः यजमान) **अर्य** कहलाते थे तथा उनकी भाषा **आर्यभाषा** कहलाती थी। देवों ने दक्ष को परामर्श दिया कि आर्यभाषा को परिष्कृत करने हेतु इसमें **देवभाषा** का समावेश कर दिया जाय और उस परिष्कृत भाषा को प्राजापत्य क्षेत्र की राजभाषा बनाया जाय। इसके पश्चात् आर्यभाषा में देवभाषा का समावेश कर उसे एक अभिनव रूप प्रदान किया गया तथा इस अभिनव भाषा को **संस्कृतभाषा** कहा गया। वस्तुतः संस्कृतभाषा भारतीय भाषा ही है किन्तु देवभाषा के समाविष्ट हो जाने के कारण इसमें ऐसे शब्द भी पाये जाते हैं जिनका यूरोपीय भाषाओं के शब्दों से अतिसाम्य है। इसी प्रकार **आर्य** भी भारतीय ही थे। ये किसी बाह्य देश से नहीं आये थे अपितु सप्तसैन्धव प्रदेश के ही निवासी थे। अर्यों (सप्तसैन्धव प्रदेश के निवासियों) के वंशज होने के कारण ही ये आर्य कहलाये। आर्यों ने देवों की अधीनता स्वीकार की थी, इसी कारण देवों ने उन्हें "अन्य भारतीयों से **श्रेष्ठ**" कहा। कालान्तर में आर्य शब्द श्रेष्ठ का पर्यायवाची हो गया।

प्राजापत्य संस्कृति अथवा आर्य संस्कृति का तात्पर्य है – राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि मानना, वर्णों को वंशानुगत मानना तथा जातिविशेष को वर्णविशेष प्रदान करना। अतिप्राचीनकाल में भारत में

जातियाँ **गण** कहलाती थीं। सभी गणों में प्रथम तीनों वर्ण (पुरोहित, क्षत्रिय व यजमान) होते थे जो स्वेच्छया परिवर्तनीय थे। केवल विकलांग जन ही **शूद्र** कहलाते थे किन्तु **शूद्र वर्ण** जैसी कोई वस्तु नहीं थी। अधिकांश गणों में मतदान द्वारा **गणपति** का निर्वाचन होता था। किन्तु देवों ने प्राजापत्य विचार का सूत्रपात किया जिसके अनुसार राजपद व तीनों वर्ण वंशानुगत हो गये। देवों ने "काले रंग व छोटे कद" वाले लोगों को बलात् सेवा में नियुक्त किया और उन्हें **दास** की संज्ञा प्रदान की। देवों ने दासेतर जातियों को **द्विज** की संज्ञा प्रदान की। द्विज शब्द उन जातियों का द्योतक है जिनके साथ देवों ने वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये थे। इस प्रकार देवों की दृष्टि में दो ही वर्ण थे – द्विज व दास। आज भी **रंग** के अर्थ में **वर्ण** शब्द का प्रयोग होता है।

यो दासं वर्णमधरं गुहाकः। ऋग्वेद (2–12–4)

उभौ वर्णावृषिरुग्रः पुपोष। ऋग्वेद (1–17–96)

कालान्तर में द्विजों के तीन स्पष्ट विभाग हो गये तथा दासों व शूद्रों का समीकरण कर चतुर्थ वर्ण का सूत्रपात किया गया। इस प्रकार प्रत्येक जाति को किसी एक वर्ण में अथवा दो वर्णों के अन्तराल (मध्य) में ही स्थान मिल सकता था। देवों ने स्वयं को मुख्यतः पुरोहित व क्षत्रिय वर्णों तक ही सीमित रखा। इसके पीछे देवों का यह उद्देश्य था कि राजा द्वारा यजमानों से वसूली जाने वाली **राजबलि** (छठे कृषिभाग) के अतिरिक्त देवों को भी यजमानों से बलि प्राप्त हो सके। इस बलि को **देवबलि** कहा गया। कृषि की उपज का प्रायः बीसवाँ भाग देवों द्वारा देवबलि के रूप में वसूला जाता था। देवों ने देवबलि को स्वर्ग तक पहुँचाने का कार्य **अग्नियों** अर्थात् अग्निरक्षकों (पुरोहितों) को सौंपा और इसके बदले में उनके लिए **दक्षिणा** का प्रावधान किया। यह दक्षिणा भी यजमानों से ही वसूली जाती थी। कृषि की उपज का प्रायः तीसवाँ भाग पुरोहितों द्वारा दक्षिणा के रूप में वसूला जाता था। दक्ष के सैनिक इस बात का निरीक्षण करते थे कि सभी यजमान भली–भाँति देवबलि व दक्षिणा चुका रहे हैं अथवा नहीं। इस प्रकार यजमान को अपनी कृषि उपज का प्रायः चौथा भाग ($\frac{1}{6}+\frac{1}{20}+\frac{1}{30}=\frac{1}{4}$) दक्ष, देवों तथा पुरोहितों को चुकाना पड़ता था। इस प्रकार दक्ष प्रजापति तथा पुरोहितों की सहायता से सप्तसैन्धव प्रदेश के मैदानी भाग के यजमानों से देवबलि वसूलकर देव स्वर्ग में आनन्दपूर्वक रमण करते थे। बाद में देवों ने एक नवीन विधान निकाला जिसके अनुसार कुछ निश्चित वर्षों तक कुछ निश्चित सामग्रियों द्वारा एक निश्चित मात्रा व संख्या में देवबलि प्रदान करने वाले यजमान को **देवलोक की नागरिकता** प्रदान की जाने लगी। इसी कारण "स्वर्गकामो यजेत्" की उक्ति प्रचलित हुई। जिन जातियों ने देवबलि का विरोध किया उन्हें देवों ने **दस्यु** कहकर दण्डित किया।

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः। म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः।।

मनु. 10–45

देवों के भारत में आगमन के पश्चात् पुरोहितों में गोत्रविभाजन हो गया। ये गोत्र क्रमशः गणगोत्रों, उपगणगोत्रों, पक्षगोत्रों तथा कुलगोत्रों में विभक्त हैं। प्रमुख गोत्रों का विभाजन निम्नवत् माना जाता है –
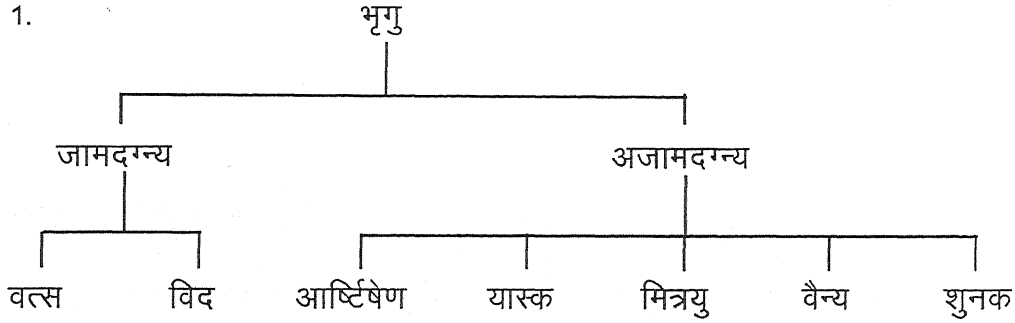
भृगु गण क्रमशः जामदग्न्य तथा अजामदन्य उपगणों में विभक्त है जो क्रमशः दो तथा पाँच पक्षों में विभक्त हैं। प्रत्येक पक्ष से अनेक कुल निकले।
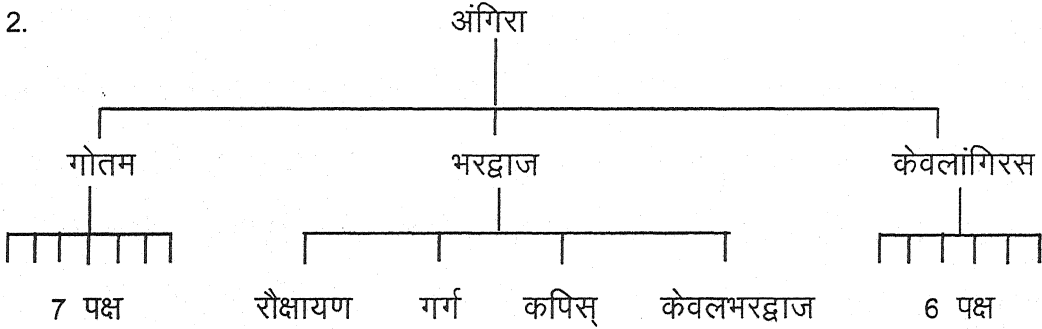
अंगिरा गण गोतम, भरद्वाज, तथा केवलांगिरस उपगणों में विभक्त है जो क्रमशः सात, चार तथा छः पक्षों में विभक्त हैं। प्रत्येक पक्ष से अनेक कुल निकले।
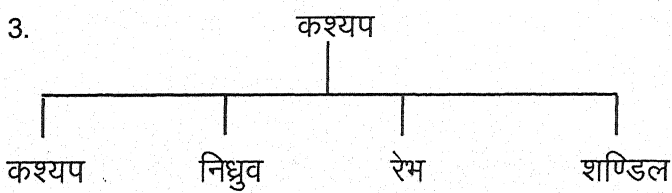
कश्यप गण के चार पक्ष हैं। प्रत्येक पक्ष से अनेक कुल निकले।
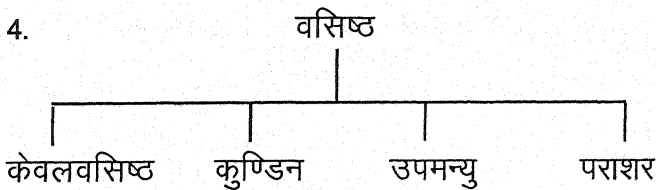
वसिष्ठ गण के भी चार पक्ष हैं। प्रत्येक पक्ष से 105 कुल निकले।

5.
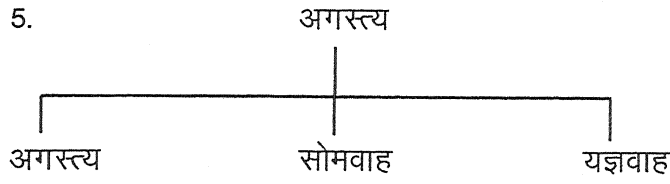
अगस्त्य गण के तीन पक्ष हैं। अगस्त्य पक्ष से 20 तथा शेष दोनों पक्षों से अनेक कुल निकले।

6.
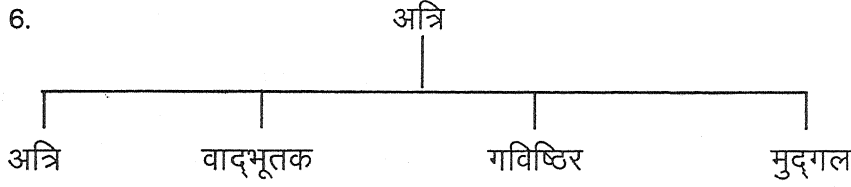
अत्रिगण के चार पक्ष हैं। प्रत्येक पक्ष से अनेक कुल निकले।

7. विश्वामित्र गण दस पक्षों में विभक्त है। प्रत्येक पक्ष से 72 कुल निकले।

क्षत्रियों में भी वंशविभाजन हो गया। सूर्य, चन्द्र, नाग, अग्नि आदि प्रमुख वंश माने गये। प्रत्येक वंश अनेकों लघुवंशों व कुलों में विभक्त माना जाता है।

अब देवों को ऐसे लेखकों की आवश्यकता थी जो चारों वर्णों की वंशानुगतता को ईश्वरीय विधान घोषित करने वाला साहित्य रचें। इस कार्य के लिए अंगिरागोत्रीय (आंगिरस) पुरोहित तैयार हो गये। संस्कृतभाषा के निर्माण का कार्य भी इन्हीं पुरोहितों ने प्रारम्भ किया था। देवों के गुरु **बृहस्पति** भी आंगिरस ही थे। देवों ने सरस्वती तथा दृषद्वती नदियों के मध्य इन पुरोहितों के अनेक विद्यालय खुलवाए जिनमें ज्ञान–विज्ञान के साथ–साथ ऐसा साहित्य भी पढ़ाया जाता था जो चारों वर्णों को वंशानुगत घोषित करता था। इन विद्यालयों के **कुलपति** पद को **ब्रह्मा** नाम दिया गया जो पश्चिमी एशिया के कबीलों का एक मान्य पूर्वज है और स्थानीय भाषाओं में **अब्राहम** अथवा **इब्राहिम** के नाम से प्रसिद्ध है। आज भी ब्रह्मा तथा सरस्वती का अंतरंग सम्बन्ध माना जाता है। सरस्वती तथा दृषद्वती नदियों के मध्यवर्ती भूभाग को **ब्रह्मावर्त** नाम दिया गया। ब्रह्मावर्त के पुरोहित **ब्राह्मण** कहलाये तथा इस क्षेत्र के लोगों के लिए जो जीवनशैली निर्धारित की गयी उसे **ब्राह्म** संस्कृति कहा गया।

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्। तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते।।

तस्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः। वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते।।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।।

मनु. 2–17,18,20

कुलपति ब्रह्मा ने लिखा कि ईश्वर ने सर्वप्रथम **प्रजापिता ब्रह्मा** अथवा **आदि ब्रह्मा** को उत्पन्न किया और उन्हें सृष्टिरचना का कार्य प्रदान किया। प्रजापिता ब्रह्मा ने सभी प्राणियों को पुरुष–स्त्री जोड़ों

के रूप में रचा। उन्होंने मनुष्यों में सर्वप्रथम ब्राह्मणों को उत्पन्न किया। कालान्तर में हिंस्र पशु आदि ब्राह्मणों को पीडित करने लगे, अतः प्रजापिता ब्रह्मा ने **राजा** को उत्पन्न किया और उसे ब्राह्मणों की रक्षा का दायित्व प्रदान किया। उस राजा की सहायता के लिए प्रजापिता ब्रह्मा ने क्षत्रियों को उत्पन्न किया। कालान्तर में वृक्षों के फल आदि ब्राह्मणों व क्षत्रियों के लिए अपर्याप्त हो गये, अतः प्रजापिता ब्रह्मा ने कृषकों व पशुपालकों को उत्पन्न किया। ये लोग ही वैश्य कहलाये। अन्त में ब्राह्मणों, क्षत्रियों व वैश्यों की सेवा करने के लिए प्रजापिता ब्रह्मा ने शूद्रों को उत्पन्न किया। कालान्तर में कुछ अन्य कार्यों की आवश्यकता उत्पन्न होने पर प्रजापिता ब्रह्मा ने सान्तरालों अर्थात् वर्णों के मध्य स्थित जातियों को उत्पन्न किया। जिस प्रकार प्रजापिता ब्रह्मा सारी सृष्टि के पिता हैं उसी प्रकार ब्राह्मण वर्ण **अग्रजन्मा** होने के कारण शेष तीनों वर्णों का पिता है तथा चारों वर्णों में सर्वश्रेष्ठ है। राजा को अपने प्राण देकर भी ब्राह्मणों की रक्षा करना चाहिए क्योंकि प्रत्येक ब्राह्मण प्रजापिता ब्रह्मा का अवतार है।

इस प्रकार ब्राह्मों ने जातिविशेष के लिए वर्णविशेष की व्यवस्था को मानवोत्पत्ति काल से चली आ रही ईश्वरीय परम्परा बताया तथा राजाओं के स्थान पर ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को स्थापित करने का प्रयास किया। ब्राह्म संस्कृति के अनुसार केवल ब्राह्मणेतर वर्णों के लिए ही राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है, ब्राह्मण वर्ण के लिए नहीं। देवों का वरद हस्त प्राप्त होने के कारण ब्राह्मों को दक्ष प्रजापति जैसे देवाधीन राजाओं से कोई भय भी नहीं था।

प्राजापत्य क्षेत्र में रहने वाले मानव–मानवी कहलाए तथा उनकी भाषा (संस्कृतभाषा) मानवी अथवा मानुषी भाषा कहलायी क्योंकि इस क्षेत्र में मनुस्मृति के अनुसार शासन–व्यवस्था चलाई जाती थी। नर–नारी भी बाह्य धारा के शब्द हैं जो भारतीय धारा में जन–जनी कहलाते हैं। यह ध्यातव्य है कि मनु स्वयं जन्मना वर्ण–व्यवस्था के प्रतिपादक नहीं थे किन्तु मनुस्मृति के परवर्ती संस्करणों में ''जन्मना वर्ण–व्यवस्था तथा जातिविशेष के लिए वर्णविशेष'' का प्रतिपादन करने वाले श्लोक प्रक्षिप्त किए जाते रहे। यह भी ध्यातव्य है कि प्रक्षिप्त श्लोको को हटा देने के पश्चात् बचे समस्त श्लोक मनु के ही आशय को व्यक्त करते हों, ऐसा भी नहीं है क्योंकि मनु के आशयों के साथ अपने आशयों को मिलाकर ही ब्राह्म लेखकों ने मनुस्मृति के प्रथम भारतीय संस्करण का सम्पादन किया था। भूमिकास्वरूप आये चारों श्लोक भी ब्राह्म संस्कृति का ही प्रतिपादन करते हैं।

दैव, ब्राह्म तथा प्राजापत्य संस्कृतियों की रक्षा का दायित्व विष्णु ने संभाल रखा था क्योंकि विष्णु को भी देवबलि का एक बड़ा भाग प्राप्त होता था। विष्णु तथा लक्ष्मी के विवाह का रूपक इसी तथ्य को प्रकट करता है क्योंकि लक्ष्मी **वार्षिक उत्पादन** की द्योतक हैं अर्थात् प्रतिवर्ष ''यजमान की पुत्री'' अथवा

"कुबेर की पुत्री" लक्ष्मी का पुनर्जन्म होता है। आज भी चित्रों में ब्रह्मा के कमलासन की नाल विष्णु की नाभि से संयुक्त दिखाई जाती है जो इस बात की द्योतक है कि ब्राह्म तथा प्राजापत्य संस्कृतियों द्वारा विष्णु का पोषण होता था। रुद्रों को यह बात पसन्द नहीं आई कि बाह्य शक्तियाँ भारतीयों से बलि वसूल करें। इस कारण वे गणेशों द्वारा देवबलि पर अपना अधिकार कर लेते थे। दीपावलि महोत्सव में गणेश व लक्ष्मी का पति–पत्नी के रूप में पूजन इसी तथ्य का प्रतीक है। ऋद्धि, समृद्धि आदि लक्ष्मी के नामान्तर हैं। गणेश की दूसरी पत्नी **सिद्धि** कहलाती हैं जो **राजनैतिक व कूटनैतिक सफलता** की द्योतक हैं। झंझट से बचने के लिए देवों ने देवबलि में से एक बड़ा भाग रुद्रों के लिए भी देना प्रारम्भ कर दिया। इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा आदि इस अतिरिक्त विभाजन से अतिक्षुब्ध थे।

अयातयामं सर्वेभ्यो भागेभ्यो भागमुत्तमम्। देवाः संकल्पयामासुर्भयाद् रुद्रस्य शाश्वतम्।।

महाभारत, वनपर्व (114–11)

रुद्रस्य यज्ञभागं च विशिष्टं ते त्वकल्पयन्। भयेन त्रिदशा राजन् शरणं च प्रपेदिरे।।

महाभारत, द्रोणपर्व (202–72)

ब्रह्मा ने सभी कबीलों के प्राचीन पूज्यों की प्रशस्तियों का संकलन चार वेदसंहिताओं में किया था। इसके अतिरिक्त ब्रह्मा ने सभी कबीलों के इतिहास का भी संकलन किया था। चारों वेदसंहिताओं तथा इतिहास का संकलन करने के कारण ब्रह्मा को **पंचमुखी** कहा गया। रुद्रों से द्वेष के कारण ब्रह्मा ने ऐसा इतिहास लिखा जिसमें रुद्रों का अपमान निहित था। इस इतिहासलेखन के कारण रुद्र कुपित हो गये और उन्होंने ब्रह्मा के विद्यालयों पर आक्रमण किया और इतिहाससम्बन्धी लिखित साहित्य नष्ट कर दिया। तब कुलपति ब्रह्मा ने भागकर **मूलस्थान** (मुल्तान) में शरण ली जो उसका मूल निवासस्थान था। रुद्र द्वारा ब्रह्मा के पाँचवे सिर के उच्छेदन का रूपक इसी तथ्य को प्रकट करता है। इस घटना के पश्चात् कुलपति ब्रह्मा **चतुर्मुखी** कहलाने लगा। देवों की चाटुकार व देशद्रोही ब्राह्म संस्कृति को क्षीण करने हेतु रुद्र ने पश्चिम की ओर बढ़कर **संतलज** नदी तक के सम्पूर्ण भूभाग पर अपना एकाधिकार कर लिया और इसे **हरक्षेत्र** का नाम दिया क्योंकि उन्होंने इस क्षेत्र का हरण किया था। इस घटना के पश्चात् रुद्र **हर** कहलाये। वस्तुतः वर्तमान राजस्थान, हरयाणा व उत्तराखण्ड राज्यों की वास्तविक पश्चिमी सीमा **सतलज** नदी है जो इन्हें प्रदान नहीं की गयी है। इतना ही नहीं, कुछ लोग अज्ञानतावश अथवा जानबूझकर **हरयाणा** व **हरद्वार** (उत्तराखण्ड) के स्थान पर **हरियाणा** व **हरिद्वार** शब्दों का प्रयोग करते हैं जो **हर** (रुद्र) की पावन स्मृति का अपमान है। इसी प्रकार वर्तमान हिमाचल प्रदेश की वास्तविक पश्चिमी सीमा **चिनाव** नदी है जो "धारा 370" के कारण इसे प्रदान नहीं की गयी है।

भूहरण की उपर्युक्त घटना से क्षुब्ध होकर देवों ने दक्ष को फुसलाया कि "हम तुम्हारे राज्य की रक्षा करने में समर्थ हैं, अतः रुद्र को बलि मत दो।" दक्ष देवों के इस फुसलावे में आ गया, अतः उसने अपने यज्ञसमापन समारोह में रुद्र को आमन्त्रित नहीं किया तथा उनके लिए निर्धारित भाग भी नहीं निकाला। दक्ष की पुत्री तथा रुद्र की पत्नी **सती** स्वयं को इस यज्ञसमापन समारोह में सम्मिलित होने से रोक न सकीं और वे रुद्र के बिना ही इस समारोह में पहुँच गयीं। रुद्र का भाग न देखकर उन्होंने इसका कारण पूछा तो देव उनसे वाद–विवाद करने लगे। इस वाद–विवाद में सती की मृत्यु भी हो गयी। जब यह समाचार रुद्र को प्राप्त हुआ तो उन्होंने तत्काल अपने श्रेष्ठतम सैनिकों को आदेश दिया कि वे दक्ष के सम्पूर्ण समारोह का तथा उसमें सम्मिलित होने वालों का नाश कर दें। इसके पश्चात् रुद्र के गणों ने वहाँ पहुँचकर उपस्थित समस्त देवों तथा दक्ष के सैनिकों को मौत के घाट उतार दिया। उन्होंने दक्ष का सम्पूर्ण राज्य तहस–नहस कर डाला। जब विष्णु को यह समाचार मिला तो उन्होंने क्षमायाचना करते हुए किसी प्रकार रुद्र को यह विनाश रुकवाने के लिए राजी किया। इसके पश्चात रुद्र ने दक्ष के स्थान पर एक पशुपालक को हिमाचल प्रदेश का राजा बना दिया। दक्ष के कटे सिर के स्थान पर बकरे का सिर लगाने का रूपक इसी तथ्य को प्रकट करता है। आज भी हिमाचल प्रदेश में **गद्दी** नामक पशुपालक जाति के लोग रहते हैं। इसी जाति के एक व्यक्ति को रुद्र ने हिमाचल प्रदेश का राजा बनाया था। इसी प्रकार एक गणेश के विद्रोह करने पर रुद्र ने उसका शिरच्छेद कर एक गजपालक को गणेश बना दिया। बाद में देवों की एक छोटी–सी सेना दक्ष के राज्य में रहने लगी जिसे **देवसेना** कहा गया। देवों तथा दक्ष प्रजापति को दुर्बल जानकर असुरों की भी एक सेना दक्ष के राज्य में रहने लगी जिसे **असुरसेना** कहा गया। कालान्तर में इन्द्र ने असुरसेना के सेनापति **केशी** का वध कर दिया।

अब रुद्र ने देवों तथा असुरों को नियन्त्रित करने का दायित्व **स्कन्द** को प्रदान किया। इसके पश्चात् रुद्र के **मानस पुत्र** (शिष्य) स्कन्द (कुमार, महासेन, कार्तिकेय अथवा मयूरेश) ने इन्द्र को पराजित कर दिया। संघर्ष से बचने के लिए इन्द्र ने स्कन्द के सम्मुख देवराज बनने का प्रस्ताव रखा जिसे स्कन्द ने अस्वीकार कर दिया। स्कन्द ने इन्द्र को रुद्र का माण्डलिक (अधीन राजा) बनाकर देवों की सेना को अपनी सेना में मिला लिया। स्कन्द तथा देवसेना के विवाह का रूपक इसी तथ्य को प्रकट करता है। स्कन्द की सेना में प्रायः सभी कबीलों के लोग थे। इस कारण उनकी सेना एक प्रकार से **वैश्विक सेना** थी। वे रुद्र के सच्चे मानस पुत्र थे क्योंकि रुद्र की सेना में भी सभी प्रकार के लोगों को स्थान मिलता था। अब स्कन्द ने पश्चिमोत्तर की ओर विजय–अभियान किया तथा कपिशा व गन्धर्वलोक को मिलाकर **उपगणस्थान** नामक एक नवीन गण की स्थापना की जिसे आजकल अफगानिस्तान कहा जाता है।

स्कन्द ने अन्ततः विष्णुलोक को भी जीत लिया और उसका नाम **स्कन्दनावीय** रख दिया जिसे आजकल स्कैण्डीनेविया कहा जाता है। इस प्रकार स्कन्द ने सभी प्रमुख लोकों को जीत लिया। यह प्राचीन भारतीय राजनैतिक इतिहास का अतिस्वर्णिम पृष्ठ है। अपना विजय–अभियान पूरा कर स्कन्द दक्षिणभारत चले गये और अपना शेष जीवन उन्होंने वहीं व्यतीत किया।

भृगुगोत्रीय परशुराम ने भी देवों के अनुगामी क्षत्रियों का इक्कीस बार संहार किया। भार्गवों ने देवों के रक्षक विष्णु का सदैव विरोध किया। भृगु द्वारा विष्णु के वक्ष पर पादप्रहार का रूपक इसी तथ्य को प्रकट करता है। असुरों के गुरु **शुक्राचार्य** भी भार्गव ही थे। अन्ततः इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा आदि ने सर्वसम्मति से रुद्र के आधिपत्य को स्वीकार किया तथा उन्हें **अधिदेव** (देवों के अधिपति), **महादेव** (देवों से महान्) तथा **देवदेव** (देवों के देव) की उपाधियों से विभूषित किया। देवों ने रुद्र के गणेशों को **उत्तरदेव** (देवों से श्रेष्ठ) की उपाधि प्रदान की तथा देवबलि का प्रधान भाग भी उन्हें प्रदान किया गया। गणपति के अग्रपूजन का यही तात्पर्य है।

देवान् यज्ञमुषश्चान्यान् सृजत् पंचदशोत्तरान्।। महाभारत, वनपर्व (220–10)

ऊपर से सब शान्त हो गया था किन्तु भीतर ही भीतर देवों का रुद्रों से द्वेष था।

सगर नामक एक राजा ने यज्ञ (कृषि) के विस्तार हेतु अपने साठ हजार पुत्रों (प्रजाजनों) को पूर्वसमुद्र (बंगाल की खाड़ी) तक एक नदी खोदने के कार्य पर लगा दिया। कई पीढ़ियों तक यह कार्य चलता रहा। नदी की खुदाई का कार्य तो पूर्ण हो गया किन्तु उसमें जल लाया जाना अभी शेष ही था। सगर के वंशज **भगीरथ** को पता चला कि रुद्रलोक में अतिश्रेष्ठ जल वाली एक नदी है जो अपने उद्गम से निकलकर पर्वतों में ही खो जाती है, यदि उस नदी के जल को इस खोदी गयी नदी में लाया जा सके तो बात बन सकती है। अतः भगीरथ ने रुद्र से प्रार्थना की कि वे उस नदी के जल को इस खोदी गई नदी तक ले जाने की अनुमति प्रदान करें। कल्याणकारी कार्य मानकर रुद्र ने न केवल इसकी अनुमति प्रदान की अपितु इस कार्य में मार्गदर्शन भी प्रदान किया। इस घटना के पश्चात् रुद्र **शंकर** (कल्याण करने वाले) कहलाए। वर्षों के परिश्रम के पश्चात् उस नदी को मैदान में लाया जा सका। भगीरथ द्वारा लायी जाने के कारण उस नदी को **भागीरथी** कहा गया। अलकनन्दा नदी से मिलने के पश्चात् यह नदी **गंगा** कहलाती है। शैवों की दृष्टि में गंगा नदी अतीव श्रद्धास्पद है किन्तु शैवों का तिरस्कार करने के लिए ब्राह्म जन गंगा को विष्णु के दक्षिण पादांगुष्ठ के नख से उत्पन्न बताते हैं तथा **विष्णुपदी** की संज्ञा प्रदान करते हैं। निश्चित ही यह उनकी घोर धृष्टता है।

कालान्तर में रुद्र का प्रभाव घट गया तथा देवों का प्रभाव बढ़ने लगा, अतः उन्होंने अगस्त्य ऋषि

को विन्ध्याचल के दक्षिण में ब्राह्म संस्कृति के प्रसार का कार्य सौंपा। अगस्त्य ने गोदावरी नदी तक ब्राह्म संस्कृति का प्रसार कर दिया। उस समय गोदावरी के दक्षिण में प्रमुखतः गृध्र, वानर, ऋक्ष तथा पिशाच कबीलों का शासन था। गृध्रों का शासन पर्वतीय प्रदेशों पर था। वानर तथा ऋक्ष वन्य प्रदेशों पर शासन करते थे। इनके बीच मैत्री थी। पिशाच सघन वन्य प्रदेशों पर शासन करते थे और कच्चा मांस खाते थे। कावेरी नदी के दक्षिण में यक्ष तथा राक्षस कबीलों का शासन था। यक्ष कृषि, पशुपालन, व्यापारादि करते थे। ये सर्वाधिक समृद्ध थे। राक्षसों का व्यवसाय रक्षा करना था। ये भाड़े पर अथवा ठेके पर सैनिक–सहायता प्रदान करते थे। जो भी कबीला राक्षसों के इस रक्षा–व्यवसाय के फन्दे में आ जाता था उसका इस फन्दे से बाहर निकल पाना प्रायः असम्भव हो जाता था। शनैः शनैः राक्षस अपने द्वारा रक्षित कबीले पर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित कर लेते थे तथा रक्षित कबीले का राजा नाममात्र ही राजा रह जाता था। समस्त दक्षिणभारतीय कबीलों का देवों से सहज विरोध था क्योंकि उनके लिए देव बाह्य व्यक्ति थे और वे इन बाह्य व्यक्तियों को किसी भी प्रकार की बलि देने के इच्छुक नहीं थे। राक्षस तो देवों से ही बलि वसूलने की इच्छा रखते थे। केवल यक्ष ऐसे थे जो किसी से वैमनस्य नहीं रखते थे, अतः देवों से भी उनकी मैत्री थी।

राक्षसराज **रावण** ने अपने वैमातेय अग्रज यक्षराज **कुबेर** को पदच्युत कर उसकी राजधानी **लंका** पर अधिकार कर लिया। विवश होकर कुबेर को अन्यत्र अपनी राजधानी बसानी पड़ी। इसके पश्चात् रावण ने वानरों के राज्य में प्रवेश किया किन्तु वह वानरराज **बालि** द्वारा बुरी तरह पराजित हुआ, अतः उसने वानरों पर आधिपत्य का विचार त्याग दिया। इसके पश्चात् वह **पालघाट** पार कर पश्चिमी समुद्रतटीय मैदान से होता हुआ नर्मदा नदी तक जा पहुँचा। यहाँ वह पुनः **सहस्रार्जुन** नामक राजा से पराजित हुआ। अतः उसने अपना विजय–अभियान स्थगित कर दिया। कालान्तर में परशुराम ने सहस्रार्जुन का वध कर दिया क्योंकि उसने परशुराम के पिता जमदग्नि की हत्या की थी। इसी घटना के पश्चात् परशुराम क्षत्रियद्वेषी हो गये। कुछ काल बाद रावण के पुत्र **मेघनाद** ने पुनः विजय–अभियान आरम्भ किया और स्वर्ग को जीतकर **इन्द्रजित्** की उपाधि धारण की।

उसी समय वानरराज बालि ने अपने अनुज **सुग्रीव** को विश्वासघाती जानकर उसे अपमानित कर राज्य से निष्कासित कर दिया तथा उसकी पत्नी को अपने पास ही रख लिया। दुःखी और निष्कासित सुग्रीव ऋष्यमूक नामक एक पर्वत पर अपना समय काट रहा था। इसी बीच रावण की बहिन **शूर्पणखा** पश्चिमी समुद्रतटीय मैदान में भ्रमण करती हुई पंचवटी पहुँच गयी जहाँ देवों के घनिष्ठ मित्र अयोध्यानरेश **दशरथ** के पुत्र **राम** अपनी भार्या **सीता** तथा अनुज **लक्ष्मण** के साथ वनवास कर रहे थे। राम को

देखकर शूर्पणखा उनसे विवाह की इच्छुक हो गयी और उसने प्रणयनिवेदन कर दिया जिसे राम ने अस्वीकार कर दिया। फलतः क्षुब्ध शूर्पणखा ने सीता को बाधक जानकर उन पर आक्रमण कर दिया। इससे क्रुद्ध होकर लक्ष्मण ने शूर्पणखा की नाक काट ली। अपमानित व दुःखी शूर्पणखा जब रावण के दरबार में पहुँची तो रावण ने प्रतिशोध की इच्छा से पंचवटी जाकर सीता का हरण कर लिया। इसके पश्चात् राम–लक्ष्मण ने सीता की खोज आरम्भ कर दी। सीता की खोज करते समय राम–लक्ष्मण की भेंट **हनुमान्** से हो गयी जो सुग्रीव के परममित्र तथा सचिव थे। हनुमान् ने राम को आश्वासन दिया कि यदि आप बालि को मारकर सुग्रीव को राज्य दिला दें तो सुग्रीव सीताप्राप्ति में आपकी सहायता अवश्य करेंगे। इसके पश्चात् हनुमान् ने राम व सुग्रीव की मैत्री करायी। राम ने योजनापूर्वक बालि का वध कर दिया और सुग्रीव को वानरराज बना दिया। समझौते के अनुसार सुग्रीव ने राक्षसों के विरुद्ध युद्ध में राम की सहायता की और राम ने रावण का वध कर सीता को पुनः प्राप्त किया। इसके पश्चात् दक्षिणभारत में भी ब्राह्म संस्कृति का प्रसार होने लगा। वानरों तथा ऋक्षों से मैत्री प्रगाढ़ करने हेतु राम ने उनमें प्रचलित **लिंगपूजन** को न केवल सम्मान दिया अपितु रामेश्वरम् में स्वयं लिंग स्थापित कर उसका पूजन भी किया। बाद में अपनी झेंप मिटाने के लिए ब्राह्मों ने लिंग का समीकरण रुद्र से कर दिया। रुद्रों ने इस बात से चिढ़ने की बजाय लिंग को सहर्ष अपना प्रतीक स्वीकार कर लिया क्योंकि पैतृक वंश–परम्परा का प्रतीक होने के कारण लिंग उनके लिए श्रद्धास्पद ही था। इस प्रकार शैवों व रुद्रों की एकता और भी प्रगाढ हो गयी तथा समस्त ज्योतिर्लिंग रुद्रों के शासन–केन्द्र बन गये।

रुद्र के महत्त्व को घटाने के लिये ही वैष्णवों ने हनुमान् का महत्त्व बढ़ाया। एतदर्थ उन्होंने हनुमान् को **रामदास** (रामभक्त) तथा **रुद्रावतार** घोषित किया। प्रकारान्तर से उन्होंने रुद्र को ही रामदास दिखाने का प्रयास किया जबकि स्वयं राम ने रुद्र को **रामेश्वर** (राम के पूज्य) की संज्ञा दी थी। वस्तुतः हनुमान् राम के प्रति किंचिदपि दास्यभाव नहीं रखते थे। वे तो सुग्रीव के परममित्र व सचिव थे और सुग्रीव को पुनः राज्य दिलाने एवं वानर जाति को संगठित करने हेतु ही प्रयत्नशील थे। इसके अतिरिक्त वे रुद्रावतार भी नहीं थे। वस्तुतः **अवतारवाद** वैष्णव संस्कृति का अंग है न कि शैव संस्कृति का। शैव संस्कृति में तो **पुत्रवाद** ही चलता है जो दो प्रकार का होता है – दैहिक तथा मानस। किसी पुरुष की रक्तपरम्परा में उत्पन्न होने वाले सभी पुरुष उसके देहज पुत्र होते हैं तथा उसके विचार का रक्षण, पोषण व प्रसार करने वाले सभी पुरुष उसके मानस पुत्र होते हैं। इसी पुत्रवाद के आधार पर ही गोत्र–व्यवस्था का सूत्रपात हुआ था। कुलगोत्र व पक्षगोत्र क्रमशः दैहिक व मानस परम्परा को प्रकट करते हैं।

पौराणिक साहित्य के अनुसार **माली–सुमाली** ने **राक्षस** संस्कृति का सूत्रपात किया तथा **निरक्ष**

द्वीप पर लंका की स्थापना की। 0° अक्षांश पर विद्यमान देश **निरक्ष** कहलाते हैं किन्तु वर्तमान श्रीलंका द्वीप **निरक्ष** नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिणपूर्व एशिया के **पूर्वी द्वीपसमूह** (East Indies) का **सुमात्रा** द्वीप ही वह स्थान है जहाँ माली–सुमाली ने लंका की स्थापना की थी क्योंकि सुमात्रा निरक्ष द्वीप है। इसके अतिरिक्त दक्षिणपूर्व एशिया को **सुवर्णभूमि** भी कहा जाता है। अतः सुमात्रा द्वीप पर लंका का होना पर्याप्त सम्भव है। **माली** का "सुमात्रा के उत्तर में विद्यमान" **मलय** प्रायद्वीप से स्पष्ट साम्य है तथा **सुमाली** का भी **सुमात्रा** से स्पष्ट साम्य है।

राम को इक्ष्वाकुवंशी कहा गया है और थाइलैण्ड में **इक्षु** (गन्ना) की प्रचुरता है, अतः इस बात की पर्याप्त सम्भावना है कि **रामकथा** मूलतः थाइलैण्ड की हो तथा **मूल राम** भी वहीं के हों और वहीं से रामकथा भारत आयी हो तथा बाद में किसी उत्तरभारतीय लेखक ने अपनी **रामेश्वर यात्रा** और **मूल रामकथा** का मिश्रण कर **वर्तमान रामायण** का सृजन कर दिया हो। आज भी थाइलैण्ड में अति उल्लासपूर्वक रामकथा का मंचन होता है।

नृतत्त्वशास्त्रियों के अनुसार अतिप्राचीनकाल में भारत एक निर्जन भूभाग था जिसमें सर्वप्रथम पूर्व दिशा से कुछ जातियों ने प्रवेश किया। इन जातियों की सामूहिक स्मृति में यह तथ्य सुरक्षित बना रहा कि उनकी आदिभूमि भारत से पूर्व दिशा में है। पूर्वदिशा के पर्यायवाची **प्राची** का भी **प्राचीन** से स्पष्ट साम्य है। जीवविज्ञानियों का एक बड़ा वर्ग ऐसा मानता है कि आदिमानव **पूर्वी द्वीपसमूह** के **यवद्वीप** (जावा द्वीप) में उत्पन्न हुए। उनकी एक शाखा पूर्व की ओर बढ़कर ऑस्ट्रेलिया चली गई तथा एक शाखा पश्चिम की ओर बढ़कर सुमात्रा आ गयी। सुमात्रा आने के पश्चात् एक शाखा उत्तर की ओर बढ़कर मलय प्रायद्वीप में प्रवेश कर गयी तथा दूसरी शाखा पश्चिम की ओर बढ़कर क्रमशः निकोबार तथा अण्डमान द्वीपों से होती हुई सीधे म्यान्मार पहुँच गयी। मलय प्रायद्वीप मे प्रवेश करने वाली शाखा म्यान्मार, हिन्दचीन प्रायद्वीप तथा चीन में फैल गयी। म्यान्मार में प्रवेश करने वाली शाखाओं ने ही सर्वप्रथम भारत में प्रवेश किया। इन्हीं की एक शाखा भारत के पूर्वी समुद्रतटीय मैदान में दक्षिण की ओर बढ़ती हुई तमिलनाडु तथा श्रीलंका तक पहुँच गयी। इसी शाखा ने प्राचीन लंका की स्मृति के आधार पर श्रीलंका का यह नाम रखा होगा। निश्चित ही इस जातिप्रसार में लाखों वर्ष लगे होंगे। नृतत्त्वशास्त्री डॉ. पंचानन मिश्र के अनुसार दक्षिणभारत में भी आदि मानवों की उत्पत्ति हुई थी और वे ही श्रीलंका तथा दक्षिणभारत में फैल गए। अस्तु, यह सब आनुवांशिकी व जीनविज्ञान के शोध का विषय है।

कुछ जीवविज्ञानियों के अनुसार अफ्रीका में भी आदि मानवों की उत्पत्ति हुई जो कालान्तर में ईजिप्ट, पश्चिमी एशिया तथा यूरोप में फैल गये। इन्हीं की कुछ जातियाँ पूर्व की ओर बढ़ती हुई भारत

में प्रविष्ट हो गयीं। इनके भारत में प्रविष्ट होने के अतिपूर्व ही पूर्वी जातियाँ सम्पूर्ण भारत में फैल चुकी थीं।

मानव के लाल रुधिराणुओं की कोशाकला (cell membrane) में मुख्यतः तीन **ऐण्टीजेन्स** (antigens) पाये जाते हैं – A, B व Rh। इनके कारण रक्तवर्गों की एक श्रेणी बनती है जिसमें क्रमशः A, B, AB व O रक्तवर्ग होते हैं तथा प्रत्येक रक्तवर्ग Rh-युक्त व Rh-रहित इन दो उपवर्गों में विभक्त होता है। इस श्रेणी के अतिरिक्त लगभग एक दर्जन श्रेणियों के अन्य विविध प्रकार के रक्तवर्गों के ऐण्टीजेन्स भी मनुष्यों एवं कुछ अन्य स्तनियों के लाल रुधिराणुओं की कोशाकला में पाए जाते हैं। इनमें से MN श्रेणी के अतिरिक्त अन्य श्रेणियों का कोई विशेष महत्त्व अभी ज्ञात नहीं है। इस श्रेणी में दो ऐण्टीजेन्स पाये जाते हैं – M व N। इनके कारण M, N व MN रक्तवर्ग बनते हैं। अस्तु, ऐण्टीजेन्स के अध्ययन से भी आदि मानवों की प्रारम्भिक प्रजातियों तथा उत्पत्तिस्थलों का पता लगाने में सहायता मिल सकती है।

अस्तु, महाभारतकालीन पाण्डवों ने भी देवों को विशेष बलि प्रदान की क्योंकि देवों ने पाण्डवों को कौरवों के विरुद्ध युद्ध करने हेतु अस्त्र–शस्त्र प्रदान किये थे।

अपने विचार को सुदृढरूपेण स्थापित करने हेतु ब्राह्मों ने समाज में प्रचलित **मरणोत्तर जीवन** की मान्यता का पोषण करना आरम्भ कर दिया। उन्होंने "शरीर से पृथक् आत्मा", "मरणोत्तर स्वर्ग–नरक", "मरणोत्तर पितृलोक" तथा "मरणोत्तर पुनर्जन्म" की संकल्पना प्रस्तुत की जिसके अनुसार ब्राह्म संस्कृति का पूर्ण पालन करने वाले व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् उसका आत्मा अतिदीर्घकाल तक किसी "अपार्थिव स्वर्गलोक" में शरीर के बिना ही महान् सुखों को भोगता है। इसी प्रकार ब्राह्म संस्कृति के विरुद्ध चलने वाले व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् उसका आत्मा अतिदीर्घकाल तक किसी "अपार्थिव नरकलोक" में शरीर के बिना ही महान् दुःखों को भोगता है। इस "अपार्थिव स्वर्ग–नरक" की संकल्पना को बल प्रदान करने हेतु उसमें नैतिकता को भी जोड़ दिया गया अर्थात् सर्वहितकारी, परोपकारी तथा अहिंसक प्रवृत्तियों को स्वर्गदायी तथा स्वार्थवादी, परहानिकारी तथा हिंसक प्रवृत्तियों को नरकदायी बताया गया। ब्राह्म व्याख्याकारों ने बताया कि शुभ कर्मों का सुखद फल अपार्थिव स्वर्गलोक में तथा अशुभ कर्मों का दुःखद फल अपार्थिव नरकलोक में भोगने के पश्चात् आत्मा का पुनर्जन्म होता है। यदि उसने शुभ कर्म अधिक किए हों तो उसे उच्चवर्ण के समृद्ध परिवार में जन्म मिलता है अन्यथा निम्नवर्ण के दरिद्र परिवार में। अतिनिकृष्ट कर्म होने पर पक्षी, पशु अथवा वृक्ष की योनि में भी जन्म हो सकता है। जो आत्मा अपने पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र आदि के परिवार में ही जन्म लेना चाहता है वह अपार्थिव स्वर्ग–नरक में अपने शुभाशुभ

कर्मों के सुखद–दुःखद फलों को भोगकर सीधे ''अपार्थिव पितृलोक'' में आ जाता है जो चन्द्रमा के उस अन्धकारपूर्ण भाग में स्थित है जिस पर कदापि सूर्य का प्रकाश नहीं पड़ता। इस अपार्थिव पितृलोक में आत्मा अपने पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र आदि के परिवार में होने वाले गर्भाधान की प्रतीक्षा करता है और अभीष्ट गर्भाधान होने पर वह चन्द्रकिरणों पर आरूढ होकर पृथ्वी पर आता है तथा अभीष्ट गर्भ में प्रवेश कर जाता है।

उपर्युक्त समस्त विचारों की स्पर्धा में **आत्मज्ञान** की संकल्पना प्रस्तुत की जा रही थी जिसके अनुसार जन्म, शैशव, यौवन, जरा, मरण, स्वर्गनरकवास, पितृलोकवास, तथा पुनर्जन्म का ''अनवरत चलने वाला'' यह चक्र बड़ा ही निस्सार तथा ऊबाऊ है। इस संकल्पना के अनुसार स्वर्गनरकवास स्वप्नावस्था की भाँति है। जिस प्रकार रात्रि में देखे गये सुखद अथवा दुःखद स्वप्न प्रातःकाल जागने पर अस्तित्वहीन सिद्ध होते हैं उसी प्रकार स्वर्ग–नरक का भोग भी रात्रि में देखे गए स्वप्न से अधिक मूल्यवान् नहीं है। केवल **आत्मज्ञान** ही मूल्यवान् है क्योंकि यह स्वर्गनरकवास की भाँति अस्थायी नहीं अपितु अनन्तकालिक है। इस आत्मज्ञान की प्राप्ति हेतु मनुष्य को सांसारिक (इहलौकिक) तथा स्वर्गीय (पारलौकिक) सुखों के प्रति अनासक्ति व वैराग्य का भाव रखकर **योगसाधना** व **तप** में ही संलग्न रहना होगा। इस **आत्मज्ञान** की प्राप्ति हेतु **आत्मज्ञानी** व्यक्ति का शिष्यत्व ग्रहण करना आवश्यक है।

जिस प्रकार ब्राह्म विचार के प्रचारक तथा लाभभोगी ब्राह्मण थे उसी प्रकार आत्मज्ञान के विचार के प्रचारक तथा लाभभोगी राजा थे जिन्हें **राजर्षि** कहा गया। सूर्य, मनु, यम आदि को प्रारम्भिक राजर्षि बताया गया। जिस प्रकार ब्राह्मण अपने यजमानों (सन्तानोत्पत्ति रूपी कृषि करने वालों) से दान–दक्षिणा तथा सेवा ग्रहण कर उन्हें स्वर्ग तथा श्रेष्ठ पुनर्जन्म की प्राप्ति का आश्वासन देते थे उसी प्रकार ये राजर्षि अपने शिष्यों से गुरु–दक्षिणा तथा सेवा ग्रहण कर उन्हें आत्मज्ञान की प्राप्ति का आश्वासन देते थे। इन्हीं राजर्षियों की एक धारा पृथक् होकर **श्रमण जैन** कहलाई। जब राजर्षियों का प्रभाव बढ़ने लगा तो ब्राह्मणों ने **आत्मज्ञान** की स्पर्धा में **ब्रह्मज्ञान** की संकल्पना प्रस्तुत की जिसके अनुसार **आत्मज्ञान** अन्तिम ज्ञान नहीं है। उससे बढ़कर **ब्रह्मज्ञान** होता है जिसकी प्राप्ति कराने में राजर्षि समर्थ नहीं हैं। इस ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हेतु मनुष्य को आत्मज्ञान के प्रति भी अनासक्ति व वैराग्य का भाव रखकर **सांख्यसाधना** व **ब्रह्मचर्य** में ही संलग्न रहना होगा। ब्रह्मचर्य का अर्थ है – ब्राह्मण गुरु का शिष्यत्व स्वीकार कर उसके निर्देशानुसार अध्ययन करना तथा कदापि मैथुन न करना। अब, ब्राह्मणों का पलड़ा पुनः भारी होता देखकर कुछ राजर्षियों ने अपने ब्रह्मज्ञानी होने की घोषणा कर दी। ब्राह्मों ने ब्रह्मचर्य का तात्पर्य **अमैथुन** ही बताया और इसे कथित ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हेतु अनिवार्य घोषित किया। वस्तुतः

अमैथुन तो अध्ययन का एक अंगमात्र है किन्तु हठात् अमैथुन मनोशारीरिकदृष्ट्या घातक है। मैथुन की इच्छा जाग्रत होने पर विवाह हो जाना ही समीचीन है अन्यथा युवक–युवतियों में अवैवाहिक मैथुन की प्रवृत्ति फैलने लगती है जिससे विवाह संस्था की पवित्रता क्षीण होने लगती है। इतना ही नहीं, अविवाहित युवक–युवतियाँ कुसंग में पड़कर समलैंगिकता की ओर भी अग्रसर हो सकते हैं और इसके अधिक दुःखद व भयावह अन्य कुछ भी नहीं हो सकता। वस्तुतः अमैथुन का विचार अशास्त्रीय ही है और वह न्यूनतम 25 वर्ष की आयु तक अवश्य चले ऐसा मानना भी विभ्रम ही है। 25 वर्ष की आयु के पूर्व भी अमैथुन समाप्त हो सकता है और **आत्यन्तिक अमैथुन** तो पूर्णतया भ्रान्त विचार है। जिस प्रकार अतिभोजन तथा अभोजन दोनों ही घातक होते हैं उसी प्रकार अतिमैथुन तथा अमैथुन दोनों ही मनोशारीरिकदृष्ट्या घातक हैं, अतः सम्यक् मैथुन ही कल्याणकारी है। कुछ मनीषियों के अनुसार स्वआयु के वर्षांक को 5 से विभाजित करने पर जो पूर्णांक प्राप्त होता है उतने दिनों के अन्तराल पर मैथुन होना सम्यक् है। यथा, 35 वर्ष की आयु वाले को मैथुन हेतु न्यूनतम 7 दिनों का अन्तराल रखना चाहिए। अपने सामर्थ्य तथा स्वास्थ्य के आधार पर एक–दो दिन घटाए–बढ़ाए जा सकते हैं। वस्तुतः मैथुन के प्रति लोभ अथवा अरुचि का मूल कारण है – प्रेम तथा लक्ष्य का अभाव। प्रेम का अभाव होने पर व्यक्ति अपने अहंत्व अथवा स्वामित्व पर सदैव खतरे का अनुभव करता है। अतः बारम्बार मैथुन करके व्यक्ति अपने अहंत्व अथवा स्वामित्व को सिद्ध करने का प्रयास करता है किन्तु ऐसा करना उसके मनोशारीरिक सन्तुलन को भंग कर देता है। इसी प्रकार लक्ष्यहीन व्यक्ति भी अतिमैथुन में लिप्त रहकर अपना समय काटने का प्रयास करता है। अतः "प्रेमविवाह करना और उसे निभाना" ही मानव की गरिमा के अनुकूल है। प्रेमविवाह के कारण **दहेज** की प्रवृत्ति भी क्षीण होती है।

वस्तुतः चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास) की संकल्पना ब्राह्म संस्कृति की देन है ताकि ब्राह्मण वर्ण में स्थान पा चुकी जातियाँ कल्पित ब्रह्मज्ञान व ब्रह्मचर्य के नाम पर समाज पर अपना वर्चस्व बनाए रख सकें। शैव संस्कृति के अनुसार व्यक्ति की दो ही अवस्थाएं होती हैं – कुमार व विवाहित। कुमार अवस्था में वह ज्ञानार्जन करता है और एतदर्थ यह अनिवार्य नहीं कि वह स्वगृह से दूर किसी ब्राह्मण के यहाँ कुछ निश्चित वर्षों तक निरन्तर निवास करे। हाँ, उच्च शिक्षा हेतु गृहत्याग उचित ही है। वस्तुतः बत्तीसों दातों के निकल आने के पश्चात् व्यक्ति विवाहयोग्य हो जाता है और तब पिता व स्वयं की रुचि के अनुसार विवाह हो जाना चाहिए। विलम्ब से होने वाला विवाह स्वरुचि से होना ही श्रेयस्कर है। वानप्रस्थ व संन्यास आश्रम तो पूर्णतया मिथ्या ही हैं।

इस प्रकार "शरीर से पृथक् आत्मा", "मरणोत्तर स्वर्गनरकवास", "मरणोत्तर पितृलोकवास",

''मानव अथवा इतर योनियों में मरणोत्तर पुनर्जन्म'', ''आत्मज्ञान'', ''ब्रह्मज्ञान'', ''ब्रह्मचर्य'' इत्यादि अनेकानेक विचारों का खेल समाज में खेला जाता रहा।

वस्तुतः भारत में ज्ञान की मूलतः चार धाराएं मानी जाती हैं जो क्रमशः अधिक प्राचीन हैं – ब्राह्म, प्राजापत्य, शैव तथा शाक्त। ब्राह्म व प्राजापत्य धाराएं एक ही सिक्के के दो पहलुओं की भाँति वस्तुतः एक ही हैं। दोनों ही धाराओं का सूत्रपात व पोषण देवों ने किया था। देवों के भारत में आने के पश्चात् कुलपति ब्रह्मा के साथ अब्राहम का, दक्ष प्रजापति के साथ मनु का तथा हिमालय पर्वत के साथ सुमेरु पर्वत का समीकरण हो गया। इसी कारण अनेक ब्रह्मा, अनेक प्रजापति तथा अनेक सुमेरु पर्वत माने जाते हैं। ब्राह्म धारा ब्रह्मर्षियों का तथा प्राजापत्य धारा राजर्षियों का गुणगान करती है। यद्यपि दोनों धाराएं भीतर ही भीतर स्पर्धा रखती हैं तथापि दोनों ही धाराएं अन्योन्याश्रित हैं तथा बाह्य शक्तियों की चाटुकार भी हैं। इसी कारण इनमें कहीं अब्राहम को, कहीं विष्णु को, कहीं इन्द्र को, कहीं वरुण को, कहीं सूर्य को और कहीं यम आदि को सर्वश्रेष्ठ बताया गया। अन्ततः ब्राह्म धारा ने अब्राहम को तथा प्राजापत्य धारा ने विष्णु को सर्वश्रेष्ठ मान लिया। कालान्तर में दोनों ही धाराएं संयुक्त होकर **वैष्णव** कहलायीं। प्राजापत्य धारा की राष्ट्र की संकल्पना **प्राजापत्य प्रदेश** की थी जिसमें सिन्धु नदी, सतलज नदी व हिमालय पर्वत के मध्य स्थित भूभाग अन्तर्निहित था। इसी क्षेत्र के देवभक्त पुरोहितों ने सतलज के पूर्व में ब्राह्म धारा के प्रसार का कार्य आरम्भ किया था। प्राजापत्य व ब्राह्म धाराओं के संयोग से बनी वैष्णव धारा की राष्ट्र की संकल्पना **आर्यावर्त** की थी जिसमें सिन्धु नदी, हिमालय पर्वत, ब्रह्मपुत्र नदी व विन्ध्य पर्वत के मध्य स्थित भूभाग अन्तर्निहित था।

वर्तमान हरयाणा के रुद्रभक्त **भरत** कबीले ने देवभक्त वैष्णव धारा को परास्त कर आर्यावर्त के स्थान पर **भरतखण्ड** की संकल्पना प्रस्तुत की जो पश्चिम में बलोचिस्तान व अफगानिस्तान, उत्तर में तिब्बत तथा पूर्व में म्यान्मार तक विस्तृत था। कालान्तर में शैव धारा ने राष्ट्र की संकल्पना में विस्तार किया और क्रमशः **भारतवर्ष** व **जम्बूद्वीप** की संकल्पना प्रस्तुत की। भरतखण्ड में **दक्षिणापथ** (दक्षिणभारत) को जोड़ देने पर प्राप्त भूभाग की संज्ञा **भारतवर्ष** हो जाती है। शैव धारा ने बाह्य शक्तियों के साथ कदापि समझौता नहीं किया और वह सदैव रुद्र को ही सर्वश्रेष्ठ बताती है। संस्कृत वैयाकरण पाणिनि भी शैव धारा के ही थे। उन्होंने अपने चतुर्दश प्रत्याहारसूत्रों को **माहेश्वरसूत्र** का नाम दिया क्योंकि **महेश्वर** शब्द रुद्र का ही द्योतक है। शैव धारा वाले स्वपुत्रों को राजेन्द्र, महेन्द्र, वीरेन्द्र, धीरेन्द्र, धर्मेन्द्र, सत्येन्द्र, जितेश, ईशजित् आदि नाम कदापि प्रदान नहीं करते अपितु राजेश, महेश, वीरेश, धीरेश, धर्मेश, सत्येश, जितेन्द्र, इन्द्रजित् आदि नाम ही प्रदान करते हैं क्योंकि **ईश** शब्द रुद्र का द्योतक है जो

भारतीय धारा के थे जबकि **इन्द्र** बाह्य धारा का था। **कश्यप** झील व चीन के मध्य स्थित समस्त भूभाग **जम्बूद्वीप** कहलाता है। वर्तमान भारत के अतिरिक्त पाकिस्तान, अफगानिस्तान, पूर्वी ईरान, तुर्कमेनिस्तान, उज्बेकिस्तान, दक्षिणी कजाकिस्तान, पामीर का पठार (तजाकिस्तान), किर्गिस्तान, तकला मकान मरुस्थल (चीन), तिब्बत का पठार (चीन), नेपाल, भूटान, बांग्लादेश, म्यान्मार, हिन्दचीन प्रायद्वीप, मलय प्रायद्वीप, पूर्वी द्वीपसमूह (East Indies), श्रीलंका, मालदीव इत्यादि समस्त भूभाग जम्बूद्वीप के अन्तर्गत ही हैं।

शैव संस्कृति के अनुसार कृष्ण चतुर्दशी, अमावस्या व शुक्ल प्रतिपदा का समुच्चय **त्रिरात्र पर्व** कहलाता है जो **चन्द्रगोपन** से लेकर **चन्द्रदर्शन** तक चलता है। त्रिरात्र पर्व में **लिंग** व **रुद्र** का विशेष पूजन करना चाहिए। शैव संस्कृति के अनुसार त्रिरात्र पर्व की समाप्ति के साथ ही **मासारम्भ** होता है। वैष्णवों ने **त्रिरात्र पर्व** की स्पर्धा में **द्विरात्र पर्व** का सूत्रपात किया जिसमें शुक्ल चतुर्दशी व पूर्णिमा सम्मिलित हैं। वैष्णवों ने तथाकथित द्विरात्र पर्व की समाप्ति के पश्चात् मासारम्भ मानने की परम्परा चलायी। अमावस्या के स्थान पर पूर्णिमा से मासारम्भ करना वैसे ही है जैसे मध्यरात्रि के स्थान पर मध्याह्न में **सौर तिथि** बदलना। इसी प्रकार आजकल जिस देशांश को **180^0 देशांश** माना जाता है वह 180^0 देशांश कहलाने योग्य नहीं है क्योंकि वह एशिया महाद्वीप को काटता है। वस्तुतः एशिया व उत्तरी अमेरिका दोनो ही महाद्वीपों को न काटने वाले देशांश को ही 180^0 देशांश माना जाना चाहिए। यह देशांश **सेण्ट लॉरेन्स द्वीप** से गुजरता है जिस पर संयुक्त राज्य अमेरिका का अधिकार है। अस्तु, शैव संस्कृति के अनुसार अमावस्या पर्व में पिता के कुलगोत्र का, शुक्लाष्टमी पर्व में माता के कुलगोत्र का तथा कृष्णाष्टमी पर्व में पितामही के कुलगोत्र का **मासिक स्मरण** करना चाहिए। पूर्णिमा पर्व में गोवंश का **मासिक पूजन** तथा पिता के कुलगोत्र के पुरोहितों का **मासिक सम्मान** करना चाहिए। उपभू (Perigee) पर्व में पिता के कुलगोत्र के क्षत्रियों का तथा अपभू (Apogee) पर्व में पिता के कुलगोत्र के वैश्यों का **मासिक सम्मान** करना चाहिए। दक्षिणायनारम्भ (Summer Solstice) पर्व में पिता के पक्षगोत्र का, शरद् संपात (Autumnal Equinox) पर्व में माता के कुलगोत्र का तथा वसन्त संपात (Vernal Equinox) पर्व में पितामही के कुलगोत्र का **वार्षिक स्मरण** करना चाहिए। उत्तरायणारम्भ (Winter Solstice) पर्व में गोवंश का **वार्षिक पूजन** तथा पिता के पक्षगोत्र के पुरोहितों का **वार्षिक सम्मान** करना चाहिए। उपसौरिका (Perihelion) पर्व में पिता के पक्षगोत्र के क्षत्रियों का तथा अपसौरिका (Aphelion) पर्व में पिता के पक्षगोत्र के वैश्यों का **वार्षिक सम्मान** करना चाहिए।

अमावस्या व दक्षिणायनारम्भ पर्वों में पिता, पितामह, प्रपितामह आदि के लिए धन भेंट करना चाहिए। शुक्लाष्टमी व शरद् संपात पर्वों में माता के लिए तथा कृष्णाष्टमी व वसन्त संपात पर्वों में

पितामही के लिए धन भेंट करना चाहिए। पूर्णिमा व उत्तरायणारम्भ पर्वों में कुलपुरोहित के लिए धन भेंट करना चाहिए। कुलपुरोहित पक्षपुरोहित के लिए तथा पक्षपुरोहित गणपुरोहित के लिए धन भेंट करें।

विवाह हेतु वर के पिता के पक्षगोत्र को कन्या के पिता के पक्षगोत्र से तथा वर की माता व पितामही के कुलगोत्रों को कन्या की माता व पितामही के कुलगोत्रों से पृथक् होना चाहिए जबकि वैष्णव संस्कृति के अनुसार विवाह हेतु वर व कन्या के पक्षगोत्रों का असमान होना तथा वर के मातृपिण्ड व कन्या के पितृपिण्ड का असमान होना ही पर्याप्त है, अतः पितामही का विचार करना अनावश्यक है।

शाक्त धारा के पास राष्ट्र की कोई बृहत् संकल्पना नहीं थी। वह तो जैसे–तैसे अपनी तथाकथित संस्कृति को बचाए रखने के लिए ही प्रयत्नशील थी। शाक्त धारा के अनुसार **पति** व **पिता** अनावश्यक सम्बन्ध हैं, अतः इन दोनों सम्बन्धों से उत्पन्न होने वाले पितामह, पितृव्य, पितृष्वसा, श्वसुर आदि समस्त सम्बन्ध स्वतः अनावश्यक ही ठहरते हैं। माता, सहोदर भगिनी, सहोदर भ्राता, मातामही, मातृष्वसा, मातुल, भागिनेया, भागिनेय, श्वश्रू आदि सम्बन्ध ही पर्याप्त हैं। माता, सहोदरी व भागिनेया को छोड़कर अन्य किसी भी स्त्री के साथ मैथुन किया जा सकता है। शाक्त धारा में पुरुषों का केवल एक ही कार्य है – सहोदरी की सन्तानों का पालन–पोषण तथा आवश्यकता पड़ने पर उनकी रक्षा हेतु प्राणोत्सर्ग। शाक्त धारा भली–भाँति यह समझ चुकी थी कि शैव धारा उसे कदापि प्रभावी नहीं होने देगी, अतः उसने ब्राह्म व प्राजापत्य धाराओं से हाथ मिला लिया। ब्राह्म व प्राजापत्य धाराओं ने शाक्त धारा के साथ वही किया जो दैव धारा ने गान्धर्व धारा के साथ किया था अर्थात् ब्राह्म व प्राजापत्य धाराओं ने शाक्त धारा को अपने रमण का साधनमात्र ही बनाया।

वैष्णवों द्वारा फैलाए गए जाल को काटने हेतु शैवों ने **लिंगपूजन** पर और अधिक जोर देना आरम्भ कर दिया। किसी हवाई आत्मा की मिथ्या खोज से समाज को बचाने के लिए उन्होंने समझाया कि **लिंग** पिता के **आत्मा** (आनुवांशिकी या जेनेटिक कोड) का द्योतक है और इसी के द्वारा सन्तानोत्पत्ति होती है। प्रत्येक पुरुष के लिए उसका पुत्र ही उसका आत्मा है (क्योंकि वह उसके Y गुणसूत्र का वाहक होता है) तथा इस आत्मा की प्राप्ति का साधन होने के कारण मैथुन अतिपवित्र एवं अतिउत्तरदायित्वपूर्ण कृत्य है। अतः माता–पिता को बड़े ही स्नेह तथा वात्सल्य के साथ सन्तानों का पालन–पोषण व शिक्षण करना चाहिए तथा सम्तानों को भी बड़ी ही श्रद्धा–भक्ति के साथ माता–पिता की सेवा–शुश्रूषा करनी चाहिए। स्वदेश ही **पितृलोक** है। स्वदेश की उन्नति एवं पिता, पितामहादि की प्रसन्नता ही **स्वर्ग** है तथा स्वदेश की अवनति एवं पिता–पितामहादि की अप्रसन्नता ही **नरक** है। ध्यान व आसन मनोशारीरिक स्वास्थ्य के साधन हैं, न कि मरणोत्तर उन्नति के। अहंता–ममता पर अत्यधिक बल देने से दुःख व क्लेश

की उत्पत्ति होती है तथा अहंता–ममता पर नियन्त्रण रखने से शान्ति व प्रज्ञा का उदय होता है, वैसे भी मृत्यु तो अहंता–ममता को बाधित कर ही देती है, ऐसा समझ जाना ही **आत्मज्ञान** है। सम्पूर्ण अस्तित्व की उत्पत्ति एक ही तत्त्व से हुई है तथा सम्पूर्ण अस्तित्व एक शरीर की भाँति ही एक इकाई है, अतः छोटी–बड़ी समस्त अस्तित्वगत इकाइयों का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, ऐसा समझ जाना **शिवज्ञान** है। स्वयं को सम्पूर्ण अस्तित्व रूपी शरीर की एक कोशिका मात्र समझना तथा अन्य कोशिकाओं को हानि न पहुँचाते हुए सहजरीति से एवं स्वपत्नी के साथ ही मैथुन करते हुए अपने माता–पिता की सेवा–शुश्रूषा करना तथा अपनी सन्तानों का पालन–पोषण करना **शिवचर्य** है। **ब्रह्मज्ञान** व **ब्रह्मचर्य** मिथ्या एवं भ्रामक हैं। किसी व्यक्ति की मृत्यु ही उसका निर्वाण है तथा उसकी पीढ़ीविशेष में उसकी मनोशारीरिक विशेषताओं का प्रकटन पूर्णतया रुक जाना ही उसका **परिनिर्वाण** है। प्रायः सात पीढ़ियों के बाद परिनिर्वाण हो जाता है। व्यक्ति के वंशजों को उसका नाम भी स्मरण न रह जाना ही उसका **महापरिनिर्वाण** है। इन समस्त बातों को समझ जाना ही **तत्त्वज्ञान** है।

विज्ञान की आधुनिक खोजों से पता चलता है कि मानवशरीर की कोशिकाओं (cells) के केन्द्रक (nuclei) में 23 जोड़े **गुणसूत्र** (chromosomes) होते हैं। प्रत्येक गुणसूत्र दो **अर्धसूत्रों** मे विभक्त होता है और उस पर **जीन्स** (genes) लगे होते हैं जो व्यक्ति के आनुवांशिक गुणों के वाहक होते हैं। प्रत्येक गुणसूत्र में DNA का केवल एक, अत्यधिक लम्बा व द्विकुण्डलित सूत्रनुमा अणु होता है जो न्यूक्लिओटाइड (nucleotide) अणुओं की इकाइयों (monomers) का एक जटिल बहुलक (polymer) होता है और इस बहुलक के छोटे–छोटे खण्ड एकाकी जीन्स का कार्य करते हैं। गुणसूत्रों के 22 जोड़ों में से प्रत्येक जोड़े के दोनों गुणसूत्र माप, आकृति एवं रचना में परस्पर समान अर्थात् **समजात** (homologous) होते हैं किन्तु 23वें जोड़े के दोनों गुणसूत्र **असमजात** होते हैं। 23वाँ जोड़ा व्यक्ति के लिंग (पुंसत्व अथवा स्त्रीत्व) के लिए उत्तरदायी होता है। प्रत्येक जोड़े के दोनों सजातीय गुणसूत्रों में से एक माता से तथा एक पिता से प्राप्त होता है। स्त्री के 23वें जोड़े में दो X गुणसूत्र होते हैं जबकि पुरुष के 23वें जोड़े में एक X तथा एक Y गुणसूत्र होता है। अण्डाणुओं तथा शुक्राणुओं का निर्माण जननकोशिकाओं के **अर्द्धसूत्री विभाजन** (meiosis) द्वारा होता है। अतः स्त्री के समस्त अण्डाणु X गुणसूत्र से युक्त होते हैं जबकि पुरुष के आधे शुक्राणु X गुणसूत्र से तथा शेष आधे शुक्राणु Y गुणसूत्र से युक्त होते हैं। प्रतिमाह प्रायः एक ही अण्डाणु स्त्री के अण्डाशय से निकलकर गर्भाशय में आता है। मैथुन के समय पुरुष के लाखों शुक्राणु उस एक अण्डाणु की ओर बढ़ते हैं। अधिकांश शुक्राणु अण्डाणु के बगल से निकल जाते हैं। अण्डाणु में एक निश्चित प्रवेश–द्वार होता है। अण्डाणु से टकराने वाले शुक्राणुओं में से जो भी उस

प्रवेश–द्वार से टकराता है उसी को भीतर प्रवेश मिल पाता है। किसी भी शुक्राणु द्वारा अण्डाणु में प्रविष्ट होते ही वह प्रवेश–द्वार बन्द हो जाता है, फलतः किसी अन्य शुक्राणु द्वारा अण्डाणु में प्रविष्ट होने की सम्भावना समाप्त हो जाती है। यह प्रविष्ट शुक्राणु यदि X गुणसूत्रयुक्त हो तो पुत्री का जन्म होता है और यदि Y गुणसूत्रयुक्त हो तो पुत्र का जन्म होता है। अतः पुरुष का शुक्राणु ही लिंगनिर्धारक होता है न कि स्त्री का अण्डाणु। यह तथ्य पैतृक वंश–परम्परा की वैज्ञानिकता को और भी पुष्ट करता है। दूसरे शब्दों मे, पैतृक वंश–परम्परा Y-परम्परा है जिसमें पुत्र केवल स्वपिता से Y गुणसूत्र प्राप्त करता है जबकि मातृक वंश–परम्परा X-परम्परा है जिसमें पुत्री स्वमाता व स्वपिता दोनों से ही X गुणसूत्र प्राप्त करती है। इस प्रकार Y-परम्परा **एकल** होने के कारण अक्षुण्ण बनी रह सकती है जबकि X-परम्परा **मिश्रित** होने के कारण स्वतः भंग होती रहती है अर्थात् जिस प्रकार किसी स्त्री में उसके पिता (अर्थात् पितामही) का X गुणसूत्र होना पूर्णतया अनिवार्य है उसी प्रकार उसकी मातामही का X गुणसूत्र होना कदापि अनिवार्य नहीं है क्योंकि वह मातामही व मातामह में से किसी एक का ही X गुणसूत्र प्राप्त कर सकती है। अतः पैतृक वंश ही वास्तविक वंश है न कि मातृक। इसी कारण मनीषियों ने स्त्री व पुरुष की तुलना क्रमशः **क्षेत्र** व **बीज** से की है। Y गुणसूत्र ही वह कारक है जो पुरुष को बीजत्व प्रदान करता है। Y गुणसूत्र के कारण ही समाज में राजनीति और विज्ञान का सूत्रपात एवं विकास हुआ।

विज्ञानियों का मानना है कि Y गुणसूत्र के कारण ही पुरुषों ने **पति** व **पिता** की संकल्पना प्रस्तुत की थी। Y गुणसूत्र स्त्रियों के लिए विजातीय तत्त्व की भाँति है, अतः कुछ स्त्रियों को पैतृक वंश–परम्परा विजातीय तत्त्व का शासन प्रतीत होती है। यद्यपि पुरुषप्रधान समाज में वे स्त्रियाँ इस विचार को प्रकट नहीं करतीं किन्तु अनुकूल अवसर पाते ही वे **पति** व **पिता** की संकल्पना का विरोध करना आरम्भ कर देती हैं।

Y गुणसूत्र पर अतिन्यून जीन्स ही पाए जाते हैं। इसी कारण अण्डाणु के X गुणसूत्र में निहित आनुवांशिक रोगों के प्रकटन को रोकने में शुक्राणु का Y गुणसूत्र प्रायः असमर्थ होता है। वस्तुतः पुत्र को माता से आनुवांशिक रोग प्राप्त होते हैं जबकि पुत्री को माता–पिता दोनों से ही। इसके अतिरिक्त आनुवांशिक रोगों का प्रकटन प्रायः पुत्र में ही होता है जबकि पुत्री में ये छिपे रहते हैं और आगे चलकर उसके पुत्र में प्रकट हो जाते हैं। दूसरे शब्दों मे, माताएं आनुवांशिक रोगों की **जीनी वाहक** (genic carriers) होती हैं तथा पुत्र आनुवांशिक रोगों से **पीडित** होते हैं। अतः भावी सन्तानों के कल्याण हेतु पुरुष को ऐसी कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए जिसकी माता अथवा पिता किसी आनुवांशिक रोग से ग्रस्त हो। यथा, गंजापन (baldness), बाल्यावस्था में ही केशों का सफेद हो जाना, बवासीर, यक्ष्मा,

आमाशयी रोग, मिरगी रोग, श्वेतकुष्ठ, गलितकुष्ठ, हीमोफीलिया (haemophilia), वर्णान्धता (colour-blindness), पेशीय दुर्बलता (muscular dystrophy), 32 से न्यून अथवा खराब दाँत होना, छोटी श्रोणि–मेखला (short pelvis) इत्यादि, भले ही उस कन्या में ये रोग न हों। यदि उस कन्या में भी इनमें से कोई रोग हो तब तो उससे विवाह का विचार भी न करे। प्रत्येक पुरुष को यह चिन्ता अवश्य करनी चाहिए कि उसके कुल में कोई भी नया आनुवांशिक रोग न आने पाये। हाँ, पुरुष स्वयमेव जिस आनुवांशिक रोग से ग्रस्त है उसी आनुवांशिक रोग वाली स्त्री से विवाह करे तो वह दोषी नहीं कहलाएगा।

आनुवांशिक रोगों से मानवजाति को बचाने हेतु उन कन्याओं की **सैल्पिन्जैक्टोमी** अथवा **ट्यूबैक्टोमी** (salpingectomy or tubectomy) कर देनी चाहिए जिनकी माता अथवा पिता अथवा वे स्वयं किसी आनुवांशिक रोग से ग्रस्त हों। स्त्री की अण्डवाहिनियों को किसी स्थान पर काटकर या बाँधकर अण्डाणुओं का मार्ग बन्द कर देना सैल्पिन्जैक्टोमी अथवा ट्यूबैक्टोमी कहलाती है। इसके द्वारा स्त्री की मातृत्व क्षमता नष्ट नहीं होती। वह चाहे तो अपनी जेठानी अथवा देवरानी अथवा किसी सगोत्र श्रेष्ठ स्त्री के अण्डाणु को स्वपति के शुक्राणु से निषेचित कराकर **परखनली शिशु** (test-tube baby) की माता बन सकती है।

आजकल एक परम्परा चल पड़ी है कि जो पुरुष शुक्राणुओं के अभाव अथवा अन्य किसी कारण से सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ हैं वे गुप्तरूपेण **शुक्राणु बैंक** (sperm bank) जाकर वहाँ निम्न ताप पर जमाकर रखे गये शुक्र (frozen sperm) के द्वारा स्वपत्नी का **कृत्रिम गर्भाधान** (artificial insemination) करा देते हैं। ऐसा करना पूर्णतया शैव संस्कृति के विरुद्ध है। शैव संस्कृति के अनुसार सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ पुरुष को स्वपत्नी के कृत्रिम गर्भाधान हेतु क्रमशः सगे अनुज, सगे अग्रज अथवा सगे चाचा के पुत्र के शुक्र को ही ग्रहण करना चाहिए। ऐसा करने पर उसके पूर्वजों की ही कुलवृद्धि होगी। चाहे जिस पुरुष के शुक्र के द्वारा स्वपत्नी का कृत्रिम गर्भाधान कराना अपने पूर्वजों का घोर अपमान है।

इसी प्रकार यदि स्त्री के पास अण्डाणु न हों तो शैव संस्कृति के अनुसार वह क्रमशः सगी जेठानी, सगी देवरानी, सगी अग्रजा, सगी अनुजा अथवा सगी चचेरी बहिन से अण्डाणु प्राप्त कर सकती है।

पति–पत्नी दोनों ही सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होने पर **दत्तक** सन्तान का ग्रहण करते हैं किन्तु इस हेतु भी पुरुष को क्रमशः सगे भाई की सन्तान अथवा सगे चचेरे भाई की सन्तान का ही ग्रहण करना चाहिए। चाहे जिस व्यक्ति की सन्तान को दत्तक के रूप में ग्रहण करना शैव संस्कृति के प्रतिकूल ही है।

इसी प्रकार **पुत्रिका** करना (किसी पुत्रहीन पुरुष द्वारा स्वपुत्री के पुत्र को दत्तक पुत्र के रूप में ग्रहण करना) भी शैव संस्कृति के विरुद्ध है क्योंकि ऐसा करने पर पूर्वजों के Y गुणसूत्र की परम्परा नष्ट हो जाती है। अतः पुत्रहीन पुरुष को अपने सगे भाई के पुत्र को अथवा चचेरे भाई के पुत्र को ही दत्तक पुत्र के रूप में ग्रहण करना चाहिए न कि स्वपुत्री के पुत्र को।

एकविवाह तथा बहुविवाह भी विचारणीय विषय हैं। यद्यपि हम एकविवाह के पक्षधर हैं तथापि उसे अनिवार्य किए जाने के घोर विरोधी हैं। ''हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955'' के द्वारा हिन्दुओं के लिए बहुविवाह को प्रतिबन्धित कर दिया गया है। यह अधिनियम हिन्दू समाज के लिए अतिघातक है। इस अधिनियम के कारण रूपवती व गुणवती कन्याएं ऐसे धनाढ्य पुरुषों की पत्नी बनने से वंचित रह जाती हैं जो दहेजविरोधी हैं किन्तु रूप व गुण के आकांक्षी हैं। अतः हिन्दू पुरुषों को **बहुपत्नीत्व** का अधिकार देना अतिआवश्यक है। राज्य केवल इस बात की चिन्ता करे कि प्रत्येक पत्नी का **न्यूनतम जीवनस्तर** क्या हो। यथा, प्रत्येक पत्नी को एक पृथक् आवास अथवा न्यूनातिन्यून एक पृथक् प्रकोष्ठ तो मिलना ही चाहिए जिसमें शौचालय व स्नानागार भी संयुक्त हों। बहुपत्नीत्व के कारण हिन्दू समाज में श्रेष्ठ कन्याओं का महत्त्व बढ़ेगा तथा दहेज की प्रवृत्ति भी क्षीण होगी।

शाक्त जन **बहुपतित्व** को भी उचित मानते हैं तथा स्वमत की पुष्टि हेतु महाभारत में वर्णित **एक ही द्रौपदी** के पाँच पतियों का उल्लेख करते हैं। ऐसे लोगों को यह अवश्य जानना चाहिए कि महाभारत के अनुसार **पाँच द्रौपदियों** में से प्रथम द्रौपदी के स्वयंवर की शर्त अर्जुन ने पूरी की थी तथा स्वयंवर में उपस्थित राजाओं को भीम व अर्जुन ने सँभाला था किन्तु प्रथम द्रौपदी (कृष्णा) का विवाह केवल युधिष्ठिर के साथ ही हुआ था न कि पाँचों पाण्डवों के साथ तथा शेष चार द्रौपदियों का विवाह क्रमशः चारों पाण्डवों के साथ हुआ था।

ततः समाधाय स वेदपारगो जुहाव मन्त्रैर्ज्वलितं हुताशनम्।

युधिष्ठिरं चाप्युपनीय मन्त्रविन्नियोजयामास सहैव कृष्णया।। महाभारत, आदिपर्व (197–11)

सीता, उर्मिला, माण्डवी व श्रुतिकीर्ति इन **चार जानकियों** का विवाह भी क्रमशः राम, लक्ष्मण, भरत व शत्रुघ्न से हुआ था। उस समय एक ही स्वयंवर के द्वारा सभी पुत्रियों के विवाह की परम्परा प्रचलित थी। वस्तुतः महाभारत के **दाक्षिणात्य** संस्करण में ही **पाँचों** पाण्डवों को **एक ही** द्रौपदी के पाँच पतियों के रूप में वर्णित किया गया है। दक्षिणभारत के नीलगिरि क्षेत्र में रहने वाली **कोटा** व **टोडा** जनजातियों में यह प्रथा है कि सभी भाई एक ही स्त्री से विवाह करते हैं तथा स्त्री के गर्भवती होने पर सभी भाइयों में से जो भी उसे एक बाण व धनुष भेंट करता है उसी को भावी सन्तान का पिता मान लिया

जाता है। इन्हीं लोगों ने महाभारत के दाक्षिणात्य संस्करण में पाँचों पाण्डवों को एक ही द्रौपदी के पाँच पतियों के रूप में वर्णित किया है। वस्तुतः स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अतिन्यून होने पर ही बहुपतित्व की बात उठाई जाती है। इस सम्भावना को नष्ट करने हेतु समाज में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक होना अतिआवश्यक है किन्तु मूर्खजन स्वपत्नी के गर्भ का लिंगपरीक्षण करवाकर गर्भस्थ कन्याशिशु का गर्भपात करा देते हैं। इस प्रवृत्ति को रोकने हेतु राज्य द्वारा कन्याजन्म को लाभ का विषय बना दिया जाना चाहिए। यथा, नरशिशु के जन्म के एक सप्ताह के भीतर उसका **अनिवार्य स्वास्थ्य बीमा** करवाया जाये अन्यथा नरशिशु के पिता की नसबन्दी कर दी जाये किन्तु कन्याशिशु का **अनिवार्य स्वास्थ्य बीमा** राज्य स्वयं करे, राजकीय विद्यालयों में कन्या का शिक्षणशुल्क न लिया जाये, रेलगाड़ी व अन्य राजकीय वाहनों में भी कन्या का टिकट न लगे इत्यादि। इन सब योजनाओं से राज्य को जो हानि हो उसे पूर्ण करने हेतु वह शिक्षणशुल्क, टिकटशुल्क, सेवाकर इत्यादि में वृद्धि कर सकता है।

हमारा विचार है कि प्रत्येक कन्या के पास **मातृकोष** नामक एक पृथक् बैंक खाता होना चाहिए तथा विवाह के पंजीयन के समय वर द्वारा कन्या के मातृकोष में एक निश्चित **मातृराशि** जमा कराने का राजकीय विधान होना चाहिए। सन्तान का जन्म होने पर इसी मातृराशि से उसका अनिवार्य स्वास्थ्य बीमा किया जाय। स्त्री की मृत्यु के पश्चात् उसकी मातृराशि केवल उसकी सन्तानों को ही प्राप्त हो, न कि पति आदि किसी अन्य को।

वस्तुतः शैव संस्कृति के अनुसार आसुर विवाह की ही भाँति दैव, प्राजापत्य व ब्राह्म विवाह भी निकृष्ट ही हैं। असुरों में यह परम्परा थी कि वर अभीष्ट कन्या के पिता को प्रचुर धन तथा कन्या को भी इच्छित धन देकर विवाह हेतु राजी करता था। कन्या के पिता द्वारा वर से **कन्यामूल्य** वसूले जाने के कारण **आसुर विवाह** वेश्यावृत्ति के तुल्य है। भारत में व्यवस्थित **यज्ञ** (कृषि) का सूत्रपात देवों ने किया था। वे अपने साथ अनेक ऐसे अनाज भी लाये थे जो भारत में अनुपलब्ध थे। उन्होंने ही बताया कि कब, क्या, और कैसे बोया जाये। इस यज्ञकार्य (कृषिकार्य) के विशेषज्ञ **ऋत्विक्** अथवा **ऋतुयाजी** कहलाते थे। ऋत्विक् का अर्थ है – ऋतु के अनुसार बीजवपन, सिंचन आदि कर्मों का विशेषज्ञ। देवों में यह परम्परा थी कि अभीष्ट कन्या से विवाह हेतु वर को न्यूनतम एक वर्ष तक कन्या के पिता की कृषि को सँभालना पड़ता था। इस एकवर्षीय ऋत्विक्कर्म के वेतनस्वरूप कन्या का पिता वर को अपनी कन्या तथा कुछ धन भी देता था। **दैव विवाह** में कन्या को वेतन की वस्तु मान लिया गया है। **प्राजापत्य विवाह** स्वजातीय होता था। प्राजापत्य प्रदेश में यह परम्परा थी कि कन्या व वर के पिता पारस्परिक सहमति से विवाह का निश्चय कर लेते थे। वर के पिता द्वारा कन्या के पिता से कन्या के पैतृक भाग

के रूप में दहेज भी वसूला जाता था। इस विवाह में कन्या का पिता **प्रजापति के सम्मुख** कन्या व वर को **जातिधर्म** का पालन करने की प्रेरणा देकर वर को कन्या सौंप देता था। जातितः वर्ण–व्यवस्था का मेरुदण्ड होने के कारण प्राजापत्य विवाह निकृष्ट ही ठहरता है। **ब्राह्म विवाह** स्वजातीय अथवा अनुलोम विवाह होता था। ब्रह्मावर्त में यह परम्परा थी कि कन्या का पिता **ब्राह्मणों के सम्मुख** वर को अपनी कन्या सौंप देता था। शेष बातें प्राजापत्यवत् ही होती थीं।

शैव संस्कृति के अनुसार आर्ष विवाह ही सर्वश्रेष्ठ है। ऋषियों द्वारा अनुमोदित होने के कारण ही यह **आर्ष** कहलाता है किन्तु इसका वास्तविक अर्थ भुला दिया गया। ऐसा माना जाता है कि **ऋषियों के सम्मुख** गाय व साँड का एक जोड़ा अथवा दो जोड़े वर से लेकर उसे अपनी कन्या सौंप देना ही **आर्ष विवाह** है। यदि ऐसा ही है तो फिर आर्ष विवाह और आसुर विवाह में भेद ही क्या है ! वस्तुतः आसुर विवाह "वेश्यावृत्ति की भावना" का परिचायक है जबकि आर्ष विवाह "मातृत्व की भावना" का परिचायक है। आर्ष विवाह की मूल भावना यह है कि कन्या इस विषय में आश्वस्त हो जाना चाहती है कि वर एक श्रेष्ठ पिता की भाँति अपनी भावी सन्तानों का पालन–पोषण करेगा। एतदर्थ वर धनस्वरूप गाय व साँड का एक जोड़ा अथवा दो जोड़े कन्या के पिता के यहाँ रख देता था ताकि विपन्नता में उसकी सन्तानें अपने मातामह के यहाँ जाकर रह सकें और तब तक गोधन में वृद्धि भी हो चुकी होगी। वर्तमान समय में विवाह के पंजीयन के समय कन्या द्वारा उत्पन्न अपनी भावी सन्तानों हेतु वर द्वारा कन्या के मातृकोष में एक निश्चित राशि जमा की जा सकती है जिससे उसकी सन्तानों का अनिवार्य स्वास्थ्य बीमा, शिक्षा आदि का व्यय पूरा हो सके। हाँ, स्त्री को वेश्या बनने से बचाने हेतु यह प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है कि स्त्री केवल सन्तानों पर ही मातृराशि व्यय करे, न कि अपने व्यसनों पर।

विवाह के पंजीयन के समय वर व कन्या की जननसामर्थ्य परीक्षण रिपोर्ट्स (Fertility test reports) को लगाना भी अनिवार्य किया जा सकता है। इस आधार पर वर व कन्या के चार प्रकार के जोड़े बन सकते हैं – (1) वर व कन्या दोनों समर्थ, (2) वर व कन्या दोनों असमर्थ, (3) वर समर्थ तथा कन्या असमर्थ, (4) वर असमर्थ तथा कन्या समर्थ। शैव संस्कृति के अनुसार इन चारों में से अन्तिम प्रकार पूर्णतया प्रतिबन्धित होना चाहिए क्योंकि यह स्त्री की गरिमा का नाशक है। प्रजनन में असमर्थ व्यक्ति वस्तुतः वर कहलाने योग्य नहीं है।

प्रत्येक पुरुष को यह अधिकार होना चाहिए कि वह अपनी कथित प्रत्येक सन्तान के ममत्व के परीक्षण हेतु डी.एन.ए. परीक्षण करा सके। सन्तान उसी की सिद्ध होने पर वह परीक्षण का व्यय प्रदान करे किन्तु उसकी सिद्ध न होने पर उसका श्वसुर यह व्यय प्रदान करे।

प्रसंगतः वेश्यावृत्ति पर चर्चा करना भी आवश्यक है। राज्य की स्पष्ट नीति होनी चाहिए कि कोई भी **प्रजननसमर्था** अथवा **सन्तानवती** स्त्री वेश्यावृत्ति नहीं कर सकती। **सन्तानहीनता** व **बन्ध्याकरण** इन दोनों प्रतिबन्धों को एक साथ पूर्ण करने वाली स्त्री ही वेश्यावृत्ति का लाइसेंस पा सकती है।

अस्तु, रुद्रपूजन **पति** की तथा **पैतृक वंश–परम्परा** की संकल्पना का द्योतक है। गौरीपूजन **पतिव्रता पत्नी** की संकल्पना का द्योतक है। इसी कारण कुमारियाँ अभीष्ट वर की प्राप्ति हेतु गौरीपूजन करती हैं। रुद्र की ध्यानमुद्रा स्वास्थ्य, शान्ति, प्रसन्नता, मानवता व ज्ञान की द्योतक है। त्रिशूल श्रेष्ठतम अस्त्र–शस्त्रों के संग्रह का द्योतक है। नन्दीपूजन **पशुपालन** तथा **गोवधनिषेध** का द्योतक है। गणेशपूजन भारतीय सीमाओं पर तैनात भारतीय सेनाओं का द्योतक है तथा स्कन्दपूजन विदेशों में तैनात भारतीय सेनाओं का द्योतक है। समस्त जम्बूद्वीप एक राष्ट्र है तथा रुद्र इस राष्ट्र के जनक हैं, अतः समस्त रुद्रभक्तों को जम्बूद्वीप को एक राजनैतिक इकाई का रूप प्रदान करने हेतु सतत संलग्न रहना चाहिए। त्रिरात्र पर्व में रुद्रभक्तों का सम्मेलन तथा समस्त ज्योतिर्लिंगों की यात्रा इस उद्देश्य की पूर्ति का प्रथम चरण है। जम्बूद्वीप के राष्ट्रीय ध्वज में त्रिशूल अंकित होना चाहिए। इस प्रकार शैवों ने परिवार तथा देश की सुरक्षा व समृद्धि हेतु बड़ी ही पार्थिव व नैतिक दृष्टि प्रदान की किन्तु वैष्णव ब्राह्मणों व क्षत्रियों ने अपने निहित स्वार्थों के कारण सर्वदा शैव विचार को बाधित करने का प्रयास किया।

वैष्णवों ने स्वमत की पुष्टि हेतु ध्यान, वास्तुशास्त्र तथा ज्योतिष का भ्रामक रूप प्रस्तुत किया। अतिप्राचीनकाल में दो वर्षों की अवधि **युग** कहलाती थी। **युग** का **युगल** तथा **युग्म** से स्पष्ट साम्य है। बाद में **लगध**प्रभृति ज्योतिषाचार्यों ने पाँच वर्षों की अवधि को युग बताया। कालान्तर में यह युगावधि बढ़कर 100 वर्ष तथा 200 वर्ष हो गयी। इसके पश्चात् 1000 वर्ष के युग की संकल्पना प्रस्तुत की गयी। वैष्णवों ने इस संकल्पना में द्यूतक्रीडा के पासे का समावेश कर दिया। द्यूतक्रीडा के पासे में चार आयताकार तथा दो वर्गाकार फलक होते थे। पासे को फेकने पर केवल आयताकार फलक ही ऊपर आते थे। इन आयताकार फलकों पर क्रमशः एक, दो, तीन व चार बिन्दु होते थे जिनके आधार पर इन फलकों के नाम क्रमशः कलि, द्वापर, त्रेता तथा कृत रखे गए। **कृत** फलक सर्वश्रेष्ठ माना गया क्योंकि **कृत** ऊपर आने पर सर्वाधिक अर्थात् चार स्थानों की बढ़त मिलती थी तथा पुनः पासा फेकने का अवसर भी मिलता था। पासे के चार फलकों के आधार पर वैष्णवों ने चार युग बताए जो क्रमशः कलियुग, द्वापरयुग, त्रेतायुग तथा कृतयुग कहलाए। द्यूतक्रीडा की परम्परा के आधार पर कृतयुग को सर्वोत्तम तथा कलियुग को निकृष्टतम बताया गया। समाज में व्याप्त अन्याय, अत्याचार तथा अधर्म की सन्तोषप्रद व्याख्या हेतु वर्तमानकाल को कलियुग बताया गया तथा धैर्य प्रदान करने हेतु कलियुग के पश्चात्

सर्वाधिक दीर्घ तथा सर्वाधिक श्रेष्ठ युग अर्थात् कृतयुग के आगमन की भविष्यवाणी की गयी। इस प्रकार क्रमशः कलि, कृत, त्रेता, द्वापर तथा पुनः कलि का युगचक्र बताया गया। अब कलियुग ही 1000 वर्षों का हो गया था अतः द्वापरयुग, त्रेतायुग, तथा कृतयुग का मान क्रमशः 2000 वर्ष, 3000 वर्ष तथा 4000 वर्ष हो गया। इन चारों युगों का समूह **चतुर्युग** अथवा **महायुग** कहलाया जो 10,000 वर्षों (4000+3000+2000+1000=10,000) का था। पुनः कलियुग को 1000 वर्षों के स्थान पर 1200 वर्षों का माना गया अतः द्वापरयुग, त्रेतायुग तथा कृतयुग का मान क्रमशः 2400 वर्ष, 3600 वर्ष तथा 4800 वर्ष हो गया। फलतः **महायुग** की अवधि भी 10,000 वर्ष के स्थान पर 12,000 वर्ष (4800+3600+2400+1200 =12,000) हो गयी। जब 1200 वर्षों का कलियुग समाप्ति की ओर आ गया किन्तु धर्मभीरु लोगों को समाज में व्याप्त अन्याय, अत्याचार तथा अधर्म यथावत् ही प्रतीत हुए तो वैष्णवों ने पुनः स्पष्टीकरण दिया कि कलियुग के 1200 वर्ष तो **देववर्ष** हैं, **मानववर्ष** नहीं और एक देववर्ष में 360 मानववर्ष होते हैं। अतः कलियुग का मान 4,32,000 वर्ष (1200×360=4,32,000) है। इस प्रकार वैष्णवों के द्वारा वर्तमानकाल को सदैव कलियुग बताया गया, अतः कृतयुग किसी सुखद आशा की भाँति सदैव भविष्य में ही बना रहा। वैष्णवों के देववर्ष के आधार पर 43,20,000 वर्षों का एक **महायुग** होता है और ऐसे 1000 महायुगों का एक **कल्प** अर्थात् सृष्टिकाल होता है। इतनी ही अवधि का एक **विकल्प** अर्थात् प्रलयकाल होता हैं। प्रलय के पश्चात् पुनः सृष्टि होती है और सृष्टि–प्रलय का यह चक्र दिन–रात की भाँति अनवरत चलता रहता है। एक सृष्टिकाल में 14 **मन्वन्तर** होते हैं और प्रत्येक मन्वन्तर में 71 महायुग (14×71= 994) होते हैं। इस प्रकार वैष्णवों की युग, महायुग, मन्वन्तर आदि की गणना का कोई ज्योतिषीय अर्थात् खगोलीय आधार नहीं है। वस्तुतः कल्प के साथ सामंजस्य स्थापित करने हेतु इनकी अवधियों को मनमाने ढंग से कल्पित किया गया है। कल्प का तात्पर्य है – **भचक्र** (Zodiac) के "एक निश्चित बिन्दु" पर "वसन्त संपात (Vernal Equinox) तथा सभी ग्रहों" के होने की स्थिति से लेकर पुनः उसी स्थिति के आगमन तक का काल।

उपर्युक्त अन्धकारपूर्ण काल में भी रुद्रों के कारण ही भारतीय सीमाएं अभेद्य बनी रहीं। श्रावण मास में होने वाली रुद्रभक्तों की **काँवर–यात्रा** "सीमारक्षक रुद्रों के साथ शैवों के वार्षिक सम्मेलन" का ही अवशिष्ट रूप है। वस्तुतः **निर्वाणवादी** बौद्धों का प्रसार होने पर रुद्रों का प्रभाव समाप्तप्राय हो गया। बौद्धों के अनुसार **निर्वाण** का तात्पर्य है – व्यक्ति का ऐसी वासनाशून्य मनोदशा में पहुँच जाना ताकि उसे जन्म–मरण के चक्र से मुक्ति मिल जाए। अस्तु, जब बौद्ध मठों में भिक्षु व भिक्षुणियाँ साथ–साथ रहने लगे तो शीघ्र ही उनमें असंयम व्याप्त हो गया। इस असंयम ने **वाममार्ग** का रूप धारण कर लिया जिसमें

पंचमकारों अर्थात् मद्य, मांस, मीन, मुद्रा तथा मैथुन को मोक्षदायी बताया गया। बौद्धों की ही **वज्रयान** शाखा ने कुछ **शाक्तों** के साथ मिलकर **वाममार्ग** का सृजन किया। वाममार्गियों ने शाक्तों के **भगपूजन** तथा शैवों के **लिंगपूजन** दोनों को एक साथ करना आरम्भ कर दिया। उन्होंने घोषणा की कि वाममार्ग शाक्तों व शैवों का समन्वय है तथा **भगलिंगपूजन** इस समन्वय का प्रतीक है। इस प्रकार वाममार्गियों ने भगपूजन तथा लिंगपूजन में निहित सन्देशों को नष्ट करने का प्रयास किया। वस्तुतः भगपूजन अथवा लिंगपूजन इस बात के प्रतीक नहीं हैं कि सन्तानोत्पत्ति का हेतु भग अथवा लिंग मे से कौन है। यह तो स्पष्ट ही है कि दोनों के द्वारा ही सन्तानोत्पत्ति होती है। वस्तुतः मूलप्रश्न **सांस्कृतिक** है अर्थात् "वंश–परम्परा पिता से चले अथवा माता से ?" जो मातृक वंश–परम्परा के पक्षपाती हैं वे भगपूजक हैं भले ही वे स्थूलरूपेण भगपूजन करें अथवा न करें। इसी प्रकार पैतृक वंश–परम्परा के पक्षपाती लिंगपूजक हैं भले ही वे स्थूलरूपेण लिंगपूजन करें अथवा न करें। वस्तुतः माता की संकल्पना **प्राकृतिक** है **सांस्कृतिक** नहीं क्योंकि प्रसव के द्वारा माता का ही ज्ञान होता है पिता का नहीं जबकि प्रसव के कारणभूत मैथुन में पिता भी सम्मिलित होता है। यदि कोई स्त्री एकसाथ कई पुरुषों से मैथुन करे और गर्भवती हो जाये तो सन्तानोत्पत्ति होने पर वे सभी पुरुष उस सन्तान के पिता नहीं होंगे अपितु कोई एक ही होगा किन्तु "उस एक" का पता लगाना प्राचीनकाल में कदापि सम्भव नहीं था क्योंकि उस समय डी.एन.ए. परीक्षण तो होता नहीं था। ऐसे में वे सभी पुरुष सन्तान के पालन–पोषण का उत्तरदायित्व एक–दूसरे पर टाल सकते थे। इस समस्या के समाधान हेतु कुछ कबीलों में **पति** (स्वामी) की संकल्पना का उदय हुआ जो स्वस्त्री से उत्पन्न सन्तानों का **पिता** (उत्तरदायी अथवा पालक) कहलाया। स्वाभाविकरूपेण ही उन कबीलों में परपति अथवा परपत्नी से समागम करना जघन्य अपराध माना गया। अतः पितृसत्तात्मक कबीले सांस्कृतिकदृष्ट्या मातृसत्तात्मक कबीलों से उच्चतर थे। इस प्रकार भगपूजन तथा लिंगपूजन दोनों एकसाथ किए ही नहीं जा सकते क्योंकि एकसाथ माता तथा पिता दोनों से ही वंश–परम्परा चलाना व्यवहारतः असम्भव है। अतः वाममार्गियों द्वारा भगपूजन तथा लिंगपूजन एकसाथ करना भ्रामक ही है। उनके द्वारा ऐसा किया जाना इस बात को सिद्ध करता है कि उन्हें इस बात से कोई प्रयोजन नहीं है कि वंश–परम्परा माता से चले अथवा पिता से। उन्हें तो येन केन प्रकारेण भगलिंगसंयोग अर्थात् मैथुन से ही प्रयोजन है। वस्तुतः वाममार्ग पूर्णतया शैव संस्कृति के प्रतिकूल है जबकि शाक्त संस्कृति से इसकी कोई प्रतिकूलता नहीं है अपितु अनुकूलता ही है। इसी कारण शाक्तों ने वाममार्ग को आत्मसात कर लिया।

कालान्तर में वाममार्गियों ने शैवों में घुसपैठ आरम्भ कर दी। यद्यपि वे शैवों को पूर्णतया अपने

प्रभाव में न ला सके तथापि उन्होंने शैवों व रुद्रों का प्राचीन विक्रम क्षीण अवश्य कर दिया। इसके पश्चात् बाह्य आक्रान्ता बड़ी ही सरलता से भारत में प्रवेश कर यहाँ की जनता का शोषण करने लगे। ऐसे में वाममार्गियों तथा बाह्य आक्रान्ताओं से स्वकन्याओं की रक्षा हेतु वैष्णवों ने कुछ शाक्तों के साथ मिलकर **श्रीसम्प्रदाय** का सूत्रपात किया। वैष्णवों ने शाक्तों को समझा दिया कि ''जिस **हवनकुण्ड** में हम अग्निहोत्र करते है, वह वस्तुतः **भग** ही है, अतः हमारी और आपकी स्वाभाविक मित्रता है।'' किन्तु शाक्त यह नहीं जानते थे कि श्रीसम्प्रदाय में मिलना उनके लिए आत्मघात के समान ही था क्योंकि **मातृपूजक** शाक्त धारा में ''समस्त सन्तानों के लिए माता सर्वथा व सर्वदा पूज्य है'' जबकि श्रीसम्प्रदाय में ''केवल पुत्र के लिए ही माता पूज्य है तथा पुत्री स्वयमेव माता के लिए पूज्य है''। यह **पुत्रीपूजक** श्रीसम्प्रदाय अन्ततः पैतृक वंश–परम्परा का पोषक तथा मातृक वंश–परम्परा का नाशक सिद्ध हुआ। श्रीसम्प्रदाय में **श्री**देवी की पूजा की जाती थी तथा **विष्णु** को उनका पति बताया जाता था। इसी कारण श्रीदेवी को **वैष्णवी** तथा विष्णु को **श्रीपति** अथवा **श्रीमान्** कहा गया। श्रीसम्प्रदाय के अनुसार नवजात कन्या **श्रीतत्त्व** से युक्त होती है। आयुवृद्धि के साथ ही श्रीतत्त्व क्षीण होता जाता है और कन्या के रजस्वला होते ही श्रीतत्त्व पूर्णतया समाप्त हो जाता है। अतः रजस्वला होने के पूर्व कन्या **श्रीवत्** पूज्य होती है और उस समय उसके साथ मैथुन करना घोर पाप है। श्रीसम्प्रदाय दो संकल्पनाओं पर आधारित था –

(1) कन्या के कौमार्य की पवित्रता (2) पतिव्रता स्त्री की अलौकिकता।

इन दोनों संकल्पनाओं को व्यावहारिक रूप प्रदान करने हेतु श्रीसम्प्रदाय ने चार नियम बनाए –

(1) कन्या के रजस्वला होने के पूर्व ही पिता **कन्यादान** (कन्या का विवाह) अवश्य कर दे अन्यथा कन्या के प्रत्येक रजोस्राव में उसके पिता, माता, पितामह, पितामही तथा कन्या के अग्रजों को **भ्रूणहत्या** का पाप लगता है।

(2) कन्यादान के पश्चात् पिता कन्या को स्वगृह में ही रखे तथा कन्या के रजस्वला होने के पश्चात् ही उसे ससुराल को विदा करे।

(3) एक ही कुल में उत्पन्न दो बहिनों में से अग्रजा के लिए अनुजा **श्रीवत्** तथा उसका पति **विष्णुवत्** पूज्य है।

(4) सभी पुरुषों के लिए स्वकुल में उत्पन्न सभी कन्याएं **श्रीवत्** तथा उनके पति **विष्णुवत्** पूज्य हैं। इसके अतिरिक्त सभी पुरुषों के लिए उनके भागिनेय भी पूज्य हैं।

अस्तु, श्रीसम्प्रदाय ने बाह्य आक्रान्ताओं से कन्याओं की विशेष रक्षा की। बाह्य आक्रान्ता उन युवतियों का हरण अवश्य करते थे जिनका कौमार्य भंग न हुआ हो किन्तु श्रीसम्प्रदाय के कारण युवती

होने के पूर्व ही कन्याएं विवाहित हो जाती थीं। अतः बाह्य आक्रान्ताओं द्वारा कन्याहरण की घटनाओं में न्यूनता आ गयी। शैवों का सहयोग प्राप्त करने हेतु श्रीसम्प्रदाय वालों ने गौरीपूजन भी प्रारम्भ कर दिया। अब उन्होंने कहा कि श्रीदेवी तो **आदिशक्ति** हैं और उन्होंने ही अपनी शक्ति के अंशों से लक्ष्मी, गौरी, सरस्वती, काली आदि को उत्पन्न किया है तथा इनमें से कुछ के लिए उनके पतियों को भी उत्पन्न किया है। शैवों ने भी नैतिकता का उन्नायक समझकर श्रीसम्प्रदाय को प्रोत्साहित किया।

कुछ शैवों को श्रीसम्प्रदाय की यह बात नागवार गुजरी कि रुद्र को भी श्रीदेवी से उत्पन्न बताया जाय। अतः **श्री**सम्प्रदाय की स्पर्धा में उन्होंने **लिंगायत** सम्प्रदाय का सृजन किया। इस सम्प्रदाय में बताया गया कि सृष्टि के आदि में ईश्वर ने अपने तेज से एक अतिविशाल ज्योतिर्मय लिंग प्रकट किया। उसी ज्योतिर्मय लिंग से सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न हुई। उसी लिंग के दक्षिणभाग से रुद्र, विष्णु आदि की उत्पत्ति हुई तथा वामभाग से गौरी, लक्ष्मी आदि की उत्पत्ति हुई। दक्षिणभाग से उत्पन्न होने वालों में रुद्र सर्वश्रेष्ठ हैं तथा वामभाग से उत्पन्न होने वालों में गौरी सर्वश्रेष्ठ हैं। सृष्टि के अन्त में पुनः वही ज्योतिर्मय लिंग प्रकट होगा और सब कुछ उसी लिंग में विलीन हो जाएगा। इस प्रकार लिंगायत सम्प्रदाय में **संशोधित श्रीसम्प्रदाय** भी अन्तर्निहित है। इस संशोधित श्रीसम्प्रदाय को शैवों ने **गौरी सम्प्रदाय** का नाम दिया। इस सम्प्रदाय में प्रत्येक अष्टमी को गौरी–गणेश की पूजा की जाती है। इसके उपरान्त माता (शुक्लाष्टमी) व पितामही (कृष्णाष्टमी) का पूजन किया जाता है।

कालान्तर में वाममार्गियों ने श्री तथा लिंगायत सम्प्रदायों में भी घुसपैठ का प्रयास किया किन्तु उन्हें विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई। इनके अतिरिक्त अनेकों अन्य सम्प्रदायों का भी सृजन हुआ किन्तु उनके पास कोई मौलिक विचार नहीं था और उनके कारण फैली साम्प्रदायिकता ने हिन्दू समाज को और भी विभाजित कर दिया और बाह्य आक्रान्ताओं के विरुद्ध हिन्दुओं का ध्रुवीकरण न हो सका। अन्ततः इस्लामिक आक्रान्ताओं का आगमन हुआ। उन्होंने भारतीय सीमाओं से लगे बौद्ध देशों को बड़ी ही सरलता से बलात् इस्लामिक बना लिया और इस प्रकार ''सहिष्णु बौद्ध'' ''जिष्णू मोमिन'' बन गये। इनकी सम्मिलित शक्ति ने भारत में घुसकर अत्याचार और **तबलीग** (इस्लामप्रचार) की ऐसी आँधी चलाई जिसका परिणाम सन् 1947 में पूर्वी तथा पश्चिमी पाकिस्तान के रूप में सामने आया। सन् 1971 में भारत की तत्कालीन प्रधानमन्त्री इन्दिरा गान्धी के सत्प्रयासों से पूर्वी पाकिस्तान बांग्लादेश में परिणत हो गया तथा ''भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री जवाहर लाल नेहरू द्वारा अदूरदर्शितापूर्वक राष्ट्रसंघ में ले जाया गया'' कश्मीर का मुद्दा **शिमला समझौते** के द्वारा पुनः राष्ट्रसंघ से वापिस ले लिया गया और भारत–पाकिस्तान की आपसी बातचीत द्वारा इसे सुलझाने का निश्चय किया गया। आज भारत अपनी प्राकृतिक तथा

वास्तविक सीमाओं को तो गँवा ही चुका है, इसके अतिरिक्त अपनी वर्तमान सीमाओं की रक्षा करने में भी पूर्ण समर्थ नहीं है। पाकिस्तान द्वारा पश्चिमोत्तर कश्मीर का तथा चीन द्वारा तिब्बत का अधिग्रहण इसी तथ्य के जीवन्त उदाहरण हैं। अब, केवल और केवल **रुद्रतत्त्व** का पुनर्जागरण ही भारत को इस विकट और भयावह परिस्थिति से उबार कर पुनः सशक्त और संगठित बना सकता है।

अस्तु, वर्णों के सम्बन्ध में दो आधारभूत विचार हैं। प्रथम है शैव विचार जो मानवीय है। इसके अनुसार सभी जातियों में चारों वर्णों के लोग होते हैं जिनकी संख्या का अनुपात भिन्न–भिन्न जातियों में भिन्न–भिन्न हो सकता है। द्वितीय है वैष्णव विचार जिसका सूत्रपात व पोषण बाह्य शक्तियों द्वारा किया गया। इसके अनुसार चारों वर्ण वंशानुगत होते हैं तथा प्रत्येक जाति को किसी एक वर्ण में अथवा दो वर्णों के अन्तराल (मध्य) में ही स्थान मिल सकता है। निश्चित ही, उच्चवर्ण में स्थान प्राप्त कर चुकीं जातियों के लिए वैष्णव विचार अधिक आकर्षक था, अतः इसके प्रसार हेतु उन्होंने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। वैष्णव विचार को क्षीण करने हेतु यह आवश्यक है कि कथित निम्न जातियाँ अपने लिए **कर्मवाचक** नामों के स्थान पर **पूर्वजवाचक** नामों का प्रयोग करें। अतिदीर्घ काल से अन्तर्विवाह होते रहने के कारण इन जातियों के सदस्यों में रक्तनैकट्य उत्पन्न हो गया है। अतः इन जातियों को गणगोत्रों में तथा इनकी उपजातियों को पक्षगोत्रों में परिणत हो जाना चाहिए। इस प्रकार बहिर्जातीय विवाह बहिर्गोत्रीय विवाह में परिणत हो जाएगा तथा षड्गोत्रीय अपकाम से बचना अतिसरल हो जाएगा।

कथित ब्राह्मणों के लिए भी हमारा आह्वान है कि वे भार्गवों की पूर्वकालिक रुद्रभक्ति व राष्ट्रभक्ति का स्मरण कर शैव संस्कृति के प्रसार में सहभागिता करें।

पौरोहित्य भी स्वगोत्रीय होना चाहिए। स्वकुलगोत्र के किसी ज्ञानवृद्ध व्यक्ति को अपना पुरोहित बनाना चाहिए। यह ध्यातव्य है कि शैव संस्कृति में **पुरोहित** (मार्गदर्शन हेतु सम्मुख उपस्थित) शब्द ही ग्राह्य है, न कि **ब्राह्मण** (अब्राहम का अनुयायी)। यह भी ध्यातव्य है कि वयसा कनिष्ठ पुरोहित के चरण स्पर्श नहीं करने चाहिए क्योंकि ऐसा करने से वर्णों को वंशानुगत मानने की प्रवृत्ति को बल प्राप्त होता है। यही वह उपाय था जिसके द्वारा वैष्णव संस्कृति के धूर्त ब्राह्मणों ने ब्राह्मणेतर वर्णों रूपी बाजारों में अपने पौरोहित्य रूपी मिथ्या माल को बेचा। इसी प्रकार जातिविशेष के लिए आरक्षण की व्यवस्था भी देशविघातक है। केवल सैनिकों की सन्तानों व विकलांगों के लिए ही आरक्षण होना चाहिए और यह आरक्षण भी 20 प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिए। प्रत्येक विद्यालय में पाँचवी कक्षा के पश्चात् स्काउट–गाइड अथवा एन.सी.सी. पूर्णतया अनिवार्य हो ताकि विद्यार्थियों में राष्ट्रभाव का जागरण हो सके।

हाई स्कूल तक विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम में पाँच विषय व तीन भाषाएं होनी चाहिए। पाँच विषय हैं – गणित, विज्ञान, सामान्य अध्ययन,कला व संगीत। सामान्य अध्ययन के अन्तर्गत कम्प्यूटर, इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र, पर्यावरण आदि की थोड़ी–थोड़ी जानकारी सम्मिलित हो। कला के अन्तर्गत चित्रकला,मूर्तिकला आदि कलाओं में से किसी एक का तथा संगीत के अन्तर्गत किसी एक वाद्ययन्त्र का ज्ञान अनिवार्य हो ताकि विद्यार्थियों की यन्त्रसम्बन्धी **प्रवीणता** विकसित हो सके। कला व संगीत में **अंकों** (marks) के स्थान पर **ग्रेड** (grade) प्रदान किये जायें। प्रथम भाषा के रूप में इंग्लिश, द्वितीय भाषा के रूप में कोई एक भारतीय क्षेत्रीय भाषा तथा तृतीय भाषा के रूप में एक विदेशी भाषा का अध्ययन अनिवार्य होना चाहिए ताकि भारतीय विद्यार्थी सर्वत्र सफलतापूर्वक संवाद स्थापित कर सकें। हिन्दी व संस्कृत को द्वितीय भाषा के अन्तर्गत ही स्थान दिया जाय। साहित्य, सिनेमा आदि हिन्दी की रक्षा करने में पूर्ण समर्थ हैं, अतः हिन्दी को सर्वत्र थोपकर हिन्दीविद्वेष उत्पन्न करना अनावश्यक है।

क्षेत्रवाद की दुर्बलता हेतु यह राजकीय विधान होना चाहिए कि कोई भी व्यक्ति ब्लॉक प्रमुख पद हेतु अपने जनपद से, विधायक पद हेतु अपनी कमिश्नरी से तथा सांसद पद हेतु अपने प्रान्त से प्रत्याशी न हो सके। राष्ट्रपति (President) तथा प्रान्तपति (Governer) का चुनाव अमेरिकी पद्धति पर हो ताकि जनता में एकता की भावना विकसित हो।

पेट्रोल, डीजल आदि समस्त आयातित वस्तुओं पर किसी भी प्रकार की सब्सिडी न दी जाये तथा कोई भी व्यक्ति एक निश्चित मात्रा से अधिक स्वर्ण अपने पास न रख सके। उस निश्चित मात्रा से अधिक स्वर्ण रखना दण्डनीय होना चाहिए ताकि स्वर्ण के अतिआयात के कारण होने वाला भारतीय मुद्रा का बहिर्गमन घट सके।

अस्तु, समस्त कुलपुरोहितों के ऊपर पक्षपुरोहित तथा उनके भी ऊपर गणपुरोहित होने चाहिए इन पुरोहितों का पारस्परिक सम्बन्ध तथा इन पुरोहितों व इनके यजमानों का पारस्परिक सम्बन्ध इस जम्बूद्वीप में **रुद्रतत्त्व** का पुनर्जागरण कर देगा। जब शैव संस्कृति ''जातिविशेष के लिए वर्णविशेष की कामना करने वाली'' वैष्णव संस्कृति को पूर्णतया शक्तिहीन बना देगी तभी जाम्बवों को वास्तविक अर्थों में सामाजिक व राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त होगी। इस पुनीत एवं गुरुतर कार्य का दायित्व शैव संस्कृति के पुरोहितों पर है। हम उनकी तत्परता व सफलता की कामना करते हैं।

वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः।

।। इति प्रस्तावना।।

प्रथम अध्याय

वर्ण–व्यवस्था की आद्य संकल्पना

स्मृति परम्परा के आचार्य

प्रस्तुत प्रकरण महामहोपाध्याय डॉ. पाण्डुरंग वामन काणे के ''धर्मशास्त्र का इतिहास–प्रथम भाग'' के प्रथम खण्ड के ''स्मृतियाँ'' नामक प्रकरण से उद्धृत है।

''स्मृति'' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। एक अर्थ में यह वेदवाङ्मय से इतर ग्रन्थों, यथा पाणिनि के व्याकरण, श्रौत, गृह्य एवं धर्मसूत्रों, महाभारत, मनु, याज्ञवल्क्य एवं अन्य ग्रन्थों से सम्बन्धित है। किन्तु संकीर्ण अर्थ में स्मृति एवं धर्मशास्त्र का अर्थ एक ही है, जैसा कि मनु का कहना है।[1] तैत्तिरीय आरण्यक (1–2) में भी ''स्मृति'' शब्द आया है। गौतम (1–2) तथा वसिष्ठ (1–4) ने स्मृति को धर्म का उपादान माना है।

आरम्भ में स्मृति–ग्रन्थ कम ही थे। गौतम (11–19) ने मनु को छोड़कर किसी अन्य स्मृतिकार का नाम नहीं लिया है, यद्यपि उन्होंने धर्मशास्त्रों का उल्लेख किया है। बौधायन ने अपने को छोड़कर सात धर्म–शास्त्रकारों के नाम लिये हैं – औपजंघनि, कात्य, काश्यप, गौतम, प्रजापति, मौद्गल्य एवं हारीत। वसिष्ठ ने केवल पाँच नाम गिनाये हैं – गौतम, प्रजापति, मनु, यम एवं हारीत। आपस्तम्ब ने दस नाम लिखे हैं, जिनमें एक, कुणिक, पुष्करसादि केवल व्यक्ति–नाम हैं। मनु ने अपने को छोड़कर छः नाम लिखे हैं – अत्रि, उतथ्य के पुत्र, भृगु, वसिष्ठ, वैखानस (या विखनस) एवं शौनक। याज्ञवल्क्य ने सर्वप्रथम एक स्थान पर 20 धर्मवक्ताओं के नाम दिये हैं, जिनमें वे स्वयं एवं शंख तथा लिखित दो पृथक्–पृथक् व्यक्ति के रूप में सम्मिलित हैं। याज्ञवल्क्य ने बौधायन का नाम छोड़ दिया है। पराशर ने अपने को छोड़कर 19 नाम गिनाये हैं। किन्तु याज्ञवल्क्य एवं पराशर की सूची में कुछ अन्तर है। पराशर ने बृहस्पति, यम एवं व्यास को छोड़ दिया है किन्तु काश्यप, गार्ग्य एवं प्रचेता के नाम सम्मिलित कर लिये हैं। कुमारिल के तन्त्रवार्तिक में 18 धर्म–संहिताओं के नाम आये हैं। विश्वरूप ने वृद्ध–याज्ञवल्क्य के श्लोक को उद्धृत कर याज्ञवल्क्य की सूची में दस नाम जोड़ दिये हैं। चतुर्विंशतिमत नामक ग्रन्थ में 24 धर्मशास्त्रकारों के नाम उल्लिखित हैं। इस सूची में याज्ञवल्क्य वाली सूची के दो नाम, यथा कात्यायन एवं लिखित छूट गये हैं, किन्तु छः नाम अधिक हैं, यथा गार्ग्य, नारद, बौधायन, वत्स, विश्वामित्र, शंख (शांख्यायन ?)। अंगिरा

---

1. श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः। मनु. 2–10

ने, जिसे स्मृतिचन्द्रिका, हेमाद्रि, सरस्वतीविलास तथा अन्य ग्रन्थों ने उद्धृत किया है, उपस्मृतियों के नाम भी गिनाये हैं। एक अन्य स्मृति का नाम है षट्त्रिंशन्मत, जिसे मिताक्षरा, अपरार्क तथा अन्य ग्रन्थों ने उल्लिखित किया है। पैठीनसि ने 36 स्मृतियों के नाम गिनाये हैं। अपरार्क के अनुसार भविष्यत्पुराण में 36 स्मृतियों के नाम गिनाये हैं। वृद्ध–गौतमस्मृति में 57 धर्मशास्त्रों के नाम आये हैं। वीरमित्रोदय में उद्धृत प्रयोगपारिजात ने 18 मुख्य स्मृतियों, 18 उपस्मृतियों तथा 21 अन्य स्मृतिकारों के नाम लिखे हैं।[2] यदि बाद में आने वाले निबन्धों, यथा निर्णयसिन्धु, नीलकण्ठ एवं वीरमित्रोदय की मयूख–सूचियों को देखा जाय तो स्मृतियों की संख्या लगभग 100 हो जायगी।

विश्वसनीय स्मृतियाँ कई युगों की कृतियाँ हैं। कुछ तो पूर्णतया गद्य में, कुछ मिश्रित अर्थात् गद्य–पद्य में हैं और अधिकांश पद्य में हैं। कुछ अतिप्राचीन हैं और ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व प्रणीत हुई थीं, यथा गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन के धर्मसूत्र एवं मनुस्मृति। कुछ का प्रणयन ईसा की प्रथम शताब्दी में हुआ, यथा याज्ञवल्क्य, पराशर एवं नारद। उपर्युक्त स्मृतियों के अतिरिक्त अन्य 400 ई. से 1000 ई. के बीच की हैं। सबका काल–निर्णय सरल नहीं है। कुछ तो प्राचीन सूत्रों के पद्यों में संशोधन मात्र हैं, यथा शंख। कभी–कभी दो या तीन स्मृतियाँ एक ही नाम के साथ चलती हैं, यथा शातातप, हारीत, अत्रि। कुछ में तो पूर्णरूपेण साम्प्रदायिकता पायी जाती है, यथा हारीतस्मृति, जो वैष्णव है। कुछ स्मृतियों के प्रणेता हैं प्रमुख स्मृतिकार; किन्तु वृद्ध, बृहत् एवं लघु की उपाधियों के साथ, यथा वृद्ध–याज्ञवल्क्य,

---

2. 18 मुख्य स्मृतिकार हैं – मनु, बृहस्पति, दक्ष, गौतम, यम, अंगिरा, योगीश्वर, प्रचेता, शातातप, पराशर, संवर्त, उशना, शंख, लिखित, अत्रि, विष्णु, आपस्तम्ब, हारीत। उपस्मृतियों के लेखक हैं –

नारदः पुलहो गार्ग्यः पुलत्स्यः शौनकः क्रतुः। बौधायनो जातुकर्णो विश्वामित्रः पितामहः।।
जाबालिर्नाचिकेतश्च स्कन्दो लौगाक्षिकश्यपौ। व्यासः सनत्कुमारश्च शन्तनुर्जनकस्तथा।।
व्याघ्रः कात्यायनश्चैव जातूकर्ण्यः कपिंजलः। बौधायनश्च काणादो विश्वामित्रस्तथैव च।
पैठीनसिर्गोभिलश्चेत्युपस्मृतिविधायकाः।।

अन्य 21 स्मृतिकार हैं –

वसिष्ठो नारदश्चैव सुमन्तुश्च पितामहः। विष्णुः कार्ष्णाजिनिः सत्यव्रतो गार्ग्यश्च देवलः।।
जमदग्निर्भरद्वाजः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः। आत्रेयश्च गवेयश्च मरीचिर्वत्स एव च।।
पारस्करश्चर्ष्यशृंगो वैजवापस्तथैव च। इत्येते स्मृतिकर्तार एकविंशतिरीरिताः।।

वीरमित्रोदय, परिभाषा प्रकरण, पृष्ठ 18

वृद्ध–गार्ग्य, वृद्ध–मनु, वृद्ध–वसिष्ठ, बृहत्–पराशर आदि।

।। इति प्रथमाध्यायान्तर्गतं प्रथमप्रकरणम्।।

वेदों में वर्ण

प्राजापत्य व ब्राह्म संस्कृति के अधिकांश शास्त्रकार स्वस्वप्रतिपाद्य का मूल उत्स वेद में ही दिखाने का प्रयास करते हैं। वर्ण–व्यवस्था के प्रमुख व्याख्याता मनु भी वर्ण–व्यवस्था का उद्गम वेद से ही मानते हैं। वे कहते हैं – "उस ईश्वर ने सभी पदार्थों के नाम तथा भिन्न–भिन्न कर्म तथा पृथक् विभाग सृष्टि के आदि में ही वेदों के शब्दों से ही बनाये।"[3]

ब्राह्मण व क्षत्रिय शब्द ऋग्वेद में बहुधा प्रयुक्त हुए हैं किन्तु वैश्य व शूद्र शब्द पुरुष सूक्त के अतिरिक्त ऋग्वेद में अन्यत्र प्रयुक्त नहीं हुए हैं। यद्यपि अथर्ववेद तथा तैत्तिरीय संहिता में बहुत्र उनका प्रयोग हुआ है। अस्तु, वेदों के उल्लेख वर्णों को किंचित् भी वंशानुगत सिद्ध नहीं करते। वेदों की एक शैली है कि व्यवहारसम्बन्धी अनेकों बातों का उपदेश गाथारूप में किया गया है। ऋग्वेद (10–98) की एक गाथा कहती है कि देवापि एवं शन्तनु दोनों ऋष्टिषेण के पुत्र थे। शन्तनु छोटा भाई था, किन्तु वही राजा हुआ क्योंकि देवापि ने राजा होने में अनिच्छा प्रकट की। शन्तनु के पापाचरण के फलस्वरूप अकाल पड़ा और देवापि ने यज्ञ करके वर्षा कराई। देवापि शन्तनु का पुरोहित था। इस गाथा से यह स्पष्ट है कि एक ही व्यक्ति के दो पुत्रों में से एक क्षत्रिय तथा दूसरा ब्राह्मण हो सकता था।[4] ऋग्वेद (9–112–3) में एक कवि कहता है कि "मैं स्तुतिकर्ता (अर्थात् ब्राह्मण) हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं, मेरी माँ चक्कियों में आटा पीसती है (अर्थात् वैश्य है)। हम लोग विविध क्रियाओं द्वारा धनोपार्जन करना चाहते हैं।" ऋग्वेद में अन्यत्र कवि कहता है कि – "हे सोमपान करने इन्द्र! क्या तुम मुझे लोगों का रक्षक बनाओगे या राजा ? क्या तुम मुझे सोम पीकर मस्त रहने वाला ऋषि बनाओगे या अनन्त धन दोगे ? स्पष्टतः दिखता है कि एक ही व्यक्ति ऋषि, राजा या वैश्य हो सकता था।

यद्यपि वैश्य शब्द ऋग्वेद में केवल पुरुष सूक्त में ही आया है किन्तु 'विश्' शब्द कई बार आया है। अनेकत्र 'मानुषीर्विशः' या 'मानुषीषु विक्षु' या 'मानुषीणां विशाम्' प्रयोग आये हैं। ऋग्वेद में आया है – "हे इन्द्र, तुम मानवीय झुण्डों एवं दैवी झुण्डों के नेता हो।" [इन्द्र क्षितीनामसि मानुषीणां विशां दैवीनामुत

---

3. सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवाऽऽदौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे।।

मनु. 1–21

4. कारुरहं ततोभिषगुपल प्रक्षिणी नना। नानधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्द्रो परि स्रव।।

पूर्वयावा। ऋग्वेद (3–42–2)]। इन सब वर्णनों से ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेदोक्त 'विश्' शब्द उस सामान्य जनता का प्रतीक है जो धार्मिक नियमों एवं परम्पराओं को मानने वाली है। अतः प्रकारान्तर से यह सिद्ध होता है कि मनुष्यों में सर्वाधिक संख्या वैश्यों की ही होती है, ब्राह्मण व क्षत्रिय सर्वदा न्यून ही रहते हैं अर्थात् विश् कहने पर प्रसंगानुसार ब्राह्मणों व क्षत्रियों का अन्तर्भाव भी वैश्यों के साथ ही हो सकता है किन्तु ब्राह्मण व क्षत्रिय कहने पर केवल उनका ही ग्रहण होता है।

।। इति प्रथमाध्यायान्तर्गतं द्वितीयप्रकरणम्।।

वर्णों की तुलना पुरुष शरीर से

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में परमपुरुष (हिरण्यगर्भ) के मुख, बाहू, जंघा व पाद से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र वर्ण की उत्पत्ति कही गयी है।[5] अर्थात् सम्पूर्ण मानवता एक शरीर की भाँति है तथा सभी वर्णों के कार्य उसी प्रकार सुनिश्चित हैं जिस प्रकार शरीर में अवयवों के कार्य सुनिश्चित होते हैं। किसी भी अवयव के कार्य में जब व्यत्यय होता है तो उसका कुप्रभाव केवल उस अवयव पर ही नहीं अपितु सम्पूर्ण शरीर पर पड़ता है। अतः प्रत्येक वर्ण अपने–अपने निर्दिष्ट कार्यों को ही करें न कि अन्य वर्णों के कार्यों को तभी मानवता ठीक रह सकती है।

वर्णों की तुलना पुरुष शरीर से करने का एक प्रयोजन यह ज्ञान प्रदान करना है कि चारों वर्णों के उद्भव और अस्तित्व के पीछे एक ब्रह्माण्डीय प्रयोजन (cosmic purpose) है अर्थात् कोई भी वर्ण यदि अपने आपको अन्य वर्णों से पृथक् कर बैठता है तो ऐसा करना उस ब्रह्माण्डीय प्रयोजन तथा उस वर्ण की सार्थकता के विपरीत होगा। वह ब्रह्माण्डीय प्रयोजन क्या है ? मनु कहते हैं – "**लोकों की विवृद्धि** के लिए ईश्वर ने मुख, बाहू, ऊरु तथा पाद से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण की उत्पत्ति की।[6] वस्तुतः सृष्टि के अनेक प्रयोजन हैं जिनमें से एक है – लोकों की विवृद्धि। यदि एक ही प्रकार के मनुष्य हों तो यह जीवन अत्यन्त नीरस, रंगहीन व अरुचिकर हो जायेगा और ऐसी स्थिति में लोकों की विवृद्धि भला कैसे होगी ? मनुष्यों में पायी जाने वाली स्वाभाविक भिन्नता समाज को गति प्रदान करती है। इसके अभाव में समाज में अकर्मण्यता व्याप्त हो जायेगी। किन्तु वर्णों के सम्बन्ध में मनु एक

5. यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्। मुखं किमस्य किं बाहू किमूरू पादा उच्येते।।
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।।

6. लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः। ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्।। मनु. 1–31

चेतावनी भी देते हैं। वे कहते हैं – "उस महातेजस्वी ईश्वर ने इस समस्त **सृष्टि की रक्षा** के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र के पृथक्–पृथक् कर्मों को बनाया।"[7] आशय यह है कि चारों वर्णो की उत्पत्ति पृथक्–पृथक् अंगो से होने के कारण उनके स्वभाव में **भिन्नता** तथा **अपूर्णता** होती है। इस भिन्नता तथा अपूर्णता के कारण चारों वर्ण पारस्परिक कलह में ही नष्ट हो सकते हैं जो सृष्टि के एक अन्य प्रयोजन "सृष्टि की रक्षा" के विरुद्ध होगा। अतः ईश्वर ने चारों वर्णों के लिए पृथक्–पृथक् कर्मों का आदेश दिया है। पृथक्–पृथक् कर्म करते हुए ही चारों वर्ण न केवल एक–दूसरे को उनकी स्वाभाविक अपूर्णताजन्य हानि से बचा सकते हैं अपितु अपनी–अपनी स्वाभाविक भिन्नता का विकास करते हुए एक सुखी तथा वर्द्धमान समाज का निर्माण भी कर सकते हैं।

"लोकों" से क्या तात्पर्य है? अधिकांश जन लोकों से प्राणियों तथा राष्ट्रों का अर्थ ही ग्रहण करते हैं किन्तु ये दोनों अर्थ कदापि पूर्ण चित्र उपस्थित नहीं कर सकते जब तक कि एक तीसरा अर्थ और न जोड़ा जाय और वह है,गोत्र। यदि प्रत्येक गोत्र के भीतर चारों वर्ण सम्यक्तया कार्य करें तो राष्ट्रों तथा प्राणियों की उन्नति होगी ही। गोत्रों की संकल्पना के बिना वर्ण दिग्भ्रान्त होकर वंशानुगत तथा मनमाने हो जायेंगे और न केवल अपनी सार्थकता खो बैठेंगे अपितु मानवता की उन्नति में बाधक भी हो जायेंगे।

।। इति प्रथमाध्यायान्तर्गतं तृतीयप्रकरणम्।।

वर्णबाह्य की सामाजिक स्थिति

हम पहले ही कह चुके हैं कि चारों वर्ण किसी ब्रह्माण्डीय प्रयोजन को पूर्ण करते हैं। सभी वर्ण मिलकर एक शरीर की भाँति कार्य करते हैं किन्तु निश्चितरूपेण कुछ लोग ऐसे होते हैं जो चारों में से किसी भी वर्ण के कार्य को नहीं करना चाहते। ऐसे लोगों के विषय में मनु कहते हैं – "ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य ये तीनों वर्ण **द्विजाति** (अर्थात विद्याध्ययनरूपी दूसरे जन्म वाले) हैं। चौथा वर्ण शूद्र तो **एकजाति** (अर्थात् केवल कायिक जन्म वाला) है। पाँचवा कोई वर्ण नहीं है। लोक में (समाजरूपी शरीर में) मुख, भुजा, जंघा और पैर से उत्पन्नों के अतिरिक्त जो जातियाँ हैं वे चाहे म्लेच्छभाषा बोलें अथवा आर्यभाषा बोलें, वे सब दस्यु कहलाती हैं।"[8] वेदों में और प्राचीन संस्कृत साहित्य में 'दस्यु' शब्द का पर्याप्त प्रयोग

7.सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः। मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत्।।मनु. 1–87

8. ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः। चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पंचमः।।

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः। म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः।।

मनु. 10–4,45

हुआ है। 'दसु उपक्षये' धातु से 'यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच्' (उणादिकोश 3–20) से युच् प्रत्यय के योग से 'दस्यु' शब्द बनता है। निरुक्त (7–23) में इसकी व्युत्पत्ति है – "दस्यु दस्यतेः क्षयार्थात् .... उपदासयति कर्माणि" अर्थात् दस्यु वह है जो ब्राह्म कर्मों से क्षीण है अथवा ब्राह्म कर्मों में बाधा डालता है।

स्पष्ट है कि दस्यु ब्राह्म समाज के लिए सदा समस्या ही उपस्थित करेंगे अतः ब्राह्म समाज उनका न तो सम्मान करेगा और न ही उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करना चाहेगा। अतः ब्राह्म समाज में समंजित होने के लिए व्यक्ति को सदा ही चारों वर्णों में से किसी एक का कार्य अवश्य करना चाहिए ताकि वह ब्राह्म समाज के लिए तथा ब्राह्म समाज उसके लिए उपयोगी हो सके।

।। इति प्रथमाध्यायान्तर्गतं चतुर्थप्रकरणम्।।

वर्णग्रहण की व्यवस्था

वर्णनिश्चय मूलतः ज्योतिषीय तथा गौणतः ऐच्छिक विषय है। इस वर्णक्रम के विवेचन में ज्योतिष की क्या भूमिका है, यह जानने के लिए हमें एक अतिमहत्त्वपूर्ण तथ्य पर दृष्टिपात करना होगा जिसे जाने बिना हम भारतीय परम्परा की किसी भी विद्या को समझ ही नहीं सकते। वह तथ्य यह है कि भारतीय परम्परा की प्रत्येक विद्या का प्रणयन ध्यानियों द्वारा किया गया है। अतः इन विद्याओं को पढ़कर भी कोई उनका पूर्ण रहस्य तब तक नहीं जान सकता जब तक कि वह स्वयं भी ध्यानशक्तिसम्पन्न न हो जाये। ज्योतिष के साथ भी ऐसा ही है। ध्यानियों ने जब लोगों का अध्ययन किया तो उन्होंने देखा कि समान स्वभाव वाले लोगों के जन्म की खगोलीय स्थितियों में अभूतपूर्व समानता है। विशेष अध्ययन करने पर देखा गया कि उनके गर्भाधानकाल की खगोलीय स्थितियों में भी असाधारण समानता है।

इस प्रकार ध्यानियों ने गर्भाधान तथा जन्म की खगोलीय स्थितियों के आधार पर जातकों के स्वभाव का उल्लेख किया है। आधुनिक काल में गर्भाधान संस्कार को लोग महत्त्व नहीं देते किन्तु इससे गर्भाधान संस्कार का महत्त्व जरा भी कम नहीं होता। गर्भाधान कब हुआ यह तभी जाना जा सकता है जब पुरुष द्वारा स्त्री के एक माह (एक बार रजोस्राव का आरम्भ होने से लेकर पुनः रजोस्राव का आरम्भ होने तक का समय) में एक ही बार वीर्यदान किया गया हो। ऐसा असम्भव नहीं है। इसका सरलतम उपाय यह है कि जब तक सन्तान न चाहें तब तक सन्ततिनिरोध के साधनों का प्रयोग करें और जब सन्तानोत्पत्ति की इच्छा हो जाये तो ऋतुकाल में अभीष्ट खगोलीय स्थिति में सन्ततिनिरोध के साधनों का प्रयोग न करते हुये केवल एक ही बार वीर्यदान करें। ऐसा वीर्यदान तभी सफल हो सकता है जब स्त्री

के गर्भाशय में अण्डाणु आ चुका हो अथवा एक दो दिन में ही आने वाला हो क्योंकि शुक्राणु प्रायः 2 दिनों तक जीवित रहता है। इस विषय में आधुनिक शरीरविज्ञान का कहना है कि एक माह में प्रायः एक ही अण्डाणु अण्डाशय से गर्भाशय में आता है जहाँ वह प्रायः 2 दिनों तक जीवित रहता है। बाद में मृत अण्डाणु रजोस्राव के द्वारा शरीर से बाहर निकल जाता है। अण्डाणु के गर्भाशय में आने के प्रायः 14 दिनों बाद रजोस्राव होता है। इसमें भी चार दिन आगे–पीछे हो सकते हैं। यदि किसी स्त्री का महीना 28 दिन का हो (कुछ स्त्रियों का महीना 27, 26 या 25 दिनों का भी हो सकता है) तो रजोस्राव आरम्भ होने के 15 वें दिन गर्भाशय में अण्डाणु आ जायेगा। अतः उसी दिन अथवा उसके बाद वाले दो दिनो में मैथुन करने पर गर्भधारण हो सकता है क्योकि अण्डाणु प्रायः 2 दिनों तक जीवित रहता है तथा गर्भाशय में अण्डाणु आने के पूर्ववर्ती 2 दिनों में मैथुन करने पर भी गर्भधारण हो सकता है क्योंकि शुक्राणु प्रायः 2 दिनों तक जीवित रहता है। इस प्रकार 28 दिनों के महीने वाली स्त्री में 13वें से लेकर 17वें दिन तक केवल 5 दिनों में मैथुन करने पर गर्भधारण हो सकता है। चूँकि चार दिनों का व्यत्यय हो सकता है। अतः चार दिन आगे व चार दिन पीछे बढाये जा सकते हैं। इस प्रकार 28 दिनों के महीने वाली स्त्री में 9वें से लेकर 21वें दिन तक के कुल 13 दिनों में वीर्यदान करने पर गर्भधारण की सम्भावना है। गर्भधारण की सम्भावना वाले दिनों को जानने के लिए यह जानना अनिवार्य है कि स्त्री का महीना कितने दिनों का है। इस हेतु न्यूनातिन्यून छः माह का विवरण होना आवश्यक है। प्राचीनकाल में कन्या के प्रथम रजोस्राव से लेकर प्रतिमाह के रजोस्राव की तिथि का उल्लेख उसकी जन्म–कुण्डली में किया जाता था। यह भी उल्लेख किया जाता था कि यह रजोस्राव कितने दिनों तक चला। कालान्तर में यह शुभ परम्परा लुप्त हो गयी। ज्योतिष के अनुसार स्त्री के महीने के दिनों की संख्या, रजोस्राव वाले दिनों की संख्या तथा प्रथम रजोस्राव की खगोलीय स्थिति के आधार पर भी उसके स्वभाव के एक पक्ष का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। वैसे, जिस दिन अण्डाणु अण्डाशय से गर्भाशय में आता है उस दिन स्त्री का तापमान 1° फारेहाइट बढ़ जाता है। अतः उसी दिन अथवा उसके अगले दिन गर्भाधान करने पर गर्भधारण की अतिप्रबल सम्भवाना होती है। इस हेतु प्रतिदिन स्त्री का तापमान जाँचना चाहिए। विज्ञानियों के अनुसार कृत्रिम साधनों के प्रयोग के बिना सन्ततिनिरोध हेतु रजोस्राव के प्रथम दिन से लेकर 21वें दिन तक मैथुन नहीं करना चाहिए अथवा कृत्रिम साधनों का प्रयोग करना चाहिए। 22वें दिन से लेकर रजोस्राव के पुनः आरम्भ से पूर्व तक का समय ही गर्भधारण (conception) अथवा निषेचन (fertiliza-tion) की दृष्टि से **सुरक्षित काल** (safe period) है। अतः 28, 27, 26 तथा 25 दिन के महीने वाली स्त्रियों में क्रमशः 7, 6, 5, तथा 4 दिन का सुरक्षित काल होता है। यद्यपि रजोस्राव वाले दिनों मे भी

गर्भधारण नहीं हो सकता किन्तु उन दिनों में मैथुन करना स्वास्थ्य के प्रतिकूल ही है।

अस्तु, एक तो गर्भाधानकाल तथा दूसरे जन्मकाल के आधार पर जातक के वर्ण का ज्ञान हो जाता है। उसके वर्ण के अनुसार ही उसका पालन–पोषण होना चाहिए। यहाँ तक कि उसका नामकरण भी उसके वर्ण के अनुसार ही होना चाहिए।[9]

मनुष्य **तत्त्व** (Essence) तथा **व्यक्तित्व** (Personality) इन दो भागों में विभक्त है। 'तत्त्व' उसका स्वभाव है तथा 'व्यक्तित्व' अर्जित किया जाता है। 'तत्त्व' मे ही उसका वर्ण निहित है। जातक के समंजित विकास हेतु उसके 'तत्त्व' के अनुकूल 'व्यक्तित्व' का निर्माण होना चाहिए। किन्तु कालान्तर में जब पैतृक परम्परा के अनुसार वर्णनिश्चय होने लगा तो ऐसे जातक, जिनका वर्ण उनके माता–पिता के वर्ण से भिन्न होता था, इस समंजित विकास से वंचित होने लगे। उनका 'व्यक्तित्व' तो पैतृक परम्परा वाला होता था किन्तु 'तत्त्व' उससे भिन्न होने के कारण वे सतत अन्तर्कलह के एक जाल में फँस जाते थे। उनका 'व्यक्तित्व' जो करता था उससे 'तत्त्व' अप्रसन्न होता था तथा 'तत्त्व' जो चाहता था वैसा करने का कोई अभ्यास 'व्यक्तित्व' को होता नहीं था। वस्तुतः मनुष्य के विकास का आकलन उसके 'तत्त्व' के विकास के आधार पर ही किया जा सकता है। 'व्यक्तित्व' भले ही खूब विकसित हो किन्तु यदि वह 'तत्व' से असम्बद्ध है तो ऐसा विकास छद्म विकास होता है जो कठिन अवसरों पर अनुपयोगी सिद्ध होता है। वस्तुतः ज्योतिष का महान् विज्ञान पैतृक आधार पर वर्णनिश्चय के कारण ही क्षीण और विभ्रान्त हो गया। उच्चवर्ण वालों ने अपने यहाँ उत्पन्न निम्नवर्णीय सन्तानों को अपने ही वर्ण में दीक्षित करते समय इस मनौवैज्ञानिक नियम को भुला दिया कि यदि किसी को उच्चवर्ण की प्राप्ति हेतु प्रेरित करना हो तो इसके लिए भी पहले उसके निजवर्ण का विकास करना होगा। अपने वर्ण का विकास अधूरा छोड़कर यदि कोई उच्च वर्ण का कार्य करना चाहता है तो वह एक झूठे 'व्यक्तित्व' का निर्माण कर लेगा।

व्यक्ति के गर्भाधानकाल तथा जन्मकाल के आधार पर उसका वर्ण निश्चित किया जा सकता है किन्तु जिसके गर्भाधानकाल तो क्या जन्मकाल का भी पता न हो उसका वर्ण कैसे निश्चित किया जाय? उपनयन संस्कार के पश्चात् निजवर्णानुसार व्यक्ति की शिक्षा–दीक्षा होती थी किन्तु उपनयन से पहले वेदारम्भ संस्कार होता था जिसके पश्चात् व्यक्ति को वह शिक्षा–दीक्षा दी जाती थी जो सभी वर्णों के लिए समान थी, यथा स्वगोत्रानुसार वेद की शाखा का अध्ययन। वेदारम्भ संस्कार के पश्चात् विद्यार्थी के

---

9. मंगल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम्। वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्।।

शर्मवद् ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम्। वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम्।।

मनु. 2–31,32

स्वभाव का निरन्तर निरीक्षण तथा परीक्षण किया जाता था और जब व्यक्ति के वर्ण का निश्चय हो जाता था तो निजवर्णानुसार उसका उपनयन कर दिया जाता था। उपनयन की अवधि भी निश्चित होती थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य का उपनयन क्रमशः 16वें, 22वें तथा 24वें वर्ष के पूर्व अवश्य हो जाता था।[10] यह अवधि बीत जाने पर व्यक्ति 'व्रात्य' कहलाता था और ब्राह्म समाज उससे कोई व्यवहार नहीं रखता था। यहाँ तक कि उसका विवाहादि भी नहीं हो सकता था।[11] इन व्रात्यों को तीन कृच्छ्रव्रत का प्रायश्चित्त कराकर ही उनका उपनयन किया जा सकता था।[12] ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य का उपनयन सामान्यतया क्रमशः गर्भ के 8वें, 11वें तथा 12वें वर्ष में होता था किन्तु इनके विशेष प्रखर व मेधावी होने पर इनका उपनयन क्रमशः 5वे, 6वें तथा 8वें वर्ष में भी किया जा सकता था।[13]

।। इति प्रथमाध्यायान्तर्गतं पंचमप्रकरणम्।।

वर्णों का रक्षक – राजा

महाभारत में एक कथा है कि सृष्टि के आदिकाल में सभी जन ब्राह्मण ही थे और वे सभी धर्म का पालन करते हुऐ एक–दूसरे की रक्षा करते थे।[14] किन्तु बाद में जब जनसंख्या बढ़ने लगी और खाद्य सामग्री आदि में न्यूनता हो गयी तो रजस् व तमस् का उद्रेक हो गया और कुछ लोग धर्मानुसार आचरण न करके चोरी, छीनाझपटी, परस्त्रीहरणादि करने लगे तो ऋषियों ने इस समस्या के समाधान के लिए एक विद्वान्, धार्मिक तथा ऋषियों में श्रद्धा रखने वाले बलवान् व तेजस्वी व्यक्ति को "राजा" पद पर

---

10. आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते। आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः।। मनु. 2–13

11. अत ऊर्ध्वं त्रयोप्येते यथाकालमसंस्कृताः। सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः।।
नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित्। ब्राह्मान्यौनांश्च सम्बन्धानाचरेद् ब्राह्मणः सह।।
मनु. 2–39,40

12. येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधि। तांश्चारयित्वा त्रीन्कृच्छ्रान्यथाविध्युपनाययेत्।।
मनु. 11–191

13. गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्। गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः।।
ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पंचमे। राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे।।
मनु. 2–36,37

14. न वै राज्यं न राजासीन्न दण्डो न च दाण्डिकः। धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः रक्षन्ति स्म परस्परम्।।
महाभारत

आसीन किया। उस व्यक्ति का नेतृत्व जिन लोगों ने स्वीकार किया वे क्षत्रिय कहलाए। मनु कहते हैं – "राजा के बिना इस जगत में सर्वत्र भय फैल जाता है। अतः इस सम्पूर्ण जगत की रक्षा के लिए ईश्वर ने राजा पद बनाया।"[15] मनु संक्षेप में "श्रेष्ठ आचरण वालों की रक्षा तथा कण्टकों के शोधन" को राजा का प्रजापालनरूपी अभीष्ट कर्तव्य बताते हैं।[16] राजा सहित सम्पूर्ण क्षत्रिय वर्ण के कार्य को साररूप में गीता में श्रीकृष्ण से भी कहलाया गया है – "सज्जनों की रक्षा के लिए, दुष्टों के विनाश के लिए तथा धर्म (नियम, विधानादि) की स्थापना के लिए मैं युग–युग में जन्म लेता हूँ।"[17] इस प्रकार श्रीकृष्ण सज्जनरक्षा, खलनाश तथा धर्म–संस्थापना इन तीनों कार्यों को राजा का कर्तव्य बताते हैं। इन तीनों कार्यों को करने के लिए राजा के पास "शक्ति तथा उसके प्रयोग का अधिकार" होना आवश्यक है। इस "शक्ति" को मनु ने "दण्ड" कहा है।[18] मनु कहते हैं – "भली–भाँति विचारपूर्वक धारण किया गया वह दण्ड सारी प्रजा को रंजित (आनन्दित) करता है किन्तु बिना विचारपूर्वक चलाए जाने पर सब ओर से विनाश कर देता है। बिना दण्ड के सभी वर्ण दूषित और सभी मर्यादाएं छिन्न–भिन्न हो जायेंगी। दण्ड के यथावत् न होने पर सब लोकों में प्रकोप (अव्यवस्था) हो जायेगा।"[19] मनु साररूप में राजा को "वर्णाश्रमों का रक्षक" बताते हैं।[20] इस हेतु राजा को वेदादि शास्त्रों के विद्वान् ब्राह्मणों के मार्गदर्शन में रहना चाहिए।[21] मनु सम्पूर्ण ब्राह्मण वर्ण को राजा के लिए सबसे प्रधान तथा अक्षय कोष बताते हैं। अतः वे राजा को सलाह देते हैं कि वह गुरुकुल से पढ़कर लौटे ब्राह्मणों का सत्कार करे।[22] इस "ब्राह्म कोष" की रक्षा के परमपूत दायित्व के पालन हेतु मनु राजा को "कन्याओं के संप्रदान तथा कुमारों के रक्षण"

---

15. अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात्। रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः।। मनु. 7–3

16. रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात्। नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पराः।।

मनु. 9–253

17. परित्राणाय च साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।। गीता 4–8

18. तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्। ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः।। मनु. 7–14

19. समीक्ष्य स धृतः सम्यक्सर्वा रंजयति प्रजाः। असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः।।

दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन्सर्वसेतवः। सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात्।। मनु. 7–19,24

20. स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः। वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता।। मनु. 7–33

21. ब्राह्मणान्पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः। त्रैविद्यवृद्धान्विदुषस्तिष्ठेत्तेषां च शासने।। मनु. 7–37

22. आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत्। नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मणोऽभिधीयते।।मनु. 7–82

पर कड़ी निगरानी रखने की सलाह देते हैं क्योंकि यही कार्य सम्पूर्ण वर्णाश्रम व्यवस्था (ब्राह्म संस्कृति) की नींव है।[23] कन्याओं के संप्रदान का अर्थ है कि उनका विक्रयादि न हो सके और न ही उन पर बलात्कार हो सके, स्ववर्णानुसार उनकी विद्याप्राप्ति तथा उचित समय पर योग्य व सदृश पुरुषों के साथ उनका विवाह हो। कुमारों के रक्षण का अर्थ है कि स्ववर्णानुसार उनका उपनयन हो जाये। इन दोनों कार्यों में बाधा उत्पन्न करने वालों को राजा भली–भाँति दण्डित करे।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवरण में निम्नोक्त शंकाएं उठाई जा सकती हैं –

(1) लोकतन्त्र में शक्ति का प्रतीक राजा को कैसे माना जा सकता है ?

(2) वर्तमान समय में उपनयन, वर्ण, आश्रम आदि की बात कहाँ तक व्यावहारिक है ?

प्रथम शंका का समाधान अमेरिका की शासन–प्रणाली में देखा जा सकता है। वहाँ पर अध्यक्षीय प्रणाली (Presidential System) है और लोकतन्त्र भी है। भेद केवल इतना है कि वहाँ 'राजा' को अध्यक्ष कहा जाता और उसका 5 वर्ष का निश्चित कार्यकाल होता है। भारत में भी ऐसा किया जाना असम्भव नहीं है केवल संसद में एक प्रस्ताव लाने और उस पर दो तिहाई सहमति की अपेक्षा है।

द्वितीय शंकान्तर्गत उपनयन को यदि लिया जाय तो समाज के उच्चमध्यम तथा उच्च वर्ग में एक प्रवृत्ति देखी जाती है कि वे अपनी सन्तानों की पूर्व प्राथमिक शिक्षा (5वीं तक) के उपरान्त उन्हें किसी आवासीय विद्यालय (Boarding School) में प्रविष्ट करा देते हैं। इस पूर्वप्राथमिक शिक्षा की तुलना विद्यारम्भ से की जा सकती है तथा आवासीय विद्यालय में प्रवेश की तुलना उपनयन से की जा सकती है। अतः प्रकारान्तर से विद्यारम्भ तथा उपनयन अभी भी हो रहे हैं। वे केवल अविकसित तथा अपूर्ण हैं। यदि इन दोषों को दूर किया जा सके तो वर्तमान समय में भी विद्यारम्भ (वर्णनिश्चय के पूर्व घर पर रहते हुए विद्याग्रहण) तथा उपनयन (वर्णनिश्चय के उपरान्त घर से दूर गुरुकुल में रहकर विद्याग्रहण) की व्यवस्था की जा सकती है। केवल इतना ध्यान देना आवश्यक है कि विद्यारम्भ में भले ही सरकारी शिक्षक की भी नियुक्ति हो किन्तु उपनयन कराने का अधिकार केवल "मुक्त शिक्षकों" को ही होना चाहिए। "मुक्त शिक्षक" उसे कहते हैं जो प्रशासन अथवा किसी व्यक्ति की सेवा में नियुक्त न होकर स्वतन्त्ररूपेण अपना गुरुकुल चलाता हो। वह अपने गुरुकुल के लिए शासन से तथा धनी व्यक्तियों से दान स्वीकार कर सकता है किन्तु दानदाताओं को गुरुकुल की व्यवस्था में हस्तक्षेप का कोई भी अधिकार न हो। सर्वोपरि नियम यह है कि वह विद्या का दान करता हो न कि विक्रय अर्थात् वह विद्यार्थियों से किंचिदपि शुल्क ग्रहण न करता हो। ऐसे मुक्त शिक्षक ही सच्चे ब्राह्मण हैं और ये ही समाज को पतित होने से

23. कन्यानां संप्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्।। मनु. 7–152

बचाए रखते हैं।

वर्ण की बात भी कोई सड़ी–गली रूढि नहीं है अपितु व्यवहार में चारों वर्ण आज भी दिखाई देते हैं। भेद केवल इतना है कि उनमें अभीष्ट कौशल, प्रखरता और स्पष्टता नहीं है। यथा, सरकारी व गैर–सरकारी शिक्षण–संस्थाओं में अध्यापकों का एक विशाल वर्ग है जिसकी तुलना ब्राह्मण वर्ण से की जा सकती है। होमगार्ड, पुलिस, सीमा सुरक्षा बल, सेना इत्यादि ये सब क्षत्रिय वर्ण के ही रूप हैं। विशाल उद्योगी वर्ग भारत में है जो वैश्य वर्ण का ही रूप है और सरकारी व गैर, सरकारी चतुर्थश्रेणी कर्मचारी हैं जो शूद्र वर्ण के प्रतीक हैं।

इसी प्रकार विशाल विद्यार्थी वर्ग ब्रह्मचर्य आश्रम तथा विवाहित जन गृहस्थ आश्रम के प्रतीक हैं। जब वर्णाश्रम येन केन प्रकारेण विद्यमान हैं ही तो इनका विरोध वंचनामात्र है। अतः इनको सुचारुरूपेण चलाने की व्यवस्था होनी चाहिए। केवल इतना ध्यातव्य है कि व्यक्ति के अधिकार, कर्तव्य तथा अधिकारों व कर्तव्यों का पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित हो तथा उनकी रक्षा का आश्वासन प्रशासन की ओर से दिया जाए।

।। इति प्रथमाध्यायान्तर्गतं षष्ठप्रकरणम्।।

वेदज्ञान में सभी वर्णों का समानाधिकार

"वेदज्ञान का अधिकार" इस विषय को ठीक से समझने के लिए इसके दो भाग कर सकते हैं – "वेदज्ञान की प्राप्ति का अधिकार" तथा "वेदज्ञान के दान का अधिकार"।

अब हम देखते हैं कि "वेदज्ञान की प्राप्ति के अधिकार" पर स्वयं वेद की क्या सम्मति है ? यजुर्वेद (26–2) में कहा गया है – "जैसे मैं (ईश्वर) इस कल्याणी वेदवाणी को सभी मनुष्यों के लिए कहता हूँ वैसे ही तुम मनुष्य भी कहो। ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिए, शूद्र के लिए, वैश्य के लिए, स्वस्त्री व सन्तान के लिए तथा शूद्र के लिए।"[24] ऋग्वेद (10–53–4) में कहा गया है –

ऊर्जादः उत यज्ञियासः पंचजनाः मम होत्रं जुषध्वम्।

इस मन्त्र में पठित "पंचजनाः" पद की व्याख्या में यास्कमुनि औपमन्यवाचार्य का मत देते हुए कहते हैं – "चत्वारो वर्णाः निषाद इति पंचम इति औपमन्यवः। निषादः कस्माद् ? निषन्नं अस्मिन् पापकमिति नैरुक्ता पंचजनीनया विशा।" निरुक्त (3–2–2)

अर्थात् "औपमन्यव का मत है कि चार वर्ण – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र तथा उनसे इतर

24. यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय स्वाय चारणाय।।

निषाद इन सब को यज्ञ का अधिकार है। 'निषाद' को निषाद क्यों कहते हैं ? क्योंकि इस व्यक्ति के मन में पाप की भावना रहती है। इस प्रकार नैरुक्तों के मत में पाँच प्रकार के मनुष्य होते हैं।'' यहाँ औपमन्यवाचार्य ने दस्युमात्र को ''निषाद'' की संज्ञा दी है।

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि मानवमात्र का यज्ञ में अधिकार है और यज्ञ में मन्त्रपाठ अवश्य होता है अर्थात् प्रकारान्तर से ऋग्वेद का उपर्युक्त साक्ष्य मानवमात्र का वेदज्ञान में अधिकार मानता है। अथर्ववेद (3–24–11–8) में कहा गया है –

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।

अर्थात् ब्रह्मचर्य (वेदज्ञान, यमनियमादि) के द्वारा कन्या युवा (स्वस्थ व श्रेष्ठ) पति को प्राप्त करती हैं।

यह उदाहरण स्त्रियों के लिए भी भली–भाँति उपनयनादिपूर्वक शिक्षा का विधान करता है क्योंकि बिना उपनयन के ब्रह्मचर्य अपूर्ण होता है। ऋग्वेद (10–109–4) में कहा में गया है – ''भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता'' जिसमें स्त्रियों के उपनयन का स्पष्ट विधान किया गया है। इस प्रकार ''वेदज्ञान की प्राप्ति का अधिकार'' तो मानवमात्र को है और ऐसा स्वयं वेद से ही सिद्ध होता है तो फिर क्या वेदज्ञान की प्राप्ति के सम्बन्ध में वर्णों में कोई भेद है ही नहीं? इस विषय को भली–भाँति स्पष्ट करते हुए मनु कहते हैं कि वेदज्ञान, यज्ञादि सभी द्विजों के लिए अनिवार्य हैं किन्तु शूद्र के लिए नहीं। अतः यदि कोई द्विज प्रमाद, आलस्यादि से इन कर्मों को छोड़ दे तो उसे शूद्र ही मानकर व्यवहार किया जाये जब तक कि वह उपयुक्त प्रायश्चित्त न कर ले।[25]

अब ''वेदज्ञान के दान के अधिकार'' पर विचार करें तो स्पष्टतया दिखता है कि शूद्र को यह अधिकार नहीं हो सकता क्योंकि उसके पास भली–भाँति वेदज्ञान होता ही नहीं तो फिर वह उसका दान कैसे कर सकता है ? मनु ने चारों वर्णों के कर्मों का उल्लेख करते हुए अध्यापन (वेदज्ञान के दान) को केवल ब्राह्मण का ही कर्म कहा है।[26] मनु केवल आपत्तिकाल में ही अब्राह्मण गुरु से वेदज्ञान की प्राप्ति का विधान करते हैं। जब तक विद्याध्ययन चले तब तक विद्यार्थी अपने उस अब्राह्मण गुरु की आज्ञा का

---

25. योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः।।

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्। स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः।।

उत्तमानुत्तमान्गच्छन् हीनान्हीनाँश्च वर्जयन्। ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम्।।

मनु. 2–168, 2–103, 4–225

26. अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहंचैव ब्राह्मणानामकल्पयत्।। मनु. 1–88

पालन करे तथा सेवा भी करे।[27] मनु यह भी कहते हैं – ''अतिउत्तम गति चाहने वाला शिष्य अब्राह्मण गुरु के पास अधिक काल तक न रुके और न ही ऐसे ब्राह्मण गुरु के पास जो वेदादि शास्त्रों में अपारङ्गत हो।'' मनु के कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे शास्त्रों में अपारङ्गत ब्राह्मण को भी ज्ञानदान का अधिकारी नहीं मानते तो फिर अब्राह्मणों की तो कथा ही क्या है ?

ब्राह्म संस्कृति के अनुसार इतना कहा जा सकता है कि दान तो देने वाले को पवित्र करता है। अतः यदि किसी के पास अल्प हो तो वह उतना देकर भी आत्मतुष्टि कर सकता है किन्तु जिसे दानग्रहण की आवश्यकता है वह तो उतने से ही तृप्त नहीं होगा। अतः उसे तो वहाँ जाना होगा जहाँ यथेष्ट की प्राप्ति हो सके। अब्राह्मणों के पास समयाभाव होने से वे यदि केवल अपनी सन्तानों को ही वेदज्ञान का दान करें तो इतना भी पर्याप्त ही है। वेदारम्भ संस्कार के उपरान्त अब्राह्मण माता–पिता भी अपनी सन्तान को वेदज्ञान का दान करके ऋषिऋण को थोड़ा–बहुत चुका ही सकते हैं। ब्राह्मण के लिए वेदज्ञान का दान स्वाभाविक वृत्ति है, अतः वही इसे सम्यक्तया कर सकता है।

।। इति प्रथमाध्यायान्तर्गतं सप्तमप्रकरणम्।।

समस्त वर्णों का सामंजस्य

''वर्णों की तुलना पुरुष शरीर से'' नामक प्रकरण में हम यह प्रदर्शित कर चुके हैं कि चारों वर्ण मिलकर पुरुष शरीर के अवयवों की भाँति कार्य करते हैं। शरीर के किसी भी अवयव के कार्य में व्यत्यय होने पर सम्पूर्ण शरीर का कार्य बाधित हो जाता है। अतः चारों में से किसी भी वर्ण के कार्यों में व्यत्यय होने पर सम्पूर्ण समाज को हानि होती है। यदि मनुष्य के शरीर की तुलना पशु–पक्षियों से की जाय तो हम देख सकते हैं कि –

मनुष्य(खड़ा)	**पक्षी(तिरछा)**	**पशु(आड़ा)**
1. मनुष्य की कमर सीधी हो सकती अर्थात् वह अपने पिछले पैरों पर सीधा खड़ा हो सकता है। इस प्रकार उसका मेरुदण्ड पृथ्वी से 90^0 का कोण बनाता है।	1. पक्षी पूरी तरह सीधे नहीं हो सकते, अतः उनका मेरुदण्ड पृथ्वी से प्रायः 60^0 का कोण बनाता है।	1. पशु तो और भी कम सीधे हो सकते हैं और उनका मेरुदण्ड पृथ्वी से प्रायः 0^0 का कोण बनाता है।

27. अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते। अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः।। मनु. 2–241

2. मनुष्य आवर्ष सन्तानोत्पत्ति कर सकता हैं।	2. पक्षी ऋतुविशेष में ही सन्तानोत्पत्ति कर सकते हैं।	2. पशु भी ऋतुविशेष में ही सन्तानोत्पत्ति कर सकते हैं।
3. मनुष्य के हाथ के पंजे में अंगूठा शेष चारों अंगुलियों की विपरीत दिशा में होने से वह लेखन, कला आदि में समर्थ होता है।	3. पक्षी लेखनादि में समर्थ नहीं हो सकते हैं।	3. पशु भी लेखनादि में समर्थ नहीं हो सकते।
4. मनुष्य विविधवर्णात्मक सार्थक भाषा अपने वाक्यन्त्र से निकाल सकता है।	4. पक्षी कुछ निश्चित सांकेतिक ध्वनियाँ ही निकाल सकते है।	4. पशु भी कुछ सांकेतिक ध्वनियाँ ही निकाल सकते हैं।

मेरुदण्ड के ऊपरी सिरे पर **मुख** तथा निचले सिरे पर **जननांग** व **गर्भाशय** होते हैं। मेरुदण्ड व पृथ्वी के मध्य बना कोण प्राणी की श्रेष्ठता का मापदण्ड होता है। मनुष्य, पक्षी व पशु में यह कोण उत्तरोत्तर न्यून होता है और वृक्ष में यह कोण नकारात्मक रूप ले लेता है क्योंकि उसका **मुख** (जलग्राही मूल) पृथ्वी में **गड़ा** होता है तथा **जननांग** (पुष्प) व **गर्भाशय** (फल) ऊपर होते हैं। इस प्रकार वृक्ष का मेरुदण्ड पृथ्वी से 90^0 का नकारात्मक कोण बनाता है। वृक्ष में जननांग व गर्भाशय अनेक व अस्थायी होते हैं तथा ऋतुविशेष में ही प्रकट होते हैं। वृक्षों में हाथ, पैर व वाग्यन्त्र का अभाव होता है।

उपर्युक्त चारों विशेषताएं मनुष्य को सृष्टि में अन्य पशु–पक्षियों से विशेष स्थान प्राप्त कराती हैं। किन्तु वह इन चारों विशेषताओं का विकास समाज में रहकर ही कर सकता है क्योंकि मनुष्य अनुकरणप्रधान है तथा समाज से बाहर अनुकरण के अवसर नहीं के बराबर हैं। दूसरी विशेषता पर दृष्टिपात किया जाय तो हम देखते हैं कि मनुष्य का शरीर पैरों से लेकर सिर तक भूमि पर लम्बवत् सीधा खड़ा हो सकता है जबकि पशु में जननांग, उदर, सिर आदि भूमि के समानान्तर होते हैं। हम पहले ही कह चुके हैं कि चारों वर्ण समाजपुरुष के अवयव हैं और ब्राह्मण समाजपुरुष का सिर है। अतः जिस प्रकार भूमि पर लम्बवत् सीधे खड़े हुए मानवशरीर में क्रमशः पाद, जंघाएं, जननांग, कमर, उदर, वक्ष, स्कन्ध, ग्रीवा, सिर, तथा शिखा उत्तरोत्तर ऊँचे होते हैं उसी प्रकार ब्रह्माण्डीय प्रयोजन को पूर्ण करते हुए समाज में क्रमशः शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, तथा ब्राह्मण उत्तरोत्तर ऊँचे होते हैं अर्थात् सभी वर्णों में उच्चतम स्थिति ब्राह्मण को प्राप्त होनी चाहिए। जिस प्रकार ब्राह्मण वर्ण सिर का प्रतीक है उसी प्रकार शिखा

ऋषियों का प्रतीक है। अतः जिस प्रकार ब्राह्मणेतर वर्णों को ब्राह्मण के निर्देशन में रहना चाहिए उसी प्रकार समस्त ब्राह्मणों को ऋषियों के निर्देशन में रहना चाहिए। जिस प्रकार मानवशरीर चारों वर्णों को द्योतित करता है उसी प्रकार भूमि सांसारिकता को तथा भूमि के लम्बवत् दिशा मोक्ष को द्योतित करती है। इस प्रकार मानव शरीर इस भाँति निर्मित है कि वह सम्पूर्ण समाज के ब्रह्माण्डीय प्रयोजन को भी द्योतित करता है। समस्त वर्णों का सामंजस्य केवल एक ही आधार पर हो सकता है और वह है – ब्रह्माण्डीय प्रयोजन के अनुरूप उनका संगठन। उस ब्रह्माण्डीय प्रयोजन का एक अंश है – "समस्त प्राणियों के इस विशाल समूह में से कुछ प्राणी निरन्तर मुक्त होते रहें।" समस्त प्राणियों में से केवल मनुष्य ही यह कार्य करने में समर्थ है।

यह हम पहले ही कह चुके हैं कि सन्तानोत्पत्ति हेतु जितनी कामशक्ति अपेक्षित है उससे कई गुना अधिक कामशक्ति मनुष्य को दी गयी है। अतः कामशक्ति के साथ जैसा व्यवहार मनुष्येतर प्राणियों में होता है वैसा ही मनुष्य में भी किया जाना ब्रह्माण्डीय प्रयोजन के विरुद्ध है। मनुष्येतर प्राणी कामशक्ति के जाग्रत होते ही प्रजनन में लग जाते हैं। यदि मनुष्य भी वैसा ही करे तो इतनी अधिक कामशक्ति मनुष्य को मिलना निष्प्रयोजन ही ठहरता है। ब्रह्माण्डीय प्रयोजन की पूर्ति के लिए कामशक्ति के जाग्रत होने पर मनुष्य को प्रजनन से पहले कुछ काल तक ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।[28]

।। इति प्रथमाध्यायान्तर्गतं अष्टमप्रकरणम्।।

वर्ण केवल चार ही हो सकते हैं

समाज में व्याप्त अनेकानेक जातियाँ तथा उनके पृथक् पारम्परिक उद्योगों के आधार पर यह शंका होती है कि क्या वर्ण चार ही हैं ? वर्णों तथा पृथक्–पृथक् जातियों में क्या सम्बन्ध है ?

वर्णों की संख्या के विषय में मनु स्पष्टतया कहते हैं कि वर्ण चार ही हैं जिनमें से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य द्विजाति या द्विज हैं तथा शूद्र एकजाति या एकज है। पाँचवाँ कोई भी वर्ण नहीं है चारों वर्णों से बाहर जो भी जातियाँ हैं, दस्यु हैं अर्थात् जिसका कोई वर्ण नहीं होता वह दस्यु कहलाता है।[29] इस प्रकार

---

28. षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्। तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा।।
वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम्। अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत्।। मनु. 3–1,2

29. ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः। चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रः नास्ति तु पंचमः।।
मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः। म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः।।
मनु. 10–4,4

वर्णों की संख्या के विषय में मनु का स्पष्ट विधान है कि वर्ण चार ही हैं तथा पाँचवाँ कोई भी वर्ण नहीं है।

अब वर्णों तथा पृथक्–पृथक् जातियों के सम्बन्ध पर विचार किया जाय तो हम देखते हैं कि उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में से प्रथम उद्धरण में ''जाति'' शब्द ''जन्म'' के अर्थ में आया है जहाँ शूद्र केवल शारीरिक जन्म वाला होने से एकजाति तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य शारीरिक जन्म तथा विद्याप्राप्तिरूपी दूसरे जन्म वाले होने से द्विजाति कहे गये हैं दूसरे उद्धरण में ''जाति'' शब्द प्रचलित अर्थ में आया है।

यद्यपि अधिकांश जातियाँ प्राजापत्य संस्कृति के प्रसार के पूर्व ही अस्तित्व रखती थीं तथा कर्मविशेष के लिए बाध्य नहीं थीं तथापि प्राजापत्य संस्कृति के प्रसार के फलस्वरूप कुछ नवीन जातियों की भी उत्पत्ति हुई। जिस प्रकार आजकल एक ही व्यवसाय के लोग प्रादेशिक या राष्ट्रीय स्तर पर अपना संगठन बनाते हैं उसी प्रकार प्राचीनकाल में भी ऐसा होता था। गुप्तवंश के शासन काल में ऐसे संगठनों को **श्रेणियाँ** (Guilds) कहा जाता था। मन्दसौर के लेख में ''पट्टवाय श्रेणी (रेशमी सूत बनाने वालों की समिति) तथा इन्दौर लेख में तैलिक श्रेणी का उल्लेख मिलता है। कुछ शिलालेखों में हेलाबुकों, ताम्बूलिकों, चर्मकारों, कुम्भकारों, पानी भरने वालों, अनाज पीसने वालों, बाँस का काम करने वालों, काँस्यकारों आदि की श्रेणियों का उल्लेख भी पाया जाता है। श्रेणियाँ बैंकों का भी कार्य करती थीं और वे अपने सदस्यों को सूद पर धन देती थीं। प्रत्येक श्रेणी का एक प्रधान तथा चार–पाँच सदस्यों वाली एक कार्यकारिणी होती थी। बृहस्पति स्मृति के अनुसार न्यायप्रिय, वेदज्ञ, कर्तव्यपालक, योग्य, आत्मसंयमी और कुलीन व्यक्ति ही श्रेणियों के प्रबन्ध–अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। श्रेणियाँ स्वायत्तशासी संस्थाएं थीं जिनके अपने नियम और कानून होते थे। राज्य सामान्यतया उनका सम्मान करता था। स्मृतियों में राजा को निर्देश दिया गया है कि वह श्रेणियों के रीति–रिवाजों का पालन करवाए। अपने सदस्यों के झगड़ों का निपटारा वे स्वतः करती थीं। प्रत्येक श्रेणी के पास अपनी पृथक् मुद्रा होती थी। वैशाली से एक संयुक्त श्रेणी की 274 मुद्राएं प्राप्त हुई हैं। श्रेणियों को पूग, गण, नैगम, व्रात, संघ इत्यादि अन्य नामों से भी अभिहित किया गया है। ऋग्वेद में भी श्रेणी शब्द का प्रयोग किया गया है।[30]

ऋग्वेद में वप्ता अर्थात् नाई (10–142–4), तष्टा अर्थात् बढ़ई या रथनिर्माता (1–61–4, 7–32–20, 9–112–1, 10–119–5), त्वष्टा अर्थात् बढ़ई (8–102–8), भिषक् अर्थात् वैद्य (9–112–1 व 3) कर्मार या कार्मार अर्थात् लोहार (10–72–2 एवं 9–112–2), चर्मम्न अर्थात् चमार (8–5–38) का उल्लेख हुआ है। यजुर्वेद (16–27) में तक्षा, रथकार, कुलाल, कर्मार, निषाद, पुंजिष्ठ, श्वनि तथा मृगयु

---

30. हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते यदाक्षिर्षुदिध्यमज्ममश्वा। ऋग्वेद 1–163–10

का उल्लेख हुआ है। अथर्ववेद में रथकार (3–5–6), कर्मार (3–5–6) तथा सूत (3–5–7) का उल्लेख हुआ है। तैत्तिरीय संहिता (4–5–4–2) में क्षत्ता, संग्रहीता, तक्षा, कुलाल, कर्मार, पुंजिष्ठ, निषाद, इषुकृत्, धन्वकृत्, मृगयु एवं श्वनि का उल्लेख है।

चारों वर्णों के कर्मों का पृथक्–पृथक् उल्लेख करते हुए मनु (1–88,89,90,91) कहते हैं कि "ईश्वर ने ब्राह्मण के लिए अध्यापन, अध्ययन, यजन, याजन, दान देना तथा दान लेना – ये छः कर्म बताये हैं। क्षत्रिय के लिए प्रजाओं का रक्षण, दान देना, यजन, अध्ययन तथा विषयों में अनासक्ति – ये पाँच कर्म बताये हैं। वैश्य के लिए पशुओं का रक्षण (पालन), दान देना, यजन, अध्ययन, वणिक्पथ (विविध व्यापार), सूद पर ऋण देना तथा कृषि – ये सात कर्म बताये हैं। शूद्र के लिए ईश्वर ने एक ही कर्म बताया है कि वह निन्दाभाव से रहित होकर तीनों द्विज वर्णों की सेवा करे।"

स्पष्टतः ब्राह्मण व क्षत्रिय के कर्मों में वैविध्य नहीं है तथा जो वैविध्य दिखाई पड़ता भी है वह उनके अपने एक ही कर्म के विविध पक्ष हैं जबकि वैश्यों व शूद्रों के कर्मों में स्पष्टतया वैविध्य दिखाई पड़ता है। वेद का अध्ययन करना, यज्ञ करना व दान देना ये तीनों कर्म द्विजमात्र के लिए निर्दिष्ट होने से सामान्य कर्म हैं। अतः ब्राह्मण के निजकर्म हैं – अध्यापन करना, यज्ञ कराना तथा दान लेना। अब, यदि ब्राह्मण के तीनों विशेष कर्मों को देखा जाय तो वे एक ही कर्म के विविध पक्ष सिद्ध होते हैं। वस्तुतः ब्राह्मण का केन्द्रीय कर्म है – अध्यापन करना और इस कर्म को वह दान के रूप में ही कर सकता है अर्थात् वह इसके प्रत्युपकार में किंचिदपि शुल्क ग्रहण नहीं कर सकता। तो फिर उसका जीवन निर्वाह कैसे होगा ? निश्चितरूपेण दानग्रहण से किन्तु यह दानग्रहण उसके तथा उसके सारे विद्यार्थियों के भरण–पोषण हेतु पर्याप्त ही हो यह आवश्यक नहीं। ऐसी दशा में यज्ञ कराना ही विकल्प है। यदि कोई ब्राह्मण अपने केन्द्रीय कर्म का पालन पूरी निष्ठा से कर रहा है तो उसके द्वारा कराये गये यज्ञ के सफल होने की अत्यधिक सम्भावना है और इसके बदले में उसे यजमान के द्वारा दक्षिणा प्राप्त होती है। दान और दक्षिणा का यही भेद है कि दान माँगा नहीं जाता अपितु स्वीकार किया जाता है जबकि दक्षिणा माँगी जाती है। इसी कारण दान निश्चित नहीं होता अपितु दाता की इच्छा पर निर्भर होता है जबकि दक्षिणा तभी निश्चित हो जाती है जब यजमान ब्राह्मण से यज्ञ करने का निवेदन करता है। ब्राह्मण दक्षिणाग्रहण का अधिकारी तभी होता है जब वह दाता का कोई कृत्य सम्पादित करता है जबकि दानग्रहण का अधिकारी होने हेतु उसे दाता के लिए कुछ भी नहीं करना पड़ता। इस प्रकार ब्राह्मण का निजकर्म एक ही है – अध्यापन। यज्ञ कराना (दक्षिणार्थ) तथा दान लेना – ये दोनों कर्म अध्यापनरूपी कर्म के सहयोगी मात्र हैं। संक्षेप में क्षत्रिय के निज कर्म हैं – प्रजाओं का रक्षण तथा वैश्यों से करग्रहण। स्पष्टतः प्रजाओं

का रक्षण ही क्षत्रिय का केन्द्रीय कर्म है, वैश्यों से करग्रहण तो इस केन्द्रीय कर्म का सहयोगी मात्र है क्योंकि इसके बिना प्रजारक्षण की व्यवस्था करना सम्भव नहीं है।[31]

इसी प्रकार वैश्य के निजकर्म हैं – पशुओं का रक्षण, वणिक्पथ (विविध व्यापार), सूद पर ऋण देना तथा कृषि। स्पष्टतः इन चारों कर्मों में से किसी को भी केन्द्रीय कर्म नहीं कहा जा सकता क्योकि प्रत्येक कर्म इतना व्यापक है कि उसको करते हुए अन्य कर्म कर पाना प्रायः अशक्य है। यहाँ तक कि पशुरक्षण, सूद पर ऋणदान तथा कृषि के अतिरिक्त शेष सभी प्रकार के व्यापारों को वणिक्पथ शब्द के द्वारा ही अभिहित कर दिया गया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वैश्यों के कर्मों में वैविध्य होता है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वैश्यों के सभी कर्मों का सामान्य गुण ''उत्पादन अथवा वृद्धि'' है। मनु ने भी वैश्य के लिए निर्देश किया है कि ''वह धर्मपूर्वक द्रव्यों (भौतिक पदार्थो) की **वृद्धि** करे तथा समस्त प्राणियों को अन्न (भोजन) देने हेतु उत्तम प्रयत्न करे।''[32] संक्षेपतः यह कहा जा सकता है कि भौतिक पदार्थों की वृद्धि करना तथा समस्त प्राणियों की उदरपूर्ति करना वैश्य के निजकर्म हैं। स्पष्टतः इन दोनों में से उत्तरवर्ती अर्थात प्रजापोषण ही वैश्य का केन्द्रीय कर्म है **द्रव्यवृद्धि** तो इस केन्द्रीय कर्म का सहयोगी मात्र है क्योंकि इसके बिना केन्द्रीय कर्म का सम्पादन अशक्य है।

अब, शूद्रों पर दृष्टिपात किया जाय तो यही दिखाई देता है कि शूद्र का केवल एक की कर्म है – सेवा करना, किन्तु क्या सेवा एक ही प्रकार की होती है ? निश्चितरूपेण सेवा भी विविध होती है। यथा, स्वामी के खेतों में कार्य करना, स्वामी की वाटिका में कार्य करना, स्वामी के पशुओं को चराना, स्वामी का क्षौर व मालिश क़रना, स्वामी के वस्त्र धोना, स्वामी का भोज्य पकाना, स्वामी के लिए जल भरना, स्वामी के बर्तन धोना, स्वामी के घर में झाडू–पौंछा करना इत्यादि। इस प्रकार विविध व्यवसाय वाले वैश्यों की तथा विविध सेवाकर्मों वाले शूद्रों की कालान्तर में विविध श्रेणियाँ बन गयीं और जब वर्णप्राप्ति पैतृक परम्परा से होने लगी तो श्रेणियों के कार्य भी वंशानुगत हो गये। अब श्रेणियों के लिए ''जाति'' शब्द और भी प्रासंगिक हो गया क्योंकि कोई भी व्यक्ति 'जन्म' से ही अपनी पैतृक श्रेणी का सदस्य माना जाता था और प्रत्येक श्रेणी एक विशेष प्रकार का कर्म करती थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि जातिविशेष के लिए कर्मविशेष की व्यवस्था शाश्वत नहीं है जबकि वर्ण–व्यवस्था (इच्छित कार्य को करने की व्यवस्था) शाश्वत है। भले ही जातिविशेष के लिए कर्मविशेष की व्यवस्था यदा–कदा वर्णव्यवस्था में सहयोगिनी सिद्ध हो सकती है किन्तु वह समाज के लिए कदापि साध्य नहीं है अपितु वर्ण–व्यवस्था ही साध्य है। अभी तक

31.यत्किंचिदपि वर्षस्य दापयेत्करसंज्ञितम्। व्यवहारेण जीवन्तं राजा राष्ट्रे पृथग्जनम्।।मनु. 7–137

32. धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम्। दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः।। मनु. 9–333

भारतवर्ष में जातिविशेष के लिए कर्मविशेष की जो व्यवस्था चली आ रही थी वह एक आयोजित व्यवस्था थी न कि स्वाभाविक। यह कतिपय निमित्तों से चलती रही जिनमें से प्रमुख निम्नवत् हैं –

1. सम्पूर्ण भारतवर्ष शेष पृथ्वी से कटा हुआ था।
2. भारतीय व्यक्ति जातिविशेष के लिए कर्मविशेष की व्यवस्था का विरोध करके उदरपूर्ति नहीं कर सकता था।
3. यह व्यवस्था कथित उच्च जातियों के लिए लाभप्रद थी अतः वे इसे चलाये रखना चाहती थीं। उन्होंने सत्ता द्वारा इस व्यवस्था को अक्षुण्ण बनाये रखने का प्रयास किया।

बाह्य आक्रान्ताओं के आक्रमण द्वारा प्रथम निमित्त नष्ट हो गया। सारी पृथ्वी से जुड़ जाने के कारण भारत में आर्थिक स्वतन्त्रता उत्पन्न होने लगी और फलतः दूसरा निमित्त भी नष्ट हो गया। लोकतन्त्र की स्थापना के कारण तीसरा निमित्त भी नष्ट हो चुका है।

अन्ततः हम यह कहकर प्रकरण की समाप्ति करते हैं कि वर्ण स्वाभाविक व शाश्वत हैं और ये चार ही हो सकते हैं न इससे न्यून और न अधिक। उचित शिक्षा व्यक्ति को स्ववर्ण के बोध और विकास में सहयोग प्रदान करती है और इस उचित शिक्षा की व्यवस्था करना उनका स्वाभाविक और नैतिक कर्तव्य है जिन्हें लगता है कि वे ब्राह्मण हैं भले ही वे जीविकार्थ कुछ भी करते हों।

।। इति प्रथमाध्यायान्तर्गतं नवमप्रकरणम्।।

मूलतः वर्णों की संख्या – दो

जिस प्रकार अतिप्राचीन काल में भारतीय मनीषियों ने मनुष्यों के स्वाभाविक और आधारभूत प्रकार चार वर्णों के रूप में बताये उसी प्रकार पाश्चात्य विचारकों ने भी मनुष्यों के मौलिक प्रकारों के अन्वेषण पर बड़ा कार्य किया और वे अपने अन्वेषण के दौरान सत्य के अतिनिकट जा पहुँचे। उन्होंने मनुष्यों के दो मौलिक प्रकार बताये – अन्तर्मुखी (Introvert) तथा बहिर्मुखी (Extrovert)। जब आधुनिक भारतीय विचारकों ने उक्त विभाजन की तुलना चार वर्णों से की तो उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि "अन्तर्मुखी" प्रकार ब्राह्मण वर्ण का तथा "बहिर्मुखी" प्रकार क्षत्रिय वर्ण का द्योतक है क्योंकि ब्राह्मण भौतिक पदार्थों हेतु किसी भी प्रकार का बाह्य संघर्ष न करते हुए केवल दान पर ही जीवन चलाता है और प्रायः एक ही स्थान पर रहकर ज्ञान का आदान–प्रदान करता है जबकि क्षत्रिय प्रशासन, रक्षा, युद्ध आदि बाह्य संघर्षों में इधर से उधर स्थान–परिवर्तन करते हुए जीवन व्यतीत करता है। इन आधुनिक विचारकों ने शूद्र व वैश्य को पृथक् प्रकार नहीं माना अपितु शूद्र को ब्राह्मण का और वैश्य को क्षत्रिय का ही

अविकसित रूप बताया क्योंकि शूद्र भी उदरपूर्ति को ही जीवनलक्ष्य मानता है जबकि वैश्य धनार्जन को जीवनलक्ष्य मानता है और इस हेतु बाह्य जीवन में पर्याप्त संघर्ष करता है।

उपर्युक्त विवरण में पर्याप्त सार्थकता दिखाई देती है किन्तु इसमें सादृश्य को मौलिक लक्षण समझ लिया गया है। यद्यपि ब्राह्मण व शूद्र अन्तर्मुखी जीवन जीते हैं किन्तु यह कारण नहीं अपितु कार्य है। ब्राह्मण का मौलिक लक्षण "ज्ञान की कामना" है जबकि शूद्र का मौलिक लक्षण "उदरपूर्ति की कामना" है और आवश्यकता पड़ने पर वे दोनों अपने-अपने मौलिक लक्षणों की पूर्ति हेतु बाह्य संघर्ष भी कर सकते हैं। इसी प्रकार क्षत्रिय का मौलिक लक्षण "बल की कामना" है जबकि वैश्य का मौलिक लक्षण "सम्पत्ति की कामना" है। इन दोनों के मौलिक लक्षण प्रायः बाह्य संघर्ष में ले जाते हैं किन्तु भोजन, विश्राम, मनोरंजन आदि हेतु ये भी बाह्य संघर्ष छोड़ देते हैं। मनु भी उपनयन की न्यूनतम आयु बताते हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय, तथा वैश्य को क्रमशः ज्ञानार्थी, बलार्थी तथा इहार्थी कहते हैं।[33] यहाँ उपनयन का प्रसंग होने के कारण मनु ने शूद्र का लक्षण नहीं बताया है। पंचतन्त्र में कहा गया है कि "आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन में मनुष्यों की पशुओं से समानता है।"[34] शूद्र उसे कहते हैं जो केवल शारीरिक कामनाओं की पूर्ति से ही सन्तुष्ट हो जाता है। वस्तुतः शूद्र को एकज तथा शेष तीनों वर्णों को द्विज कहकर मनु ने "शेषवत् न्याय" से शूद्र का लक्षण बताया है अर्थात् जो न ज्ञानार्थी है, न बलार्थी है और न ही इहार्थी है वह शूद्र है।

इस प्रकार अन्तर्मुखता तथा बहिर्मुखता के आधार पर किया गया मनुष्यों का विभाजन आंशिकरूपेण सत्य होने पर भी ध्यानपूर्वक ही ग्रहण करने योग्य है अन्यथा भ्रान्त निष्कर्ष प्राप्त हो सकते हैं।

एक अन्य विभाजन के अनुसार मनुष्यों के पुनः दो प्रकार होते हैं – शासक (Ruler) तथा शासित (Ruled)। इस विभाजन के अनुसार शासक दो वर्णों में विभक्त हो जाते हैं – ब्राह्मण तथा क्षत्रिय। इसी प्रकार शासित भी दो वर्णों में विभक्त हो जाते हैं – वैश्य तथा शूद्र। इस विभाजन में पर्याप्त तथ्य विद्यमान है किन्तु मनुष्यों के प्रकारों का स्पष्ट बोध कराने हेतु यह अपर्याप्त है।

एक अन्य विभाजन के अनुसार मनुष्यों के पुनः दो प्रकार होते हैं – द्विज (Twice born) तथा एकज (Once born)। द्विज क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य में विभक्त हो जाते हैं जबकि एकज शूद्र के रूप में पूर्वोक्त तीनों की सेवा करते हैं। यह विभाजन वस्तुतः देवों द्वारा किया गया था जो रंगभेद

---

33. ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पंचमे। राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोष्टमे।। मनु. 2-37

34. आहारनिद्राभयमैथुनंच सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
 धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।।

पर आधारित था, अतः मनुष्यों के प्रकारों की पूर्ण व्याख्या हेतु अपर्याप्त ही है।

वस्तुतः शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण को क्रमशः उच्चतर मानते हुए चार वर्णों का सिद्धान्त ही निर्दुष्ट तथ्य है। अतः "यह कहना भ्रामक है कि मौलिकरूपेण दो ही वर्ण हैं" क्योंकि जो उपनयन का अनिच्छुक हो अथवा उपनीतों हेतु निश्चित किये गये नियमों के पालन में असमर्थ हो वही शूद्र कहलाता है।

।। इति प्रथमाध्यायान्तर्गतं दशमप्रकरणम्।।

वेदानुसार वर्णनिश्चय वंशानुगत नहीं

इस विषय पर पूर्व प्रकरणों में पर्याप्तरूपेण कहा जा चुका है। वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति अपने पूर्वजों के कर्मों, संस्कारों तथा ग्रहनक्षत्रीय प्रभावों के अधीन ही जन्म लेता है। वस्तुतः उसे अपने वर्ण का वरण भी नहीं करना पड़ता क्योंकि वह अपने व्यवहार और प्रतिक्रियाओं में अपने वर्ण को ही प्रकट करता है। वस्तुतः उसका वर्ण तो पूर्वनिश्चित होता है। उसे केवल स्ववर्ण के बोध की ही अपेक्षा होती है। उसके वर्ण का उसके माता–पिता के वर्ण से साम्य हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। वस्तुतः उसका वर्ण उसी पर आधारित है न कि उसके माता–पिता पर। ऋग्वेद (10–98) में एक गाथा है कि देवापि व शन्तनु दोनों ही ऋष्टिषेण के पुत्र थे। देवापि बड़ा भाई था किन्तु उसने राजा बनना स्वीकार नहीं किया फलतः शन्तनु ही राजा हुआ। शन्तनु के पापाचरण से अकाल पड़ा और देवापि ने यज्ञ करके वर्षा कराई। देवापि शन्तनु का पुरोहित था। इस प्रकार राजपुत्र होकर भी देवापि ने ब्राह्मणत्व स्वीकार किया क्योंकि वह ब्राह्मण था और उसे अपने ब्राह्मणत्व का बोध भी था। अतः जातक के कुल के आधार पर उसके वर्ण का निश्चय नहीं किया जा सकता। जातक के वर्ण का निश्चय तो उसके स्वभाव एवं रुचियों के निरीक्षण व परीक्षण के आधार पर ही किया जा सकता है। इतना ही नहीं, वर्णनिश्चय हेतु उसके अन्तःकरण का निर्णय ही अन्तिम प्रमाण माना जा सकता है। इस प्रकार वेदानुसार भी वर्णनिश्चय वंशानुगत नहीं अपितु व्यक्ति के अन्तःकरण के निर्णय पर ही आधारित है। मनु भी कहते हैं – "वेद सम्पूर्ण धर्म का मूल है किन्तु वेदज्ञों द्वारा निर्मित स्मृतियाँ तथा उनका स्वभाव, साधुओं का आचरण तथा आत्मतुष्टि भी धर्म के मूल हैं।"[35]

---

35. वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च।। मनु. 2–6

इस प्रकार मनु भी वेदों के साथ—साथ आत्मतुष्टि (अन्तःकरण के निर्णय) को भी प्रमाण मानते हैं और दोनों ही के अनुसार वर्ण **वरण** (चयन) का विषय होने से वंशानुगत नहीं है।

।। इति प्रथमाध्यायान्तर्गतं एकादशप्रकरणम्।।

किसी भी वर्ण के तिरस्कार का परिणाम

हम पहले भी कह चुके हैं कि चारों वर्णों का एक ब्रह्माण्डीय प्रयोजन है अतः एक भी वर्ण के कम होने पर वह प्रयोजन पूरा नहीं हो सकेगा। यथा कोई मनुष्य यह चाहे कि उसका शिर तो हो किन्तु पैर न हों तो उसकी यह इच्छा बिल्कुल ही मूर्खतापूर्ण होगी क्योंकि पैरों के बिना उसका जीवन सुचारुरूपेण नहीं चल सकेगा। इसी प्रकार वर्णविशेष वाले अन्य वर्ण वालों के प्रति सद्भाव न रखें तो उनका ऐसा करना अन्ततः उनके लिए भी हानिकारक ही होगा।

इस प्रकार इतना तो स्पष्ट ही है कि किसी भी वर्ण के तिरस्कार से अन्य वर्णों को भी हानि ही होगी किन्तु प्रत्येक व्यक्ति को यह बोध होना भी आवश्यक है कि समाज में किस वर्ण का क्या स्थान है ? जिस वर्ण का जो स्थान समाज में होना चाहिए यदि वह उसे प्राप्त न हो तो यह भी उस वर्ण का तिरस्कार ही होता है। अब हम यह देखते हैं कि किस वर्ण का समाज में क्या स्थान है ?

सर्वप्रथम, हम देखते हैं कि ब्राह्मण वर्ण का समाज में क्या स्थान है क्योंकि ब्राह्म संस्कृति में इसे ही समाजपुरुष का मुख कहा गया है। अथर्ववेद (5—17—9से18) ब्राह्मण वर्ण की सामाजिक स्थिति को अतिस्पष्ट करते हुए कहता है —

"विद्या का स्वामी (अथवा रक्षक) तो ब्राह्मण ही है, न तो क्षत्रिय और न ही वैश्य। सूर्य तो पाँचों मानवों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा वर्णदीक्षा से रहित दस्यु) के लिए विद्या को कहता हुआ चलता है। फिर भी सर्वप्रथम देवों (ब्राह्मणों) ने इसे ग्रहण किया फिर उनसे शेष मनुष्यों ने ग्रहण किया। फिर सत्य को ग्रहण करते हुए राजाओं ने सभी को ब्रह्मजाया (विद्या) प्रदान की। देवों द्वारा निष्पाप की गयी (अर्थात् ब्राह्मणों द्वारा उपदिष्ट) विद्या जो ऊर्जावान् व सभी द्वारा पाने योग्य है, को पूरी पृथ्वी में बाँटकर राजा विद्या की उपासना करते हैं। जिस राष्ट्र में ज्ञान का प्रसार रुक जाता है वहाँ इस राजा की जाया (अर्थात् समृद्धि) सैकड़ों धाराओं में बहने वाली और कल्याणी नहीं होती। जिस राष्ट्र में ज्ञान का प्रसार रुक जाता है उस राजा के घर में कोई भी बड़े कान वाला (जिसने श्रेष्ठज्ञान चर्चा सुनी हो) तथा बड़े सिर वाला (जिसकी विचारक्षमता अतितीव्र हो) जन्म नहीं लेता। जिस राष्ट्र में ज्ञान का प्रसार रुक जाता है ऐसे राजा का अलंकृत भृत्य भी हिंसको (अराजक तत्त्वों) के आगे नहीं जाता। जिस राष्ट्र में ज्ञान का

प्रसार रुक जाता है उस राजा का काले कान वाला (अच्छी नस्ल वाला) सफेद घोड़ा भी रथ में जुतकर शोभित नहीं होता। जिस राष्ट्र में विद्या का प्रसार रुक जाता है उस राजा के खेत में न पुष्करिणी (कमल) और न ही उसकी नाल उत्पन्न होती है। जिस राष्ट्र में विद्या का प्रसार रुक जाता है, वहाँ जो किसान फसल की कामना करते हैं वे उस राजा के लिए भूमि नहीं जोत पाते (अवर्षण आदि के कारण)। जहाँ ब्राह्मण रात्रि में भूखा सोता हैं उस राजा की न तो गाय दुधारू होती है और न बैल जुए को धारण कर पाता है।[36] इतना ही नहीं, अथर्ववेद (12–5–7 से 11) में कहा गया है – "ओज, तेज, सहनशक्ति, बल, वाणी, इन्द्रियाँ, श्री, धर्म, ब्राह्मण, क्षत्रिय, राष्ट्र, वैश्य, कान्ति, यश, वर्चस्व, धन, आयु, तप, नाम, कीर्ति, प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, दूध, रस, अन्न, अन्नाद्य, ऋत (कानून, नीति) सत्य, इष्ट, पूर्त, प्रजा, पशु, आदि समस्त पदार्थ उस राजा के नष्ट हो जाते हैं जो विद्या का प्रसार नहीं करता और ब्राह्मणों को सताता है।[37]

---

36. ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः। तत् सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पंचभ्यो मानवेभ्यः ।। 9।।

पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या अददुः। राजानः सत्यं गृह्णाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः ।। 10।।

पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वा देवैर्निकिल्विषम्। ऊर्जं पृथिव्या भवत्वोरुगायमुपासते ।। 11।।

नास्य जाया शतवाही कल्याणी तल्पमाशये। यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या ।। 12।।

न विकर्णः पृथुशिरास्तस्मिन् वेश्मनि जायते। यस्मिन् राष्ट्रे .... ।। 13।।

नास्य क्षत्ता निष्कग्रीवः सूनानामेत्यग्रतः। यस्मिन् राष्ट्रे .... ।। 14।।

नास्य श्वेतः कृष्णकर्णो धुरि युक्तो महीयते। यस्मिन् राष्ट्रे .... ।। 15।।

नास्य क्षेत्रे पुष्करिणी नाण्डीकं जायते बिसम्। यस्मिन् राष्ट्रे .... ।। 16।।

नास्मै पृश्निं विदुहन्ति येऽस्या दोहमुपासते। यस्मिन् राष्ट्रे .... ।। 17।।

नास्य धेनुः कल्याणी नानड्वान्त्सहते धुरम्।

विजानिर्यत्र ब्राह्मणो रात्रिं वसति पापयो।। 18।। अथर्ववेद (5–17–9 से 18)

37. ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ।। 7।।

ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ।। 8।।

आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च ।। 9।।

पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं चर्तं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ।। 10।।

तानि सर्वाण्यपि क्रामन्ति ब्रह्मगवीमाददानस्य जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य ।। 11।।

इस प्रकार वेदानुसार ब्राह्मणों की उदरपूर्ति की व्यवस्था तथा वे ज्ञान का प्रसार कर सकें ऐसी व्यवस्था न होने पर उस राज्य अथवा देश का सर्वनाश ही हो जाता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ब्राह्मणों का ही महत्त्व है अन्यों का नहीं। जैसे शरीर में सिर उच्चस्थानी होता है किन्तु महत्त्व तो सभी अंगों का होता है। इसलिए यजुर्वेद (20–25) कहता है कि "जहाँ ब्रह्मबल और क्षत्रबल दोनों भली–भाँति प्रीतिपूर्वक व्यवहार में लाये जाते हैं और जहाँ देवता अग्नि के साथ रहते हैं (अर्थात् यज्ञादि सर्वदा होते रहते हैं) वही देश पुण्यलोक होता है।[38]

वस्तुतः अकेला विद्याप्रचार समाज का उत्थान नहीं कर सकता अपितु प्रशासन भी आवश्यक है क्योंकि प्रशासन के अभाव में खलजन विद्याप्रचार को बाधित कर ही देंगे। अतः ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों वर्णों का परस्पर सहयोगपूर्वक कार्य करना अत्यावश्यक है इस हेतु क्षत्रियों को सर्वदा ब्राह्मणों के मार्गदर्शन में रहना चाहिए। यदि ये दोनों वर्ण ठीक से कार्य कर रहे हों तो शेष समाज स्वयमेव न केवल ठीक रहेगा अपितु उन्नति भी करेगा। अब ऐसे में ब्राह्मण व क्षत्रिय वर्ण के लोग वैश्यों व शूद्रों के प्रति सद्भाव न रखें तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि वैश्यों व शूद्रों के न होने पर ब्राह्मण व क्षत्रिय अपना पूर्ण विकास नहीं कर सकते। अतः चारों वर्णों को एक ही शरीर के अवयवों की भाँति प्रीतिपूर्वक ही देखना चाहिए। अथर्ववेद में कहा गया है – "मुझे ब्राह्मणों में प्रिय करो, मुझे क्षत्रियों में प्रिय करो, सभी मुझे प्रेम से देखें चाहे वे शूद्र हों अथवा वैश्य हों।"[39] इसी आशय से यजुर्वेद में भी कहा गया है – "हमारी ब्राह्मणों में रुचि हो, हमारी क्षत्रियों में रुचि हो, हमारी वैश्यों व शूद्रों में रुचि हो, तथा इस रुचि में मेरी रुचि हो।"[40] इस प्रकार वेदों में चारों वर्णों में रुचि रखने और चारों वर्णों में प्रिय होने की कामना का उपदेश दिया गया है। अतः वेदानुसार किसी भी वर्ण का तिरस्कार अनुचित, अज्ञानतापूर्ण तथा ब्रह्माण्डीय प्रयोजन के विरुद्ध है। चारों वर्णों के प्रति प्रीति रखने पर ही समाज का समुचित विकास हो सकता है।

।। इति प्रथमाध्यायान्तर्गतं द्वादशप्रकरणम्।।

---

38. यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यंचौ चरतः सह। तँल्लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना।।

यजुर्वेद 20–25

39. प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु। प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये।।

अथर्ववेद 19–62–1

40. रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि। रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्।।

यजुर्वेद 18–48

वर्णों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या

पी. डी. ऑस्पेंस्की के अनुसार मनोविज्ञान की चार परिभाषाएं हैं–

1. मनोविज्ञान मनुष्य के "सम्भावी उद्विकास" के सिद्धान्तों, नियमों तथा तथ्यों का अध्ययन है।
2. मनोविज्ञान स्वयं का अध्ययन है।
3. मनोविज्ञान असत्य का अध्ययन है।
4. मनोविज्ञान एक नवीन भाषा का अध्ययन है जो सार्वत्रिक है।

ऑस्पेंस्की महोदय के अनुसार मनुष्य एक अल्पविकसित प्राणी है। प्रकृति एक निश्चित बिन्दु तक मनुष्य का विकास करती है फिर उसे छोड़ देती है। इसके पश्चात् वह चाहे तो विशेष प्रयासों अथवा उपायों द्वारा विकसित हो सकता है अथवा प्रकृति ने उसे जिस बिन्दु पर छोड़ा था, उसी बिन्दु पर अथवा उससे भी निम्न बिन्दु पर बने रहकर अन्ततः अल्पविकसित अवस्था में ही मर सकता है।

ऑस्पेंस्की महोदय के अनुसार मानव जाति की समस्त समस्याओं को ठीक–ठीक तभी समझा जा सकता है जब हम मनुष्य को एक अल्पविकसित प्राणी के रूप में देखें। यही मनुष्य और अन्य प्राणियों को बीच सबसे बड़ा भेद है। अन्य प्राणी पूर्ण विकसित हैं किन्तु मनुष्य अल्पविकसित है और जब तक मनुष्य अल्पविकसित रहेगा, दुःखी और असन्तुष्ट रहना उसकी नियति है। सम्पूर्ण जीवन इस भाँति सुनियोजित है कि मनुष्य किसी न किसी बहाने अपनी अल्पविकसित अवस्था को देखने से वंचित रह जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानव जाति की यह अवस्था कुछ महान् शक्तियों के लिए उपयोगी है अतः वे इसे बनाये रखने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहती हैं। इन शक्तियों द्वारा चलाया जाता हुआ मनुष्य अपनी मूढता के वशीभूत होकर यह विचार करता है कि वह अपने जीवन को स्वयं चला रहा है तथा अपने लक्ष्यों के अनुरूप अपने जीवन को संगठित कर सकता है। इसी तथ्य को अभिव्यक्त करते हुए गीता में कहा गया है कि समस्त कर्म सब प्रकार से प्रकृति के गुणों द्वारा किये जा रहे हैं किन्तु अहंकार (स्वयं के प्रति अज्ञान) से मोहित हुआ व्यक्ति "मैं कर्ता हूँ" ऐसा मानता है।[41] मनुष्य अपनी इस अल्पविकसित अवस्था में केवल इतना उपयोगी है कि वह प्रजनन कर सकता है और इससे मानव जाति नष्ट होने से बची रहती है। यदि मनुष्य के द्वैतीयक कामलक्षण पूर्णविकसित हो सकें तो इसे मनुष्य की अर्धविकसित अवस्था कह सकते हैं।

द्वैतीयक कामलक्षण (secondary sex characters) वे लक्षण हैं जो उन गुणों व विशेषताओं के लिए प्रयुक्त होते हैं जो यद्यपि कामक्रियाओं के सहज अस्तित्व के लिए अर्थात् इन क्रियाओं से सम्बन्धित

---

41. प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।। गीता 3–27

सभी संवेदनों व घटनाओं के लिए अपरिहार्य नहीं हैं तथापि प्राथमिक कामलक्षणों (जननांगों) से अतिनिकटरूपेण सम्बद्ध हैं। यह इस तथ्य से प्रदर्शित होता है कि द्वैतीयक कामलक्षण प्राथमिक कामलक्षणों पर निर्भर हैं। जननांगों की प्रत्यक्ष क्रिया में दुर्बलता आ जाने पर अथवा जननांगों के आहत हो जाने की दशा में अर्थात् प्राथमिक कामलक्षणों के परिवर्तन की दशा में द्वैतीयक कामलक्षण तत्काल बदल जाते हैं, दुर्बल हो जाते हैं अथवा लुप्त भी हो जाते हैं।

द्वैतीयक कामलक्षण ''जननांगों से पृथक्'' वे लक्षण हैं जो पुरुष व स्त्री को एक–दूसरे से भिन्न व असमान बनाते हैं। ये लक्षण हैं – अस्थि–पंजर का भिन्न रचनात्मक गठन, शरीर की रेखाओं में भेद, शरीर पर मांसपेशियों तथा वसा का भिन्न वितरण, चलने में भेद, शरीर पर लोमराशि का भिन्न वितरण, भिन्न ध्वनि; सहजस्फूर्त क्रियाओं, संवेदनों, रुचियों, प्रकृति, भावों, बाह्य उद्दीपकों के प्रति प्रतिक्रियाओं इत्यादि में भेद। इसके अतिरिक्त एक भिन्न मनोवृत्ति जिसे पुरुषमनोवृत्ति तथा स्त्रीमनोवृत्ति कहा जाता है।

औषधिशास्त्र में द्वैतीयक कामलक्षणों तथा उनके परिवर्तनों का अध्ययन विभिन्न रुग्णावस्थाओं की सही पहचान तथा सही निदान के लिए प्रायः आधार का कार्य करता है। अतः द्वैतीयक कामलक्षणों की प्रचुरता तथा समृद्धि व्यक्ति के समुचित विकास की कसौटी है। वस्तुतः द्वैतीयक कामलक्षणों की दुर्बलता व परिवर्तन अर्थात् स्त्री में पुरुषलक्षणों का प्रकटन तथा पुरुष में स्त्रीलक्षणों का प्रकटन ''जननसामर्थ की क्षीणता'' तथा ''मध्यवर्ती लिंग'' (नपुंसक) का सर्वाधिक सामान्य प्रतिफलन है।

इसी कारण मनुष्य को अन्य प्राणियों की तुलना में इतनी अधिक काम ऊर्जा प्रदान की गयी है ताकि वह प्रजनन शक्ति पाते ही उसका निष्कासन न करने लगे अपितु द्वैतीयक कामलक्षणों का पूर्णविकास होने तक उसे शरीर के भीतर ही खपा दे। प्राचीन मनीषियों के अनुसार प्रायः 20 वर्ष की आयु तक एक युवक में तथा 16 वर्ष की आयु तक एक युवती में द्वैतीयक कामलक्षणों का विकास होता रहता है। भौगोलिक परिस्थितियों की भिन्नता के कारण कहीं–कहीं उक्त आयु एक–दो वर्ष न्यूनाधिक हो सकती है। इस विषय में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य वर्तमान सभ्यता में अतिउपेक्षित हो रहा है और वह यह है कि **द्वैतीयक कामलक्षणों के विकासकाल में एक ही बार किये गये मैथुन के परिणामस्वरूप भी किसी युवक अथवा युवती में द्वैतीयक कामलक्षणों के विकास की गति न केवल तत्काल धीमी हो जाती है अपितु निश्चित समय से पहले ही रुक जाती है।** फलतः उस युवक अथवा युवती में द्वैतीयक कामलक्षण अपनी पूर्णविकसित अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाते। आयुर्वेद में अनेकशः कहा गया है कि कुछ व्यक्तियों के बहुत–से आनुवांशिक तथा नवीन रोगों का वास्तविक

कारण द्वैतीयक कामलक्षणों का पूर्ण विकसित न हो पाना ही है। किसी भी व्यक्ति में द्वैतीयक कामलक्षणों के पूर्णविकास के पूर्व बनने वाले जननाणु भी द्वैतीयक कामलक्षणों के पूर्णविकास के पश्चात् बनने वाले जननाणुओं की तुलना में अविकसित होते हैं। इस प्रकार द्वैतीयक कामलक्षणों के पूर्णविकास के पूर्व ही किये गये मैथुन से उत्पन्न सन्तान भी बहुत से नवीन रोगों अथवा हीनताओं से युक्त हो सकती है। अतः द्वैतीयक कामलक्षणों के पूर्णविकास की पहली शर्त है– कामसंयम (Sexual abstinence)। किन्तु यह शर्त अपर्याप्त है। द्वैतीयक कामलक्षणों के पूर्णविकास की अन्य शर्तें भी हैं। द्वैतीयक कामलक्षणों के पूर्णविकास की दूसरी शर्त है – परिपूरक संयम (Supplementory abstinence)। परिपूरक संयम के अन्तर्गत अनेक बातों को वर्जित किया गया है, यथा – मद्य, मांस, इत्र, माला, अचार, खटाई, तैल–मालिश, आँखों में अंजन, जूते, छाता, शृंगार से सम्बन्धित नृत्य, गीत तथा वादन, जुआ, गपशप, निन्दा, झूठ, स्त्रियों को देखना, दूसरे के साथ सोना इत्यादि। द्वैतीयक कामलक्षणों के पूर्णविकास की तीसरी शर्त है – तप (Austerity)। तप के अन्तर्गत भी अनेक बातें आती हैं, यथा – सूर्योदय के पूर्व स्नान, जप–ध्यानादि करना, दिन में न सोना, भूमि पर सोना, प्रतिदिन भिक्षा माँगना, प्रतिदिन पंचमहायज्ञों को करना इत्यादि। द्वैतीयक कामलक्षणों के पूर्ण विकास की चौथी तथा अन्तिम शर्त है – प्राकृतिक जीवन (Natural life)। इसके अनुसार केवल प्राकृतिक पदार्थों का अधिकाधिक उपयोग किया जाना चाहिए। अनाज, दाल, शाक आदि को पकाकर खाना ही सुगम होता है अतः प्राकृतिक अवस्था में इनका उपयोग नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार वस्त्र भी प्राकृतिकरूपेण प्राप्त नहीं किये जा सकते। प्राचीनकाल में किसी–किसी गुरुकुल में इस चौथे नियम को पूरी तरह लागू किया गया था। वहाँ पर बाँस, लकड़ी, छप्पर आदि से बनी कुटियों में रहा जाता था, बल्कल–वस्त्र पहने जाते थे, अग्नि द्वारा न पकाये गये कन्दमूलफल ही खाये जाते थे तथा तुम्बे में नदी का जल लेकर पिया जाता था। ये चारों शर्तें केवल शारीरिकदृष्ट्या ही नहीं अपितु बौद्धिक एवं भावनात्मक विकास की दृष्टि से भी नितान्त उपयोगी मानी जाती थीं।

अस्तु, उपर्युक्त विवरण का वर्णों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या से क्या सम्बन्ध है ?

ऑस्पेंस्की महोदय के अनुसार इस ब्रह्माण्ड में प्रत्येक जीव अपने से निम्नतर जीवों का भोक्ता है तथा अपने से उच्चतर जीवों के लिए भोग्य है। इसी सिद्धान्त को "जीवो जीवस्य भोजनम्" के रूप में व्यक्त किया जाता है। प्रत्येक मनुष्य (वस्तुतः प्रत्येक प्राणी) अपनी अविकसित अवस्था में, चाहे वह किसी भी वर्ण का हो, कुछ विशिष्ट शक्तियों के लिए खाद्य है। अविकसित मनुष्य की मृत्यु होने पर उसके शरीर से एक विशिष्ट ऊर्जा निकलती है जिसके सेवन से वे शक्तियाँ अपनी उदरपूर्ति करती हैं। इसे ठीक से समझाने के लिए शास्त्रों में मनुष्यों की तुलना अनाज के बीजों से की गयी है। जिस प्रकार विविध

अनाज मनुष्य के लिए खाद्य हैं किन्तु मनुष्य सारा अनाज नहीं खा लेता अपितु थोड़ा–थोड़ा सभी प्रकार के अनाजों को बचा लेता है ताकि उन्हें बोकर पुनः पर्याप्त अनाज प्राप्त कर सके। इसी प्रकार वे शक्तियाँ भी ऐसा नहीं चाहती कि सभी मनुष्य अविकसित ही रह जायें अपितु कुछ मनुष्य पूर्णविकसित हो सकें ताकि वे मानवजाति को युद्धों आदि में पूर्णतया नष्ट होने से बचा सकें। जब भी बड़े युद्ध होते हैं तो वे शक्तियाँ अतिप्रसन्न होती हैं क्योकि इन युद्धों में बहुत–से मनुष्य मरते हैं। फलतः अविकसित मनुष्यों की मृत्यु के उपरान्त उनके शरीरों से निकलने वाली विशिष्ट ऊर्जा बड़ी मात्रा में इन शक्तियों को प्राप्त होती है किन्तु यदि मानवजाति के पूर्णविनाश की सम्भावना उत्पन्न हो जाये तो वे शक्तियाँ भयभीत होने लगती हैं क्योंकि इसका अर्थ होगा कि भविष्य में वे शक्तियाँ भूखों मरेंगी। ब्रह्माण्डीय प्रभाव अनेक प्रकार के होते हैं। अविकसित मनुष्य सकारात्मक प्रभावों को ग्रहण करने में असमर्थ होते हैं। अतः नकारात्मक ब्रह्माण्डीय प्रभावों को ग्रहण करती हुई मानवजाति हिंसा, रक्तपात तथा युद्धों के लिए अत्यन्त आतुर रहती है। केवल पूर्णविकसित मनुष्य ही इन नकारात्मक प्रभावों से मानवजाति को बचा सकते हैं। अतः निरन्तर कुछ अविकसित मनुष्यों को पूर्णविकसित होने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। प्रकरण के आरम्भ में दिये गये विवरण में हम देख चुके हैं कि अविकसित मनुष्य दो प्रकार के होते हैं – अल्पविकसित तथा अर्धविकसित। इनमें से अल्पविकसित मनुष्य अत्यन्त कठिनतापूर्वक ही पूर्णविकसित बन सकते हैं किन्तु अर्धविकसित मनुष्य अपेक्षाकृत न्यून कठिनता से ही पूर्णविकसित हो सकते हैं। इतना ही नही, यदि एक अर्धविकसित मनुष्य पूर्णविकसित होने से पहले ही मर जाता है तो उसके शरीर से निकलने वाली विशिष्ट ऊर्जा की मात्रा भी एक अल्पविकसित मनुष्य के शरीर से निकलने ऊर्जा की तुलना में अत्यधिक होती है। इस प्रकार मनुष्य की केवल दो ही सम्भावनाएं हैं कि वह या तो ब्रह्माण्डीय शक्तियों के लिए खाद्य बने अथवा पूर्णविकसित होकर उन शक्तियों से मुक्त हो जाये (दूसरे शब्दो में, मोक्ष को प्राप्त कर ले)। किन्तु दोनों ही सम्भावनाओं की दृष्टि से अर्धविकसित अवस्था अल्पविकसित अवस्था की तुलना में अधिक उपयोगी है। जो मानव समुदाय पूर्णविकसित अवस्था को प्राप्तव्य मानता है वह स्वाभाविकरूपेण ही अर्धविकसित अवस्था की प्राप्ति की सम्भावनाओं को प्रबल बनाने हेतु प्रयासरत रहेगा। इतना ही नहीं, जिस प्रकार शैशव में व्यक्ति माता का स्तन्य पीकर जीता है किन्तु बाद में वह अन्न भी ग्रहण करने लगता है और कुछ काल बाद वह स्तन्य छोड़ देता है उसी प्रकार वे शक्तियाँ भी "एक निश्चित समय तक" ही अल्पविकसित मनुष्यों को स्वीकार करती हैं किन्तु बाद में वे केवल अर्धविकसित मनुष्यों को ही स्वीकार करती हैं। यदि उन्हे अर्धविकसित मनुष्य प्राप्त न हों तो वे भूख से मर जायेंगी और उनके मरते ही पृथ्वी के सारे प्राणी भी तत्काल मृत्यु को प्राप्त हो जायेंगे क्योंकि प्राणियों का जीवन भी उन्ही शक्तियों

पर आधारित है। यह तो केवल मनीषीजन ही जान सकते हैं कि वह "निश्चित समय" आ चुका है अथवा आने वाला है। जो भी हो, सारे प्राणियों की रक्षा हेतु भी न्यूनातिन्यून कुछ मनुष्यों का अर्धविकसित होना अतिआवश्यक है और यह उत्तरदायित्व विशेषतः ब्राह्मणों व क्षत्रियों पर है। न्यूनातिन्यून प्रायः सभी ब्राह्मणों का अर्धविकसित होना अनिवार्य है। अर्धविकसित होने का प्रयास वस्तुतः सर्वकल्याण का कार्य है। अतः इस प्रयास के विषय में ठीक ही कहा गया है – आत्मनो मोक्षाय जगद्धिताय च। ऑसपेंस्की महोदय कहते हैं कि यह तो आधुनिक मनोविज्ञान भी मानता है कि शारीरिक व मानसिकदृष्ट्या मनष्यों के अनेक प्रकार हैं और वे अपनी प्रवृत्तियों व रुचियों के अधीन ही कार्य करते हैं। किसी भी सभ्यता में ज्ञान–विज्ञान में रत मनुष्यों का अतिमहत्त्व होता है और उनके कृत्य समग्र सभ्यता को प्रभावित करते हैं। यथा, वर्तमान सभ्यता में विध्वंसकारी अस्त्र–शस्त्र अत्यन्त उच्च प्रभाव रखते हैं। इन अस्त्र–शस्त्रों का निर्माण ज्ञान–विज्ञान में रत मनुष्यों द्वारा ही किया गया है किन्तु आरम्भ में उन मनुष्यों का उद्देश्य विध्वंसकारी अस्त्र–शस्त्रों का निर्माण कदापि नहीं था। वे तो मार्ग, बस्ती आदि में निर्माण हेतु इन सामग्रियों का निर्माण कर रहे थे किन्तु शक्ति, शासन आदि के इच्छुक व्यक्तियों ने इन शक्तियों का उपयोग मनुष्यों के नाश में किया और बाद में इन शक्तिशाली व प्रशासक मनुष्यों ने अतिव्यवस्थितरूपेण विध्वंसकारी अस्त्र–शस्त्रों के निर्माण का उपक्रम प्रारम्भ किया और ज्ञान–विज्ञान में रत मनुष्यों को भय अथवा प्रलोभन के द्वारा इस कार्य में नियुक्त किया। इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र ये चार प्रकार के मनुष्य हैं और किसी भी प्रकार के उपाय, विचारधारा अथवा बलप्रयोग के द्वारा मनुष्यों के ये चार प्रकार समाप्त नहीं किये जा सकते। यदि इन चारों प्रकारों को स्वीकार न किया जाये तो एक ऐसे समाज का निर्माण होता है जिसमें श्रेष्ठजन हीनजनों के प्रभाव व सेवा में आ जाते हैं। यद्यपि वैयक्तिक स्वातन्त्र्य (Individual freedom) की हानि व सामाजिक अत्याचार को देखकर वे दुःखी तथा संतप्त होते हैं किन्तु वे इसे बदलने में असमर्थ होते हैं। प्रायः यही होता आया है। ऐसा होने की केवल दो ही स्थितियाँ हैं – या तो "वंशपरम्परागत वर्ण और निरंकुशता" अथवा "वंशपरम्परागत वर्णों से संघर्ष और निरंकुशता"। मानवता का सम्पूर्ण इतिहास इन्हीं दो स्थितियों के बीच झूलता रहा है। दोनों ही स्थितियों में मानवता प्रताडित और त्रस्त हुई है। तीसरी अवस्था अर्थात वर्णों का सम्यक् विभाजन भी बार–बार बताया गया किन्तु मानवता शायद ही कभी उस पर चली है। यहाँ तक कि, अनजाने ही यदि मानवता ने वर्णों के सम्यक् विभाजन का अनुसरण किया तो तत्काल ऐसा परिणाम हुआ जिससे इतिहास कई शताब्दियों बाद तक जगमगाता रहा। **इतिहास के सभी उत्कृष्टतम काल निरपवादरूपेण वे काल थे जिनमें सामाजिक व्यवस्था ने वर्ण–व्यवस्था का अनुसरण किन्तु जिनमें वंशपरम्परागत वर्णों की मान्यता या तो पहले से ही**

क्षीण हो रही थी अथवा अब तक पर्याप्त दृढ नहीं हुई थी।

वस्तुतः वर्णों के सम्यक् विभाजन हेतु किसी भी प्रकार के हिंसक उपाय पूर्णतया अनुपयोगी तथा भीड़ के द्वारा कार्य करना अथवा भीड़ का उपयोग करना पूर्णतया निरर्थक है क्योंकि दोनों दशाओं में प्राप्त परिणाम अभीष्ट परिणामों के ठीक विपरीत होते हैं।

यद्यपि ऑस्पेंस्की महोदय के उपर्युक्त मत का अधिकांश भाग अपार्थिव है किन्तु उनके मत के पार्थिव भाग से असहमत होना सम्भव नहीं है। हमारा विचार है कि वर्णों के सम्यक् विभाजन के आरम्भ का केवल एक ही उपाय है कि विज्ञान एवं कला के सभी क्षेत्रों से जुड़े पृथ्वी के सारे लोग संगठित हो जायें और वे राजनेताओं के हाथों की कठपुतली बनने से इन्कार कर दें। वे घोषणा करें कि उनका ज्ञान मानवता की उन्नति व रक्षा के लिए है न कि राजनेताओं के बड़े–बड़े वाक्यों के पीछे छिपे स्वार्थपूर्ण और मानवताविरोधी घृणित लक्ष्यों की पूर्ति के लिए। ये लोग उन्हीं बच्चों को ज्ञान प्रदान करें जो उनके अनुशासन व नियमों को स्वीकार करें। ये उन्हीं बच्चों को स्वीकार करें जिनके माता–पिता स्वतः अपने बच्चे इन लोगों को समर्पित करें। ये लोग समर्पित किये गये बच्चों में से सबसे पहले ब्राह्मणों को छाँटें, इसके पश्चात् क्षत्रियों को, शेष को वैश्य व शूद्र समझें। इन छाँटे हुए बच्चों का पुनः पुनः निरीक्षण–परीक्षण करते रहें। कुछ काल बाद क्षत्रिय व वैश्य के रूप में छाँटे गये बच्चों में से पुनः कुछ बच्चे ब्राह्मण सिद्ध होंगे, वस्तुतः यह वर्णोत्थान की घटना होगी। कुछ बच्चों में वर्णपतन भी हो सकता है। जो बच्चे अनुशासन व नियमों का पालन बन्द कर दें उन्हें ये लोग अपने शिष्यत्व से बहिष्कृत कर दें।

।। इति प्रथमाध्यायान्तर्गतं त्रयोदशप्रकरणम् ।।

।। इति प्रथमोऽध्यायः ।।

द्वितीय अध्याय

महर्षि मनु एवं उनके द्वारा प्रतिपादित वर्ण–व्यवस्था

राजर्षि मनु का जीवन–वृत्त

तैत्तिरीय संहिता, ताण्ड्य ब्राह्मण, निरुक्त, रामायण, महाभारत प्रभृति अनेकों ग्रन्थों में महर्षि मनु का उल्लेख हुआ है। किन्तु उनके जीवन–वृत्त का विस्तृत उल्लेख कहीं भी उपलब्ध नहीं है। इतना सभी ग्रन्थों में एकमत से स्वीकार किया गया है कि जलप्लावन के काल में ही मनु ने मानवता के कल्याण के लिए धर्मोपदेश किया था। निरुक्तकार ने एक स्थान पर मनु के मत का उल्लेख करते हुए कहा है – "धर्मानुसार दायभाग में पुत्र व पुत्री का समानरूपेण अधिकार होता है। यह स्त्री–पुरुषों के जोड़े बनने के आदिकाल में ही स्वायम्भुव मनु ने कहा था।"[42]

मनुस्मृति में तीन स्थानों पर मनु के वंश का उल्लेख है –

(क) ब्रह्मा से विराज, विराज से मनु, मनु से मरीचि आदि दश ऋषि उत्पन्न हुए।

(मनु. 1–32 से 35)

(ख) ब्रह्मा से मनु ने धर्मशास्त्र पढा, मनु से मरीचि, भृगु आदि ने। यह विद्यावंश का वर्णन है।

(मनु. 1–58 से 60)

(ग) हिरण्यगर्भ (अब्राहम) के पुत्र मनु हैं और मनु के मरीचि आदि। (मनु. 3–194)

यद्यपि उपर्युक्त तीनों प्रसंगों को डॉ. सुरेन्द्र कुमार ने अपने "मनुस्मृति–अनुशीलन" में सप्रमाण प्रक्षिप्त सिद्ध किया है तथापि इन्हें पारम्परिक जनश्रुति के रूप में स्वीकार किया जाय तो स्वायम्भुव मनु पुत्र या शिष्य के रूप में ब्रह्मा से दूसरी पीढ़ी के ठहरते हैं। यही तथ्य उनके **स्वायम्भुव** अर्थात् "स्वयम्भू (ब्रह्मा अथवा अब्राहम) का पुत्र या शिष्य" विशेषण से भी स्पष्ट होता है। महाभारत तथा पुराणों में प्राप्त वंशावलियों में भी मनु को ब्रह्मा का पुत्र बताया गया है अथवा सीधे ब्रह्मा के शिष्य के रूप में उनका वर्णन है।

वैष्णव मान्यताओं के अनुसार ब्रह्मा को जलप्लावन से पूर्ववर्ती माना जाता है और प्रत्येक रक्तवंश तथा विद्यावंश ब्रह्मा से ही आरम्भ होता है। वस्तुतः जलप्लावन के पश्चात् ऋषियों ने साधारण मनुष्यों को ज्ञान प्रदान करने के पूर्व स्वयं भी श्रेष्ठ ऋषियों से ज्ञान प्राप्त किया था। इन श्रेष्ठ ऋषियों में से

---

42. अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः। मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्।।

निरुक्त 3–4

एक स्वायम्भुव मनु भी थे जिन्होंने ''वर्णाश्रम धर्मों'' का उपदेश अन्य ऋषियों को किया था। महाभारत के शान्तिपर्व (67–15से30) में उल्लेख है कि आदिकाल में लूटपाट, अराजकता आदि से त्रस्त हुई प्रजा ने मनु से राजा बनने का निवेदन किया और बदले में पशु और स्वर्ण का पचासवाँ भाग कर के रूप में देने का वचन दिया। प्रजा के इस निवेदन का कारण यह हो सकता है कि मनु की प्रसिद्धि वर्णाश्रम धर्मों के व्याख्याता के रूप में हो चुकी होगी तथा मनु ने भी राजा को वर्णाश्रम धर्मों का रक्षक बताया था। प्रजा ने भी राजा के रूप में मनु का वरण करना ही समीचीन माना। वैसे भी नौका का निर्माण कराने के कारण मनु की प्रजावत्सलता पहले ही सिद्ध हो चुकी थी।

यद्यपि कार्य की प्रस्तावना में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि वर्तमान मनुस्मृति मनुप्रोक्त नहीं है अपितु किसी ब्राह्मण ने ब्राह्म संस्कृति की स्थापना हेतु राजर्षि मनु के वचनों के साथ अपने आशय को मिलाकर इसकी रचना की है तथापि विवशता एवं सरलता के कारण हम सर्वत्र उक्त **ब्राह्म** ब्राह्मण लेखक के लिए **मनु** शब्द का ही प्रयोग करेंगे।

।। इति द्वितीयाध्यायान्तर्गतं प्रथमप्रकरणम्।।

महर्षियों द्वारा मनु से वर्णोपदेश करने की प्रार्थना

जलप्लावन के पश्चात् गोत्र–परम्परा की स्थापना करके ऋषियों ने साधारण मनुष्यों को ज्ञान प्रदान किया किन्तु इसके पूर्व उन्होंने भी अन्य श्रेष्ठ ऋषियों से ज्ञान प्राप्त किया। महर्षि मनु की ख्याति वर्णाश्रम धर्मों के ज्ञाता के रूप में थी। अतः स्वाभाविकरूपेण ही ऋषियों ने महर्षि मनु से वर्णाश्रम धर्मों के उपदेश की प्रार्थना की होगी।

मनुस्मृति **संकलन शैली** का एक ग्रन्थ है जिसमें मनु के प्रवचनों का संकलन किया गया है। संकलन शैली की विशेषता यह होती है कि इसमें वक्ता के भावों का यथावत् संकलन होता है। संकलयिता भूमिकास्वरूप वक्ता के प्रवचन के पूर्व की घटना तथा कभी–कभी उपसंहारस्वरूप प्रवचन के पश्चात् की घटना का उल्लेख करता है किन्तु न तो वक्ता के प्रवचन के बीच में संकलयिता की ओर से कोई बात कही जाती है और न ही वक्ता के किसी कथन को किंचिदपि परिवर्तित किया जाता है। मनुस्मृति भी इसी शैली का ग्रन्थ है। मनुस्मृति के वर्तमान संस्करण के प्रथम चार श्लोक भूमिकास्वरूप हैं जो इस प्रकार हैं –

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः। प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन्।। 1।।

भगवन्सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः। अन्तरप्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि।। 2।।

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयम्भुवः। अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो।। 3 ।।

स तैः पृष्टस्तथा सम्यगमितौजा महात्मभिः। प्रत्युवाचार्च्य तान्सर्वान्महर्षीन् श्रूयतामिति।। 4 ।।

"महर्षिगण एकाग्रतापूर्वक बैठे हुए मनु के पास जाकर और उनका यथोचित सत्कार करके यह वचन बोले।"

"हे भगवन्! आप हमें सभी वर्णों और अन्तरप्रभवों (वर्णों के अन्तरालों में स्थित जातियों) के धर्मों को यथावत् और क्रमशः बताने में समर्थ हैं।"

"क्योंकि, हे प्रभो! एक आप ही इस समस्त जगत्, जिसका चिन्तन से पार नहीं पाया जा सकता, के तथा परमात्मा के विधानरूप वेद, जिसको कभी मापा नहीं जा सकता (अर्थात् उसमें निहित ज्ञान अनन्त है), के कार्यों (अर्थात् धर्मों या विषयों), के तत्त्वार्थ (अर्थात् रहस्यों) को जानने वाले हो।"

"उन महात्माओं (महर्षियों) द्वारा इस प्रकार भली–भाँति पूछे जाने पर वह अतिओजसम्पन्न (महर्षि मनु) उन सब महर्षियों का सत्कार करके "सुनिए" ऐसा उत्तर में बोले।"

प्रथम श्लोक से ज्ञात होता है कि महर्षिगण स्वयमेव धर्मजिज्ञासा लेकर ध्यानस्थ मनु के पास पहुँचे। द्वितीय व तृतीय श्लोक से ज्ञात होता है कि उन्होंने "भगवन्" तथा "प्रभो" जैसे परमादरसूचक सम्बोधनों का प्रयोग करते हुए मनु की श्रेष्ठता व सुविज्ञता को स्वयमेव स्वीकार किया है। द्वितीय श्लोक में महर्षियों ने अपनी जिज्ञासा को प्रकट किया है कि वे सभी वर्णों तथा अन्तरप्रभवों (वर्णों के अन्तरालों में स्थित जातियों) के धर्मों (कर्तव्यों) को जानना चाहते हैं। महर्षियों के कथन से एक बात स्पष्ट होती है कि अन्तरप्रभवों की स्थिति वर्णों के भीतर ही होती है अर्थात् वर्णों में ही अन्तरप्रभवों का भी अन्तर्भाव हो जाता है। तृतीय श्लोक में महर्षिगण मनु को सम्पूर्ण जगत् तथा वेद के रहस्यों का ज्ञाता कहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि महर्षिगण जब धर्मजिज्ञासा लेकर मनु के पास जाते हैं उसके पूर्व ही उनके ज्ञान की प्रसिद्धि हो चुकी थी।

अस्तु, तृतीय श्लोक में मनु को "इस सब" का पूर्ण ज्ञाता कहा गया है अर्थात् वे तत्कालीन मनुष्य के लिए सम्भावित उच्चत्तम ज्ञान से सम्पन्न थे। ऐसे परमज्ञानी मनु ही वस्तुतः धर्मोपदेश के सच्चे अधिकारी थे। अनेक ग्रन्थों में मनु की महत्ता निम्नोक्त वाक्य के रूप में प्रकट की गयी है –

"मनुर्वै यत्किंचावदत् तद् भैषजम्।"

अर्थात् मनु ने जो कुछ भी कहा वह मनुष्यों के लिए औषध के समान कल्याणकारी और गुणकारी है।

चतुर्थ श्लोक में कहा गया है कि महर्षियों द्वारा भली–भाँति पूछे जाने पर मनु "श्रूयताम्" (सुनिए)

कहकर उत्तर देना प्रारम्भ करते हैं। इस शैली से सिद्ध है कि इस श्लोक के पश्चात् उत्तम पुरुष की शैली के माध्यम से मनु के प्रवचन का जो उल्लेख है, वही मौलिक संकलन है। जो श्लोक मनु के नामोल्लेखपूर्वक प्रथम पुरुष की शैली में हैं वे सभी मनु से इतर लोगों द्वारा मनुस्मृति में किये गये प्रक्षेप हैं। इस प्रकार "मनोरनुशासनम्", "उक्तवान्मनुः", "मनुना परिकीर्तितः", "मनुरब्रवीत्", "अब्रवीन्मनुः" इत्यादि से युक्त सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं, भले ही उनका आशय शुभ हो अथवा अशुभ। मनुस्मृति में चौथे श्लोक के पश्चात् मनु के प्रवचन का यथावत् वर्णन है और यह प्रवचन ग्रन्थ की समाप्ति तक निर्बाधरूपेण चलता है। मध्य में आये सभी प्रश्नसूचक व उनके उत्तरसूचक श्लोक भी मनु के नामयुक्त श्लोकों की ही भाँति प्रक्षिप्त हैं। फिर ऐसे श्लोकों के विषय में तो कहना ही क्या जिनमें मनु से अतिरिक्त किसी अन्य को प्रवचनकर्ता बताया गया है। ऐसे श्लोक तो स्पष्टतया प्रक्षिप्त ही हैं। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से श्लोक प्रक्षिप्त हैं। इतना ही नहीं, कुछ प्रक्षिप्त श्लोकों में तो वेदविहित व नैतिकतापूर्ण बातों का ही कथन है। अतः प्रक्षिप्त श्लोकों को जानना कदाचित् कठिन भी हो सकता है। वस्तुतः वर्तमान मनुस्मृति में प्रक्षिप्त श्लोकों की संख्या पचास प्रतिशत से भी अधिक है।

अस्तु, हम देखते हैं कि महर्षियों द्वारा प्रार्थना किये जाने पर ही मनु वर्णाश्रम धर्मों का उपदेश करते हैं और मनु के उच्चज्ञानसम्पन्न होने के कारण ही महर्षिगण उनसे यह प्रार्थना करते हैं। इससे हम मनु व मनुस्मृति की श्रेष्ठता व महत्ता का सहजतया अनुमान कर सकते हैं।

।। इति द्वितीयाध्यायान्तर्गतं द्वितीयप्रकरणम् ।।

मनु द्वारा वर्णों को स्वाभाविक मानना

वे सभी बातें "स्वाभाविक" कहलातीं हैं जो मनुष्यों द्वारा निर्धारित नहीं की जाती। यथा, खगोलीय पिण्डों की गति, अहोरात्रचक्र, ऋतुचक्र, शरीर में रक्त–परिसंचरण, श्वास–प्रश्वास इत्यादि। किन्तु निश्चितरूपेण कुछ व्यवस्थाएं ऐसी हैं जो मनुष्यों द्वारा निर्धारित की गयी हैं। यथा, सड़क के बायीं ओर चलना। सड़क पर आमने–सामने से आते हुए लोग परस्पर टकरा न जायें इसलिए यह आवश्यक है कि वे या तो सड़क के दायीं ओर चलें अथवा बायीं ओर। भारत में सड़क के बायीं ओर चलने का नियम है किन्तु बहुत–से देशों में सड़क के दायीं ओर चलने का नियम है। अतः "सड़क के बायीं ओर चलना चाहिए" इस नियम को स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। ठीक इसी प्रकार कुछ लोगों को शंका हो सकती है कि वर्णविभाजन स्वाभाविक नहीं है अपितु कर्मविभाजन की सुविधा के लिए मनुष्यों ने इसे बना लिया था। इस शंका के समाधान हेतु मनु कहते हैं – "लोकों की विवृद्धि के लिए ईश्वर ने मुख, बाहू,

ऊरु तथा पाद से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को बनाया।"[43] इस प्रकार मनु स्पष्टतया कहते हैं कि वर्णविभाजन मनुष्यों द्वारा किया गया नहीं है अपितु ईश्वर द्वारा किया गया है अर्थात् वर्णविभाजन स्वाभाविक है। प्राचीन वक्ताओं की एक शैली है कि जो बात मानवकृत नहीं होती उसे वे ईश्वरकृत बताते हैं। अतः ईश्वरकृत का तात्पर्य है – प्राकृतिक अथवा स्वाभाविक। लोग वर्णों को मानते हों अथवा न मानते हों, वे चार वर्णों में विभक्त होते ही हैं। कुछ लोग हैं जो ब्राह्मण हैं, कुछ लोग क्षत्रिय हैं, कुछ लोग वैश्य हैं और कुछ लोग शूद्र हैं। यह विभाजन किसी भी उपाय द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता। गीता (4–13) में भी कहा गया है कि मेरे द्वारा (ईश्वर द्वारा) चार वर्णों की व्यवस्था गुण–कर्मों के भेद के आधार पर ही बनायी गयी है।[44] यहाँ तक कि, आधुनिक मनोविज्ञान भी मनुष्यों के विभिन्न प्रकारों को स्वीकार करता है किन्तु अभी तक वह इन प्रकारों को भली–भाँति परिभाषित नहीं कर पाया है।

वस्तुतः जातक अपने वर्ण के साथ ही जन्म लेता है। यह एक पृथक् बात है कि उसके परिवारजनों व स्वयं उसे अपने वर्ण का बोध हो अथवा न हो। जन्म लेने के उपरान्त शिशुओं के क्रिया–कलापों में कोई विशेष भेद नहीं देखा जाता। अतः उनके पृथक्–पृथक् वर्ण को पहचानना प्रायः असम्भव होता है। वे सभी शूद्र ही प्रतीत होते हैं। इसी कारण कुछ मनीषियों ने तो यहाँ तक कह दिया कि "जन्म लेने वाला तो शूद्र ही होता है, द्विज तो संस्कारों के कारण ही उच्च होता है।"[45] वस्तुतः संस्कारों के द्वारा किसी का वर्णपरिवर्तन नहीं किया जा सकता। संस्कार दो कार्य करते हैं –

(1) स्ववर्ण के लक्षणों को प्रबल करना।

(2) स्ववर्ण से निम्नतर वर्ण वाले लक्षणों को दुर्बल करना।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि जन्म के समय तो सभी जातक शूद्रतुल्य ही होते हैं किन्तु आयुवृद्धि होने पर वे स्ववर्ण के लक्षणों को प्रकट करना आरम्भ कर देते हैं। इस प्रकार प्रत्येक शिशु में दो प्रकार के लक्षणों की समानान्तर धाराएं चलती हैं। पहली धारा शूद्रत्व की तथा दूसरी धारा द्विजत्व की होती है। पहली धारा प्रबल होती है तथा दूसरी धारा दुर्बल होती है। किसी–किसी शिशु में दूसरी धारा इतनी दुर्बल होती है कि वह न होने के समान ही होती है। जातकर्म संस्कार (जन्म के समय होने वाला संस्कार) के पश्चात् नामकरण संस्कार किया जाता है और इस संस्कार में भी उपर्युक्त दोनों कार्य सम्पादित होते हैं क्योंकि मनु जातक के वर्ण के अनुसार ही नामकरण का विधान करते हैं। इस विधान

---

43. लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः। ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्।। मनु. 1–31

44. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।। गीता 4–13

45. जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते।

मे मनु दो प्रकार के विकल्प प्रदान करते हैं जो मनु की स्ववर्णबोध कराने की भावना के परिचायक हैं।[46]

प्रथम विकल्प के अनुसार नाम अखण्ड हो और स्ववर्ण का द्योतक हो। यथा, ब्राह्मण के लिए ब्रह्मा, विष्णु, मनु, शिव, अग्नि, रवि, वायु आदि; क्षत्रिय के लिए इन्द्र, भीष्म, सुयोधन, जय, विजय, युधिष्ठिर आदि; वैश्य के लिए वसुमान्, वित्तेश, विश्वम्भर, धनराज, गोमान् आदि तथा शूद्र के लिए विनीत, सुवाक्, सुधर्मा, सुकर्मा इत्यादि। द्वितीय विकल्प के अनुसार नाम दो खण्डों वाला हो तथा दूसरा खण्ड स्ववर्ण का द्योतक हो। इस विकल्प के अनुसार नाम का प्रथम खण्ड चारों वर्णों के शिशुओं के काम आ जाता है। यथा, **देव** शब्द से देवशर्मा, देववर्मा, देवगुप्त (या देवपाल) तथा देवदास (या देवधर्मा); **विष्णु** शब्द से विष्णुशर्मा, विष्णुवर्मा, विष्णुगुप्त तथा विष्णुदास; **रवि** शब्द से रविशर्मा, रविवर्मा, रविगुप्त तथा रविदास इत्यादि। मनु द्वारा दिये गये ये दोनों विकल्प जातकों के शिक्षण की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। यदि ज्योतिषियों तथा ध्यानियों के निरीक्षण आदि के द्वारा जातक का वर्ण भली–भाँति जान लिया गया है तो प्रथम विकल्प उपयोगी है किन्तु ऐसा न होने पर द्वितीय विकल्प के अनुसार नामकरण किया जा सकता है ताकि बाद में वर्णनिश्चय होने पर उसके नाम में स्ववर्णानुसार दूसरा खण्ड जोड़ा जा सके और पुनः यदि वर्ण में परिवर्तन प्रतीत हो अथवा शिशु अपने अन्तःकरण के आदेशानुसार अन्य वर्ण का वरण करना चाहे तो उसका पूरा नाम परिवर्तित होने की बजाय द्वितीय खण्ड ही परिवर्तित हो।

इस प्रकार मनु वर्णों को स्वाभाविक और संस्कारों को उनके विकासार्थ उपयोगी बताते हैं। मनु कहते हैं – ''इस सम्पूर्ण सृष्टि की रक्षा के लिए उस महातेजस्वी ईश्वर ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र के पृथक्–पृथक् कर्म बनाये।[47] अतः मनु के अनुसार वर्णविभाजन ईश्वरीय अर्थात् स्वाभाविक है। गीता में भी कहा गया है – ''स्वभाव से उत्पन्न गुणों के आधार पर ही ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों व शूद्रों के कर्मों का विभाजन हुआ है।[48]

।। इति द्वितीयाध्यायान्तर्गतं तृतीयप्रकरणम्।।

---

46. मंगल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम। वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्।।
शर्मवद् ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम्। वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम्।।
मनु. 2–31,32

47. सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः। मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत्।।
मनु. 1–87

48. ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप। कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।। गीता 18–4

मनु द्वारा वर्ण के सम्बन्ध में वेद को प्रथम प्रमाण मानना

मनु का कथन है कि सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान ईश्वर ने अपने नित्यज्ञान का एक अंश ही वेदरूप में मानवता को प्रदान किया है। अतः कोई मनुष्य न तो वेद का सृजन कर सकता है और न ही वेद के आशय को पूरी तरह समझ सकता है।[49] मनु के अनुसार ईश्वर अपने नित्यज्ञान के आधार पर ही हर बार प्रलयकाल की समाप्ति होने पर नवीन सृष्टि की रचना करता है। चूँकि ईश्वर का ज्ञान नित्य है, अतः उसके द्वारा बनायी गयी सृष्टि हर बार समान ही होती है और इस सृष्टि को समझने और जीवन चलाने हेतु दिया गया वेदज्ञान भी हर बार समान ही होता है। यदि वेदरूपी ज्ञान न होता तो मानव का निर्वाह होना असम्भव था। अतः कोई भी शास्त्र वेदों के तुल्य नहीं माना जा सकता। ऐसा कोई शास्त्र न है और न हो सकता है जिसके प्रतिपाद्य का बीज वेद में न पाया जा सके। अतः वेदभक्त मनु वर्णाश्रम धर्मों के विषय में भी स्वभावतया वेदों को ही प्रथम प्रमाण मानते हैं। यद्यपि पहले भी कहा जा चुका है कि मनु के अनुसार उस ईश्वर ने सब पदार्थों के पृथक्–पृथक् कर्म तथा पृथक्–पृथक् संस्थाएं सृष्टि के आदिकाल में ही वेद के शब्दों से ही बनायीं।[50] तथापि वर्णाश्रम व्यवस्था की वेदमूलकता के विषय में भी मनु ने स्पष्टरूपेण कथन किया है। मनु कहते हैं कि "पृथक्–पृथक् चारों वर्ण, तीनों लोक तथा चारों आश्रम तथा जो कुछ भी हो चुका है, हो रहा है और होगा, सब का सब वेद से ही जाना जाता है।"[51]

मनु स्पष्टतया कहते हैं कि वर्णाश्रमों के धर्मों को बताने वालीं वे सभी स्मृतियाँ जो वेदविरुद्ध हैं, पूर्णतया निरर्थक हैं तथा इहलोक और परलोक दोनों को बिगाड़ने वाली हैं।[52] मनु के अनुसार वेदार्थ को तत्त्वतः जानने वाला व्यक्ति जिस किसी भी आश्रम (या वर्ण) में हो, मोक्ष के योग्य होता है अर्थात् वेद के तत्त्वार्थ को जानने वाला व्यक्ति ही वर्णाश्रम धर्मों को भली–भाँति जान सकता है।[53] इस प्रकार वर्णों

---

49. पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्। अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः।। मनु. 12–94

50. सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवाऽऽदौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे।।

मनु. 1–21

51. चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्। भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति।।

मनु. 12–97

52. या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः। सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः।।

मनु. 12–95

53. वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्। इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते।।

मनु. 12–102

तथा आश्रमों के विषय में मनु वेद को ही प्रथम प्रमाण मानते हैं। अन्य स्मृति आदि ग्रन्थ वहीं तक प्रामाणिक हैं जहाँ तक वे वेदविरुद्ध न हों।

।। इति द्वितीयाध्यायान्तर्गतं चतुर्थप्रकरणम्।।

मनु के अनुसार होश सँभालते ही उपनयन की अनिवार्यता

यह एक सामान्य नियम है कि दुर्गुणों का अर्जन सद्गुणों के विकास की तुलना में अतिसरल होता है। अतः व्यक्ति जितनी शीघ्रता से दुर्गुणों का अर्जन करता है उतनी शीघ्रता से सद्गुणों का विकास नहीं कर पाता। सद्गुणों का विकास ऊँचाई पर चढ़ने के समान है तथा दुर्गुणों का अर्जन ऊँचाई से नीचे उतरने के समान है। ऊँचे चढ़ने की तुलना में नीचे उतरना सदैव सरल होता है। यह मनोविज्ञान का नियम है कि प्रत्येक वस्तु ''न्यूनतम प्रतिरोध के नियम'' (Law of the least resistence) के अनुसार व्यवहार करती है। दुर्गुणों के अर्जन में सद्गुणों के विकास की तुलना में न्यून प्रतिरोध होता है क्योंकि सद्गुणों के विकास हेतु निरन्तर सावधान रहना पड़ता है जबकि दुर्गुणों का अर्जन तो स्वयमेव होता रहता है। उसके लिए किसी अवधान की आवश्यकता नहीं होती प्रत्युत अवधान तो दुर्गुणों के अर्जन में बाधा ही पहुँचाता है। आखिर इन दुर्गुणों का स्रोत क्या है ? शिशु कहाँ से इन दुर्गुणों को प्राप्त करता है ? निश्चितरूपेण ही अपने चारों ओर उपस्थित जनसमूह से। शिशु के चारों ओर उपस्थित जनसमूह में प्रत्येक व्यक्ति ऐसा नहीं हो सकता जो दुर्गुणों से पूर्णतया रहित हो। दुर्गुणयुक्त एक भी व्यक्ति शिशु को दुर्गुणयुक्त बना देने के लिए पर्याप्त होता है। वस्तुतः **बालक–बालिकाओं को दो बातों की निरन्तर आवश्यकता होती है – कार्य तथा साहचर्य।** यदि श्रेष्ठ लोग उन्हें निरन्तर श्रेष्ठ कार्य और अपना साहचर्य प्रदान न करें तो वे स्वयमेव कोई भी कार्य तथा साहचर्य ढूँढ़ लेते हैं। भले ही वे जो कार्य व साहचर्य ढूँढ़ें वह हिंसक, अश्लील, मूर्खतापूर्ण अथवा रोगकारी ही क्यों न हो।

यह तो हम पहले ही प्रदर्शित कर चुके हैं कि जातक अपने वर्ण के साथ ही उत्पन्न होते हैं। इसमें एक विशेष बात यह है कि समान वर्ण वाले जातकों के स्वभाव में भी भिन्नता होती है। उनमें कुछ प्रखर, कुछ सामान्य तथा कुछ मन्द होते हैं। कुछ तो अतिप्रखर तथा अतिमन्द भी होते हैं। मनोवैज्ञानिक अवलोकनों से एक तथ्य का पता चलता है कि बहुत से अपराधी या नकारात्मक कार्यों में लिप्त व्यक्ति बाल्यावस्था में अतिप्रतिभाशाली थे। इनकी प्रतिभा एक ऊर्जा थी जिसका उपयोग करने के लिए वे आतुर थे। सम्यक् कार्य एवं साहचर्य न मिलने के कारण उन्हें जो भी कार्य एवं साहचर्य प्राप्त हुआ वहीं उन्होंने अपनी ऊर्जा को लगाना शुरू कर दिया। बाद में बहुत देर हो जाने पर प्रायः कुछ भी नहीं किया जा

सकता। अतः जैसे ही बालक–बलिकाएं होश सँभालें और उनकी ऊर्जा बहिर्मुखी होना आरम्भ हो, यह आवश्यक है कि उन्हें तत्काल श्रेष्ठ कार्य एवं श्रेष्ठ साहचर्य प्राप्त हो जाए और इन दोनों में नैरन्तर्य भी बना रहे। ऑस्पेंस्की महोदय के अनुसार वह श्रेष्ठ कार्य है – अर्द्धविकसित अवस्था को प्राप्त करने का प्रयास। किन्तु इस अवस्था को प्राप्त करने हेतु बालक–बालिकाओं को ऐसे व्यक्ति अथवा व्यक्तिसमूह के साहचर्य की आवश्यकता है जो इस कार्य में रुचि रखता हो। वह व्यक्ति है – **मुक्त शिक्षक** जिसे दूसरे शब्दों में ब्राह्मण भी कह सकते हैं। ब्राह्मण द्वारा किसी बालक को अर्द्धविकसित बनाने हेतु अपने पास रख लेना ही उस बालक का उपनयन कहलाता है। उस ब्राह्मण के पास अन्य बालक भी होते हैं जिनका लक्ष्य भी अर्द्धविकसित होना ही होता है। अतः समान लक्ष्य वाले ये बालक–बालिकाएं लक्ष्यप्राप्ति में एक–दूसरे के सहयोगी सिद्ध होते हैं। ब्राह्मण का तो यह स्वाभाविक गुण है कि वह स्वयं भी पूर्णविकसित होना चाहता है अतः बालकों को अर्द्धविकसित होने हेतु शिक्षा देने से उसे पूर्णविकसित होने की दिशा में सहयोग ही प्राप्त होता है। एक अर्द्धविकसित व्यक्ति स्ववर्ण का अत्युच्च विकास कर लेता है और स्ववर्ण का विकास किये बिना कोई भी व्यक्ति आन्तरिक सुख और शान्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। यह अर्द्धविकसित होने का कार्य सोमकाल की समाप्ति के पूर्व ही आरम्भ हो जाना चाहिए अर्थात् जननांगों के निकट लोमराशि के उदय के पूर्व।[54] यह एक सामान्य नियम है किन्तु विशेष प्रखरता होने पर ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य का क्रमशः 5वें, 6वें तथा 8वें वर्ष में उपनयन किया जा सकता है।[55]

इस प्रकार मनु के अनुसार होश सँभालते ही उपनयन हो जाना अनिवार्य है। यह तो हम पहले ही प्रदर्शित कर चुके हैं कि यथासमय बालकों का उपनयन कराने का उत्तरदायित्व राजा या राष्ट्राध्यक्ष का है। आपत्तिकाल होने पर मनु ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य के लिए क्रमशः 16, 22 तथा 24 वर्ष तक भी यह कार्य आरम्भ करने का विधान करते हैं किन्तु इससे अधिक काल हो जाने पर तो प्रायश्चित्त करना होगा।[56]

।। इति द्वितीयाध्यायान्तर्गतं पंचमप्रकरणम्।।

---

54. गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणास्योपनायनम्। गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः।। मनु. 2–36

55. ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पंचमे। राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे।।मनु. 2–37

56. आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते। आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः।।

अत ऊर्ध्वं त्रयोप्येते यथाकालमसंस्कृताः। सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः।।

मनु. 2–38,39

मनु के अनुसार उपनयन–पूर्व संस्कारों की उपनयन में सहयोगिता

द्विजों के **षोडश संस्कार** माने जाते हैं जो क्रमशः इस प्रकार हैं –

1.गर्भाधान, 2.पुंसवन, 3.सीमन्तोन्नयन, 4.जातकर्म, 5.नामकरण, 6.निष्क्रमण,

7.अन्नप्राशन, 8.चौल (मुण्डन), 9.विद्यारम्भ, 10.उपनयन, 11.केशान्त,

12.समावर्तन (स्नान), 13.विवाह, 14.वानप्रस्थ, 15.संन्यास तथा 16.अन्त्येष्टि।

प्रथम तथा अन्तिम संस्कारों का रहस्य प्रायः अधिकांश लोग भूल चुके हैं। कुछ लोगों ने **कर्णवेध** नामक एक पृथक् संस्कार माना है। हम उसे पृथक् संस्कार नहीं मानते अपितु जातकर्म संस्कार का ही एक अंग मानते हैं। इस विषय में आगे लिखा जायेगा।

गर्भाधान संस्कार के विषय में हम कह ही चुके हैं कि प्रत्येक व्यक्ति गर्भाधान की खगोलीय परिस्थिति तथा मातृपितृजननाणुओं का संयुक्त परिणाम होता है। अतः स्त्री के ऋतुकाल में विशेष खगोलीय परिस्थिति में विशेष विधिपूर्वक एक ही बार किया गया वीर्यदान ही **गर्भाधान संस्कार** कहलाता है। इससे श्रेष्ठ जातक की उत्पत्ति होती है।

मनु ने अमावस्या, पूर्णिमा, अष्टमी तथा चतुर्दशी इन ''पर्व रात्रियों'' में गर्भाधान का निषेध किया है।[57] स्त्री का रजोस्राव जितने दिनों तक (3 से 6 दिनों तक) चलता है उतना समय ''निन्दित'' कहलाता है। मनु ने ''निन्दित रात्रियों'' में गर्भाधान का निषेध किया है। मनु ने रजोदर्शन से ग्यारहवीं व तेरहवीं रात्रियों में भी गर्भाधान का निषेध किया है।[58] मनु ने दिन में गर्भाधान का सर्वथा निषेध किया है। विज्ञानियों के अनुसार रजोदर्शन से 21वें दिन तक के ''अनिन्दित काल'' में ही गर्भधारण की सम्भावना होती है। उसके पश्चात् किया गया वीर्यदान गर्भाधानदृष्ट्या व्यर्थ ही है। किन्तु मनु ने स्वाभाविकरूपेण रजोदर्शन से 16वें दिन तक के ''अनिन्दित काल'' में ही गर्भधारण की सम्भावना को स्वीकार किया है अर्थात् मनु के अनुसार रजोदर्शन से 16वें दिन के पश्चात् होने वाला गर्भधारण अपवाद ही है।[59] यदि कोई व्यक्ति ऋतुकाल में केवल एक ही बार सन्तानोत्पत्ति हेतु मैथुन करता है तो मनु के अनुसार वह गृहस्थ आश्रम में होकर भी ब्रह्मचारी ही होता है।[60] ऐसा व्यक्ति गर्भधारण हो जाने पर स्वयमेव मैथुन नहीं करेगा।

---

57 अमावस्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम्। ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः।। मनु. 4–128

58. तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या। त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः।। मनु. 3–47

59.ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः। चतुर्भिरितरैः सार्धहोभिः सद्भिगर्हितैः।। मनु. 3–46

60. निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्। ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्।। मनु. 3–50

पुंसवन संस्कार के विषय में प्रायः यह मान्यता है कि गर्भस्थ शिशु को पुत्र बनाने के लिए यह संस्कार होता है। इस मान्यता का आधार अथर्ववेद के निम्नोक्त मन्त्र हैं –

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसुवनं कृतम्। तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्स्त्रीष्वा भरामसि।।

पुंसि वै रेतो भवति तत्स्त्रियामनुषिच्यते। तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्प्रजापतिरब्रवीत्।। अथर्ववेद 6–11–1,2

इनका अर्थ यह किया जाता है – "जिस शमीवृक्ष पर अश्वत्थवृक्ष उगा हो उसकी जड़ को गर्भाधान के पश्चात् दो–तीन मास तक स्त्री को खिलाने से पुत्र की प्राप्ति होती है। जो वीर्य स्त्री में डाला जाता है, वह पुंसत्व को प्राप्त हो जाता है और पुत्र की प्राप्ति होती है, यह प्रजापति ने कहा है।"

हम इस अर्थ से असहमत हैं। हमारे अनुसार उपर्युक्त मन्त्रों में जिस क्रिया अथवा औषधिग्रहणादि का विधान किया गया है उसे वीर्यदान से पहले करना है न कि बाद में क्योंकि उपर्युक्त दूसरे मन्त्र में "अनु" उपसर्गपूर्वक "षिच्यते" पद का प्रयोग है। "अनु" उपसर्ग "पश्चात्" अर्थ वाला होता है। अतः मन्त्रोक्त क्रिया अथवा औषधिग्रहण के पश्चात् वीर्यदान करने से पुत्रोत्पत्ति की बात यहाँ दर्शायी गयी है। तब तो, वह औषधिग्रहणादि पुरुष को ही करना होगा न कि स्त्री को ताकि पुरुष में Y-शुक्राणु अधिक बनें और पुत्रोत्पत्ति की सम्भावना बढ़ जाये। मन्त्रोक्त **पुंसुवन** पद "पुम्" तथा "सुवन" के योग से निर्मित है। "पुम्" का अर्थ है – पुरुष अर्थात् पुत्र। "सुवन" पद "सु" धातु से निर्मित है जो "प्रसव तथा ऐश्वर्य" (सु प्रसवैश्वर्ययोः) अर्थ की बोधक है। यहाँ प्रसव नहीं अपितु ऐश्वर्य अर्थ ही ग्राह्य है। अतः "पुंसुवन" का अर्थ हुआ – Y-शुक्राणुओं को ऐश्वर्ययुक्त करना अर्थात् उनकी संख्या, गति आदि को अद्‌भुतरूपेण बढ़ा देना। यदि किसी पुरुष के पुत्र गर्भ में नहीं ठहरते अथवा जन्म लेते ही मर जाते हैं तो यह भी उस पुरुष के Y-शुक्राणुओं की दुर्बलता का ही परिचायक है।

यदि उक्त क्रिया अथवा औषधिग्रहणादि का विधान स्त्री के लिए ही हो तो ऐसा मानना होगा कि इससे स्त्री के अण्डाणु में ऐसा प्रभाव उत्पन्न हो जाता होगा जिसके कारण वह केवल Y-शुक्राणु को ही प्रवेश की अनुमति देता होगा, X-शुक्राणु को नहीं। अस्तु, आयुर्वेद व ज्योतिष के ग्रन्थों के अनुशीलन से इस विषय पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है।

विज्ञानियों के अनुसार माता के अण्डाणु में पिता के शुक्राणु के प्रविष्ट होते ही जातक के सभी मनोशारीरिक गुण निश्चित हो जाते हैं जिनमें उसका लिंग भी सम्मिलित है। आधुनिक जीव विज्ञान के अनुसार मनुष्यों में शुकाणु ही लिंगनिर्धारक होता है। समस्त शुक्राणु दो प्रकार के होते हैं – Y-युक्त तथा X-युक्त। इन दोनों में से जिस प्रकार का शुक्राणु अण्डाणु में प्रवेश कर जाये उसी के अनुसार सन्तान को लिंगप्राप्ति होगी। बाद में किसी औषधि आदि के प्रयोग द्वारा सन्तान का लिंगपरिवर्तन हम अशक्य

ही मानते हैं। प्रयोगशाला में X-शुक्राणु को अण्डाणु में प्रविष्ट कराकर, फिर उसे माता के गर्भ में प्रविष्ट कराकर अभीष्ट औषधि दो–तीन मास तक माता को खिलाने पर यदि पुत्रोत्पत्ति ही हो तो हम यह मान लेंगे कि पुंसवन संस्कार के द्वारा गर्भस्थ शिशु को पुत्र बनाया जा सकता है।

अस्तु, यदि पुंसवन संस्कार का अर्थ "Y- शुक्राणुओं को ऐश्वर्य प्रदान करना" लिया जाय तो यह संस्कार गर्भाधान संस्कार से पूर्ववर्ती मानना होगा किन्तु पुंसवन संस्कार गर्भाधान के पश्चात् ही होता है और इसका वेदोक्त "पुंसुवन क्रिया" से कोई सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः पुंसवन संस्कार गर्भस्थ शिशु को शक्ति प्रदान करने के लिए होता है। **एकशेष** वृत्ति के अनुसार "पुम्" शब्द केवल पुरुष का ही नहीं अपितु मानवमात्र का बोधक है। अब, गर्भस्थ शिशु पुरुष हो अथवा न हो किन्तु मानव तो है ही। इस संस्कार के पश्चात् माता–पिता गर्भस्थ शिशु की विशेष चिन्ता प्रारम्भ कर देते हैं। माता शिशु के लिए हितकारी भोजन ग्रहण करती है और सभी प्रकार के तीखे या रेचक पदार्थों का सेवन छोड़ देती है ताकि गर्भपात न हो सके। गर्भस्थ शिशु की जीवनी–शक्ति (Vital force) को बढ़ाने की दृष्टि से यह संस्कार किया जाता है। यह संस्कार गर्भ से दूसरे या तीसरे माह में करना चाहिए।

सीमन्तोन्नयन संस्कार के विषय में यह मान्यता है कि यह संस्कार केवल गर्भवती को प्रसन्न रखने के लिए आयोजित एक उत्सव है जिसमें पास–पड़ोस की स्त्रियाँ और घर के सभी सदस्य गर्भवती को कुछ भेंट देते हैं, मधुर वचन बोलते हैं और कुछ गीत–संगीत होता है। इसका गर्भस्थ शिशु से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं माना जाता। "सीमन्तोन्नयन" शब्द का अर्थ "पति द्वारा स्त्री के सीमन्तों (केशों) का उन्नयन (कंघे से सँवारना)" माना जाता है अर्थात् इस संस्कार से लेकर प्रसव तक पति पत्नी की प्रसन्नता का विशेष ध्यान रखता है।

उपर्युक्त मान्यताओं से हमारा कोई विरोध नहीं है किन्तु ये सब इस संस्कार की गौण बातें हैं। इस संस्कार की प्रमुख बात है – गर्भस्थ शिशु की मानसिक उन्नति करना जो माता के हाथ में है। जिस प्रकार उपनयन संस्कार के पश्चात् आचार्य शिक्षा देना प्रारम्भ करता है और विद्यारम्भ संस्कार के पश्चात् पिता शिक्षा देना प्रारम्भ करता है उसी प्रकार सीमन्तोन्नयन संस्कार के पश्चात् माता शिक्षा देना प्रारम्भ कर देती है। आखिर, सीमन्तोन्नयन संस्कार के पश्चात् ही माता शिक्षा देना क्यों प्रारम्भ करती है ? इसका रहस्य समझने के लिए "सीमन्तोन्नयन" शब्द में प्रयुक्त "सीमन्त" शब्द के अर्थ पर पुनर्विचार करना होगा। वस्तुतः "सीमन्त" का अर्थ "केश" नहीं अपितु "सीमावर्ती" है। शरीर की सीमा है – त्वचा। केशों की जड़ें भले ही सीमा में हों किन्तु केश तो सीमा से बाहर ही होते हैं। अतः केश तो सीमन्त नहीं हैं। तो फिर, यह "सीमन्त" क्या वस्तु है ? इस प्रश्न का उत्तर जानने के लिए हमें **तन्त्रिका तन्त्र** (Nervous

System) के विषय में जानना होगा। तन्त्रिका तन्त्र दो भागों में विभाजित होता है – केन्दीय तन्त्रिका तन्त्र (Central Nervous System) तथा परिधीय तन्त्रिका तन्त्र (Peripheral Nervous System) केन्द्रीय तन्त्रिका तन्त्र (CNS) में मस्तिष्क (Brain) तथा सुषुम्ना या मेरुरज्जु (Spinal cord) होती है। परिधीय तन्त्रिका तन्त्र (PNS) में दूर–संचार तारों (Tele-communication wires) की भाँति, सारे शरीर में फैली महीन धागों के समान तन्त्रिकाएं (Nerves) होती हैं। कुछ तन्त्रिकाएं संवेदांगों से उद्दीपनों (Stimuli) की सूचनाओं को केन्द्रीय तन्त्रिका तन्त्र में पहुँचाती हैं, इन्हें **संवेदी तन्त्रिकाएं** (Sensory Nerves) कहते हैं। शेष तन्त्रिकाएं केन्द्रीय तन्त्रिका तन्त्र से प्रतिक्रियाओं (Responses) की सूचना पेशियों व ग्रन्थियों में पहुँचाती हैं। इन्हें **चालक तन्त्रिकाएं** (Motor Nerves) कहते हैं। इस प्रकार केन्द्रीय तन्त्रिका तन्त्र एक ऐसे विनिमय केन्द्र (Central exchange) का कार्य करता है जहाँ वातावरणीय उद्दीपनों की व्याख्या होकर उपयुक्त प्रतिक्रियाओं का निर्माण होता है। तन्त्रिकाएं जिन कोशिकाओं से बनती हैं उन्हे तन्त्रिका कोशिकाएं (Neurons) कहते हैं। ये भ्रूण की एक्टोडर्म (Ectoderm) नामक रचना की न्यूरल प्लेट (Neural plate) में पायी जाने वाली न्यूरोब्लास्ट (Neuroblast) नामक कोशिकाओं से बनती हैं। ये कोशिकाएं रचना (Anatomy) और कार्यिकी (Physiology) की दृष्टि से सर्वाधिक जटिल होती हैं। इनका विशिष्ट लक्षण इनसे निकले एक अथवा अधिक प्रवर्ध (Processes) होते हैं। ये प्रवर्ध 0.1 मिमी से लेकर कई मीटर तक लम्बे हो सकते हैं। लम्बे प्रवर्धों वाली तन्त्रिका कोशिकाओं की संख्या भी बहुत अधिक होती है। मानव शरीर में लगभग 100 अरब (100 Billion) तन्त्रिका कोशाएं होती हैं। शरीर में इनकी सर्वाधिक संख्या मस्तिष्क में होती है। कोशिकाविभाजन के लिए आवश्यक **सेन्ट्रोसोम** (Centro-some) नामक पदार्थ तन्त्रिका कोशिकाओं में नहीं पाया जाता । अतः भ्रूणीय परिवर्धन में एक बार बन जाने के बाद तन्त्रिका कोशिकाएं कदापि विभाजित नहीं होतीं और शरीर की वृद्धि के साथ ही बड़ी हो जाती हैं। इस प्रकार बाद में एक भी नवीन तन्त्रिका कोशिका नहीं बन सकती। **प्रत्येक जातक जितनी तन्त्रिका कोशिकाओं के साथ जन्म लेता है उन्हीं की सहायता से उसे अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करना होता है।** ये तन्त्रिका कोशिकाएं सामान्य कोशिकाओं की भाँति नष्ट नहीं होतीं अपितु प्रायः जीवन–भर बनी रहती हैं। अतिन्यून संख्या में ही इनका नाश होता है। इस प्रकार शरीर की अन्य कोशिकाओं की दृष्टि से ये कोशिकाएं **अमर** (Immortal) कही जा सकती हैं। इस प्रकार प्रत्येक जातक तन्त्रिका कोशिकाओं के एक स्थायी कोश (A permanent stock of neurons) के साथ जन्म लेता है। वस्तुतः भ्रूणीय परिवर्धन के एक निश्चित चरण के साथ ही यह स्थायी कोश निर्मित हो जाता है। अथर्ववेद के अनुसार जब गर्भस्थ शिशु का हृदय धड़कने लगता है तो इस स्थायी कोश का निर्माण प्रायः पूरा हो

जाता है। अथर्ववेद में इस स्थायी कोश के उस भाग को जो मस्तिष्क में स्थित है **देवकोश** कहा गया है क्योंकि मस्तिष्कस्थ तन्त्रिका कोशिकाएं अन्य तन्त्रिका कोशिकाओं की तुलना में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं शक्तिशाली होती हैं। अर्जित ज्ञान का संचय इन्हीं में होता है। अथर्ववेद (10–2–26,27) में प्राण, शिर, अन्न और मन को देवकोश का रक्षक बताया गया है।[61] सीमन्तोन्नयन संस्कार में प्रयुक्त **सीमन्त** शब्द इसी **देवकोश** का परिचायक है क्योंकि यह शिर के भीतर होता है जो शरीर की ऊपरी सीमा है। जैसे ही देवकोश का निर्माण पूरा होता है, उसकी सभी तन्त्रिका कोशिकाएं अत्यन्त ग्रहणशील अवस्था में आ जाती हैं। इस समय से ही माता के विचारों, वचनो, कर्मों तथा आहार–विहार से देवकोश की तन्त्रिका कोशिकाएं प्रभावित होने लगती हैं। माता के विचार, वचन, कर्म तथा आहार–विहार ऐसे भी हो सकते हैं जिनसे ये तन्त्रिका कोशिकाएं विकसित एवं जाग्रत होने लगें अथवा ऐसे भी हो सकते हैं जिनसे ये तन्त्रिका कोशिकाएं अविकसित और सुषुप्त ही बनी रहें। यहाँ तक कि नष्ट भी होने लगें। ऐसा न हो, इस उद्देश्य से ही सीमन्तोन्नयन संस्कार किया जाता है। इस संस्कार के पश्चात् माता अपने विचारों, वचनों, कर्मों और आहार–विहार को शुभ, सौम्य, सर्वकल्याणकारी, शान्तिप्रद, सत्ययुक्त और धार्मिक बनाती है। वह धार्मिक ग्रन्थों और महापुरुषों के जीवन–वृत्त को पढ़ती–सुनती है। इसके साथ ही वह शिशु से मानसिक वार्तालाप करके उसके प्रति स्नेह, वात्सल्य और प्रीति को प्रकट करना प्रारम्भ करती है। माता द्वारा दी जाने वाली यह ऐसी शिक्षा है जिसका शिशु पर अत्यन्त गहरा प्रभाव पड़ता है और इससे शिशु के **सीमन्त** (देवकोश) का **उन्नयन** (उन्नति) आरम्भ हो जाता है। गर्भाधान से चार–पाँच माह बाद गर्भस्थ शिशु का हृदय धड़कने लगता है। ऐसा होते ही सीमन्तोन्नयन संस्कार हो जाना चाहिए। इस विवरण से पुंसवन संस्कार पर भी प्रकाश पड़ता है। वस्तुतः पुंसवन संस्कार में तन्त्रिका कोशिकाओं के निर्माण की गति तीव्र करने की कामना भी सम्मिलित है।

शिशु के उत्पन्न होने पर सर्वप्रथम उसकी नाभि से जुड़े हुए नाल को गर्भाशय की झिल्ली से पृथक् करके नाल के सिरे को बाँध दिया जाता है। पुनः नाभि से कुछ इंच छोड़कर उस नाल को दो स्थानों पर भली–भाँति बाँधा जाता है ताकि शिशु का रक्त न बहे। शेष भाग को काटकर पृथक् कर दिया जाता है। इस क्रिया को "नाभिवर्धन" कहते हैं। नाभिवर्धन से पूर्व जो संस्कार किया जाता है उसे **जातकर्म संस्कार** कहते हैं। मनु के अनुसार जातकर्म संस्कार में जातक को मन्त्रोच्चारणपूर्वक हिरण्य

---

61. मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्। मस्तिष्कादूर्ध्वं प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः।।

तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः। तत् प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः।।

अथर्ववेद 10–2–26,27

(सोना), मधु (शहद) और सर्पि (मक्खन) खिलाना चाहिए।[62] आयुर्वेद के अनुसार मक्खन में शहद को समान मात्रा में मिलाये जाने पर वह विष का कार्य करता है किन्तु उससे तीन गुना शहद मिलाने पर वह अत्यन्त पौष्टिक औषधि बन जाता है तथा उदरस्थ मल को दूर कर देता है। मनु ने शहद और मक्खन के साथ सोने को भी खिलाने का कथन किया है जिसका आशय है कि स्वर्णपात्र में मक्खन और उससे तिगुने शहद को मिलाकर स्वर्णशलाका (सोने की चम्मच) से शिशु को चटाया जाय। इस क्रिया का प्रयोजन यह है कि मनुष्य की प्राथमिक प्रवृत्ति आहार है, अतः शिशु भी जन्म लेते ही कुछ खाना चाहता है। उपर्युक्त मिश्रण खिलाने पर यह शिशु को प्रसन्न करता है तथा गर्भ से बाहर निकलने के पश्चात् उसके द्वारा प्राप्त बाह्य जगत् का प्रथम अनुभव है। यह प्रथम और सुखद अनुभव उसके अचेतन मन पर बहुत गहरा प्रभाव छोड़ता है। वह बाह्य जगत् को एक सुखद स्थान मानने लगता है गर्भ में भी शिशु को आहार प्राप्त होता था किन्तु मुख से नहीं अपितु नाभिनाल से। माता द्वारा पचाया गया आहार इसी नाल से शिशु के शरीर में प्रवेश करता था। इस आहार से उत्पन्न मल शिशु की आँतों में चिपका होता है। उपर्युक्त मिश्रण शिशु को खिलाये जाने पर वह उसके आन्त्रस्थ मल के निष्कासन को सुगम कर देता है। साथ में मन्त्रोच्चारण इसलिए किया जाता है ताकि शिशु के मस्तिष्क का जागरण हो। उपर्युक्त पदार्थ खिलाने के पश्चात् पिता शिशु के दायें कान में कहता है – "तुम वेद हो" (वेदोऽसि)। अर्थात् पिता शिशु को उसका गुप्त नाम बताता है। इस उदाहरण में शिशु का गुप्त नाम "वेद" है। जब गर्भधारण का निश्चय हो जाता है तो माता–पिता गर्भाधानकाल के आधार पर गर्भस्थ शिशु का एक गुप्त नाम रख लेते हैं और शिशु के बारे में वार्तालाप करते हुए वे सदैव उसी नाम का प्रयोग करते हैं। वे किसी और को वह नाम नहीं बताते। ऐसी मान्यता है कि गर्भकाल में ही शिशु के मन पर उस नाम का प्रभाव पड़ चुका होता है। अतः जब पिता उसके कान में उसका गुप्त नाम लेता है तो वह पहचान जाता है कि इस नाम को लेने वाला और स्वादिष्ट पदार्थ खिलाने वाला व्यक्ति पूर्वपरिचित ही है। इससे वह अतिप्रसन्न होता है। यह नाम सदा गुप्त ही रहता है और किसी को नहीं बताया जाता। जातक संन्यास में दीक्षित होते समय ही यह नाम अपने गुरु को बताता है। इसी प्रकार जन्मकाल के आधार पर भी एक गुप्त नाम रखा जाता है। उपनयन के समय ही जातक आचार्य को यह नाम बताता है। इन दोनों नामों को गुप्त रखने का कारण यह है कि नक्षत्रसम्बन्धी नाम नक्षत्रों के प्रभाव को बढ़ा देते हैं। जिस समय गर्भाधानकालीन अथवा जन्मकालीन नक्षत्र प्रतिकूल प्रभाव दे रहा हो उस काल में यदि जातक को उसके **नाक्षत्र नाम** से पुकारा जाये तो उस नक्षत्र की प्रतिकूलता और भी बढ़ जाती है। इस समस्या से बचने

62. प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते। मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम्।। मनु. 2–29

हेतु गर्भाधानकालीन तथा जन्मकालीन नाक्षत्र नामों को गुप्त रखा जाता है। हाँ, व्यवहार हेतु **नामकरण संस्कार** द्वारा शिशु का अन्य नाम रखा जाता है जो गर्भाधानकालीन तथा जन्मकालीन नक्षत्रों से असम्बद्ध होता है। स्वर्णपात्र में तैयार किये गये मक्खन और शहद के मिश्रण को स्वर्णशलाका से शिशु को चटाकर पिता उसे यह आश्वासन देता है कि "मैं सदैव प्रीतिपूर्वक भली–भाँति तुम्हारा पालन–पोषण करूँगा।"

जातकर्म संस्कार के पश्चात् माता से शिशु को स्तन्य पिलाने के लिए कहा जाता है। शिशु द्वारा स्वयमेव स्तन्यपान बन्द कर देने के पश्चात् ही उसे किसी अन्य के हाथों में दिया जाता है।

हम पहले कह चुके हैं कि **कर्णवेध** जातकर्म संस्कार का ही एक अंग है। वस्तुतः हमारे सम्पूर्ण शरीर में कुछ निश्चित बिन्दु हैं जो हमारे विभिन्न अंगों और उनकी क्रियाओं को प्रभावित करते हैं। चीन देश में इन बिन्दुओं द्वारा चिकित्सा करने की पद्धति का महान् विकास हुआ। इस चिकित्सा पद्धति के अनुसार जब किसी ऐसे ही बिन्दु को दबाया जाता है तो इसे **एक्यूप्रेशर** (Acupressure) कहा जाता है और जब उक्त बिन्दु को एक विशिष्ट सुई से छेद दिया जाता है तो इसे **एक्यूपंक्चर** (Acupuncture) कहा जाता है। आयुर्वेद ने तीन ऐसे स्थानों का पता लगाया जहाँ के कुछ विशिष्ट बिन्दुओं को छेद देने पर मस्तिष्क का एक विशेष भाग जाग्रत किया जा सकता है जो प्रायः कभी जाग्रत नहीं होता। वे तीन स्थान हैं –

(1) कानों के लटकते हुए निम्न भाग।

(2) नाक के नथुने।

(3) **शिश्नाग्र चर्म** (Prepuce) अर्थात् शिश्न को आवृत करने वाली त्वचा का अग्रभाग, जो शिश्नमुण्ड से आगे की ओर बढ़ा हुआ होता है।

आयुर्वेदिक मान्यता के अनुसार उपर्युक्त तीनों स्थानों में एक विशिष्ट मात्रा में ऊर्जा संरक्षित होती है जो जन्म के बाद क्षीण होने लगती है। यदि इन स्थानों के निश्चित बिन्दुओं को छेद दिया जाये तो वह ऊर्जा क्षीण होने की बजाय मस्तिष्क में जाकर पूर्वोक्त विशेष भाग को जाग्रत कर देती है। इस प्रकार जन्म के जितने अधिक काल के पश्चात् इन बिन्दुओं का छेदन किया जाता है, मस्तिष्क के पूर्वोक्त भाग का जागरण उतना ही न्यून होता है। अतः जिस दिन शिशु का जन्म हो उसी दिन इन बिन्दुओं को छेद देने पर पूर्ण लाभ प्राप्त होता है।

अथर्ववेद में कहा गया है – "दोनों कानों में अश्विन देवताओं ने पहले ही चिह्न बनाया है। हे

वैद्यो! लोहे की सुई से दोनों कानों के उन्हीं चिह्नों को छेद दो, ताकि बहुत प्रजा हो।"[63] सुश्रुत संहिता में इन दोनों चिह्नों को "देवकृते छिद्रे" (देवों द्वारा बनाये गये छिद्र) कहा गया है। कान में तीन नसों के मध्य जो स्थान है, वही देवछिद्र है। उसी के छेदन से और उसमें सुवर्ण पहनने से अण्डवृद्धि नहीं होती और अण्डदोष न होने से ही सन्तानप्राप्ति होती है क्योंकि शुक्राणुओं का निर्माण इन्हीं में होता है। कर्णवेध आँत उतरने की व्याधि (Hernia) से भी बचाता है। इस प्रकार एक कर्णवेध से तीन–तीन लाभ होते हैं।

नासिकावेध बालिकाओं का ही होता है। बालकों का नासिकवेध प्रायः नहीं किया जाता।

शिश्नाग्रचर्मवेध तो बालकों का ही किया जा सकता है। केवल दक्षिणभारत के कुछ ब्राह्मणों में ही इसकी परम्परा रह गयी है। वैसे, यहूदी और मुस्लिम समुदायों में शिश्नाग्रचर्मवेध के स्थान पर शिश्नाग्रचर्मकर्तन की परम्परा है जिसे **खतना** (Circumcision) कहा जाता है। इस प्रकार इन दोनों समुदायों में शिश्नाग्रचर्म में छेद करने की बजाय शिश्नाग्रचर्म को काटकर पृथक् कर दिया जाता है। जिस दिन शिशु का जन्म होता है, उसी दिन यहूदी जन उसका खतना कर देते है जबकि मुस्लिम जन शिशु के जन्म के चार–पाँच वर्ष बाद ही उसका खतना करते हैं। इसी कारण अल्प संख्या में होने पर भी ज्ञान–विज्ञान में यहूदियों का बड़ा मौलिक योगदान है। मध्यकाल में विचारकों, वैज्ञानिकों और आविष्कारकों का एक बड़ा वर्ग यहूदी था और आज भी है।

खतना का इतिहास बड़ा ही रोचक है। यहूदी सम्प्रदाय के संस्थापक मूसा (Moses) बच्चों व युवाओं में सर्वाधिक व्याप्त अपकाम **हस्तरत** (Onanism or Masturbation) से अतिदुःखी थे। उन्होंने देखा कि "मूत्र के साथ उत्सर्जित अपशिष्ट" बालकों के शिश्नमुण्ड (Glans penis) तथा शिश्नाग्रचर्म के अन्तःभाग (Praeputium penis) पर तथा बालिकाओं के भगोष्ठों (Labia) में जम जाता है। इस जमाव के कारण खुजली होने लगती है। फलतः बच्चे इन स्थानों को खुजाने या मसलने लगते हैं। यही प्रवृत्ति आगे चलकर **हस्तरत** (Onanism) का रूप धारण कर लेती है। अतः मूसा ने बालक–बालिकाओं को इस कुकृत्य से बचाने के लिए एक अनिवार्य पवित्र क्रिया का आरम्भ किया। इस क्रिया में बालकों के शिश्नाग्रचर्म को काट दिया जाता है जिससे शिश्नाग्रमुण्ड पूरी तरह खुल जाता है। मूसा ने मूत्रविसर्जन के पश्चात् शिश्न को ठण्डे जल से धोना अनिवार्य कर दिया ताकि अपशिष्ट का जमाव न हो सके। इस क्रिया को **आबदस्त** (Ablution) कहते हैं।

प्रारम्भ में बालिकाओं के भगोष्ठ (Labia) की झिल्ली को भी काटा जाता था किन्तु सम्राट्

---

63. लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृधि। अकर्तामश्विना लक्ष्म तदस्तु प्रजया बहु।।

अथर्ववेद 6–141–2

सोलोमन (Great King Solomon) की मृत्यु के पश्चात् बालिकाओं का खतना बन्द हो गया। इस प्रकार हजरत मूसा द्वारा यहूदी सम्प्रदाय को प्रदत्त **खतना** (Circumcision) तथा **आबदस्त** (Ablution) की परम्पराओं ने यहूदी सम्प्रदाय को न केवल हस्तमैथुन (Onanism) से बचाया अपितु उन सभी रतिसम्बन्धी बीमारियों (Venereal diseases) से भी बचाया जो रति–अंगों की अस्वच्छता (Uncleanliness) से उत्पन्न होती हैं अथवा ऐसी ही किसी बीमारी से ग्रस्त साथी के सम्पर्क से उत्पन्न होती हैं। अस्तु, चिकित्सा शास्त्र में भी खतना का विधान किया गया है। इसकी दो स्थितियाँ हैं। प्रथम, यदि शिश्नाग्रचर्म इतना अधिक कसा हुआ है कि वह पूरी तरह शिश्नमुण्ड से पीछे नहीं सरक सकता तो ऐसे शिश्नाग्र का खतना कर दिया जाता है क्योंकि यह सम्भावना है कि कभी अचानक शिश्नाग्रचर्म पीछे सरक कर शिश्नमुण्ड की खाँच में फँस जाये। ऐसा होने पर असह्य पीडा होती है। द्वितीय, यदि शिश्नाग्रचर्म में कैंसर हो गया हो तब भी खतना ही एकमात्र विकल्प होता है।

नामकरण संस्कार के विषय में मनु कहते हैं – "दशमी या द्वादशी तिथि में शिशु का नामकरण करें अथवा किसी भी पवित्र और शुभगुणयुक्त तिथि, मुहूर्त और नक्षत्र में नामकरण किया जा सकता है।"[64] जन्म के कितने दिन पश्चात् नामकरण किया जाय इस विषय में मनु ने कुछ नहीं कहा है किन्तु नामकरण के ठीक पश्चात् होने वाले **निष्क्रमण संस्कार** को जन्म के चौथे माह में करने का स्पष्ट निर्देश मनु ने दिया है। इससे प्रतीत होता है कि इसी काल में कभी पूर्वोक्त निर्देशानुसार नामकरण कर देना चाहिए। वैसे, समाज में जन्म से चौथे, छठवें, दसवें, ग्यारहवें या बारहवें दिन या एक माह बाद भी नामकरण करने की प्रथा है।

वर्ण का स्पष्ट बोध होने और न होने के आधार पर मनु क्रमशः एक खण्ड वाले तथा दो खण्ड वाले नाम का विकल्प प्रस्तुत करते हैं। इस विषय पर "मनु द्वारा वर्णों को स्वाभाविक मानना" नामक प्रकरण में विस्तारपूर्वक कहा जा चुका है।

स्त्रियों के नामकरण के विषय में मनु कहते हैं – स्त्रियों का नाम सुखपूर्वक (सरलतापूर्वक) उच्चारणीय, अक्रूर (प्रेम व शान्ति का बोधक), मनोहर (मन को प्रसन्न करने वाला), मंगल्य (कल्याणबोधक), अन्त में दीर्घ स्वर वाला (प्रायः आ अथवा ई) तथा आशीर्वाद का वाचक होना चाहिए।[65] यथा – कल्याणी, वन्दना, विमला, निर्मला, सुशीला, सुकन्या, शुभा, सत्यदा, वसुदा, यशोदा, सुखदा, नन्दा, प्रियंवदा, अनसूया, सुमित्रा, सावित्री इत्यादि।

---

64. नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत्। पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते।।मनु. 2–30

65. स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम्। मंगल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत्।। मनु. 2–33

स्त्रियों के नाम कैसे नहीं होने चाहिए, इस विषय में मनु कहते हैं – "ऋक्ष अर्थात् नक्षत्र के नाम वाली (यथा – रेवती, रोहिणी, चित्रा, विशाखा आदि), वृक्ष के नाम वाली (यथा – तुलसी, चम्पा, चमेली आदि), नदी के नाम वाली (यथा – गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा, गोदा, कावेरी आदि), नाशक नाम वाली (यथा – मारिणी, हारिणी, नाशिनी आदि), पर्वत के नाम वाली (यथा – विन्ध्या, शिखरिणी, अचला आदि), पक्षी के नाम वाली (यथा – कोकिला, हंसिनी आदि), सर्पादि के नाम वाली (यथा – उरगा, भोगिनी आदि), दासीबोधक नाम वाली (यथा – देवदासी, चारिणी, सुदासी आदि) और भीषण नाम वाली (यथा – कालिका, चण्डिका, दुर्गा, वज्रा, भीमा, रक्ता आदि) कन्या से द्विज विवाह न करें।[66] मनु के इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसे नाम शूद्र स्त्रियों के लिए ही चल सकते हैं, द्विज स्त्रियों के लिए नहीं।

वस्तुतः नाम व्यक्ति के मन को अत्यन्त गहराई तक प्रभावित करता है। यदि सभी लोग गहरी नींद में सो रहे हों तो जिसका नाम पुकारा जाता है प्रायः उसी की नींद पहले खुलती है। अतः नाम ऐसा होना चाहिए जो उसके वर्ण और स्वाभाविक प्रवृत्तियों से मेल खाता हो तथा उसे व्यक्तित्व के विकास के लिए प्रेरित भी करता हो। व्यक्ति अनजाने में ही अपने नाम के अनुरूप व्यवहार करने का प्रयास करता है। यदि उसका नाम उसके वर्ण और स्वाभाविक प्रवृत्तियों से मेल न खाता हो तो इससे उसके मन में अन्तर्विरोध उत्पन्न हो सकता है जो उसकी मानसिक शान्ति में बाधक होगा। कोई भी व्यक्ति समाज में अपने नाम से ही जाना जाता है, अतः नामकरण संस्कार समाज से जोड़ने वाला संस्कार है और अतिमहत्त्वपूर्ण है।

मनु ने जन्म से चौथे माह में **निष्क्रमण संस्कार** करने का निर्देश किया है। निष्क्रमण का अर्थ है – बाहर निकलना।[67] इस संस्कार में शिशु को घर से बाहर लाया जाता है ताकि वह वाह्य वातावरण से जुड़ना आरम्भ कर दे। शिशु को **सूर्यदर्शन** कराना इस संस्कार का अनिवार्य अंग है। शिशु के समुचित मनोशारीरिक विकास हेतु सूर्य का खुला प्रकाश तथा खुली वायु आवश्यक होती है। जो शिशु सदैव घर के भीतर ही रहते हैं वे प्रायः मन्द, आलसी, भीरु और अकर्मण्य हो जाते हैं। अतः आवश्यक है कि शिशु घर से बाहर निकलकर बाह्य जगत् का दर्शन करे। नवीन दृश्यों और घटनाओं का प्रत्यक्ष करने से उसके मन में जगद्विषयक प्रश्न उत्पन्न होने लगते हैं जो उसकी विचारशक्ति को जाग्रत करते हैं। आगे चलकर उसकी यही विचारशक्ति स्वयं उसके विषय में कार्य करना प्रारम्भ कर देती हैं, तब वह जिज्ञासा करने लगता है कि "मैं कौन हूँ ?", "इस जगत् से मेरा क्या सम्बन्ध है ?" इत्यादि। यदि बाह्य

66. नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम्। न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम्।। मनु. 3–9

67. चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्। मनु. 2–34

जगत् का प्रत्यक्ष ही न हो तो शिशु में यह विचारप्रक्रिया आरम्भ ही नहीं हो सकती जो उसके व्यक्तित्व के विकास हेतु अत्यावश्यक है। अतः निष्क्रमण संस्कार अतिमहत्त्व का है और समुचित समय पर इसे अवश्य सम्पादित किया जाना चाहिए।

मनु ने जन्म से छठे मास में **अन्नप्राशन संस्कार** करने का निर्देश दिया है। अन्नप्राशन का अर्थ है – अन्न का प्रकृष्टरूपेण भक्षण।[68] अर्थात् पौष्टिक अन्न को शिशु के पचने योग्य बनाकर उसे थोड़ी–थोड़ी मात्रा में शिशु को खिलाना। प्रारम्भ में तो शिशु केवल माता के तथा कभी–कभी गाय के दुग्ध का ही सेवन करता है किन्तु एक निश्चित समय बाद केवल दुग्ध का सेवन उसके मनोशारीरिक विकास हेतु अपर्याप्त हो जाता है। अतः उसे दुग्धेतर पौष्टिक और सुपाच्य पदार्थ देना आवश्यक हो जाता है। अतः थोड़ी–थोड़ी मात्रा में अनाजों (Cereals) तथा दालों (Pulses) का सेवन शिशु को कराया जाना आवश्यक है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में कहा गया है कि छठे मास में शिशु का अन्नप्राशन करना चाहिए और दही, शहद व घृतमिश्रित अन्न खिलाना चाहिए।[69] अन्नप्राशन हेतु प्रायः अनाज को पीसकर, छानकर व उबालकर ही उपयोग में लाया जाता है।

अन्नप्राशन के विषय में एक अन्य मत का भी उल्लेख करना अपेक्षित है। इस मत के अनुसार अन्नप्राशन में मेवों का चूर्ण बनाकर उसमें फलों का गूदा मिलाना चाहिए और उसमें दही, शहद और घी मिलाकर शिशु को खिलाना चाहिए। इस मत के अनुसार मनुष्य के स्वाभाविक आहार में "पानी, दूध, दही, मक्खन, शहद, फल और मेवे" ये सात पदार्थ ही परिगणित हैं। अस्तु, छठे मास से दुग्धेतर पदार्थों को खिलाना शिशु के समुचित विकास हेतु आवश्यक है, अतः अन्नप्राशन संस्कार यथासमय हो जाना चाहिए।

चूडाकर्म या **चौल संस्कार** के विषय में मनु कहते हैं – "धर्मानुसार सभी द्विजों का चूडाकर्म वेदाज्ञानुसार प्रथम अथवा तृतीय वर्ष में करना चाहिए।"[70] **चूडा** का अर्थ है – **केशगुच्छ** जो मुण्डित सिर पर रखा जाता है, इसे **शिखा** भी कहते हैं। शिशु के शिर के गर्भकालीन केश अपवित्र होते हैं। अतः उनके मुण्डन से शुद्धता व आरोग्य की प्राप्ति होती है। कपाल का वह स्थान जहाँ सभी अस्थियाँ एक साथ मिलती हैं, अतिकोमल तथा मार्मिक होता है। अतः उस स्थान की विशेष रक्षा की भावना से उस स्थान पर केशगुच्छ रखा जाता है। कुछ लोग शिशु के प्रथम मुण्डन में केशगुच्छ को रखने की बजाय समस्त केशों का मुण्डन ही उचित मानते हैं। अतः द्वितीय मुण्डन में ही केशगुच्छ रखना उचित है। इस

---

68. षष्ठेऽन्नेप्राशनं मासि यद्वेष्टं मंगलं कुले।। मनु. 2–34

69. षष्ठे मासि अन्नप्राशनम्। दधिमधुघृतमिश्रितमन्नं प्राशयेत्। आश्वलायन गृह्यसूत्र (1–16–1,5)

70. चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः। प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात्।। मनु. 2–35

मत के अनुसार प्रथम मुण्डन जन्म के प्रथम वर्ष में तथा द्वितीय मुण्डन जन्म के तृतीय वर्ष में करना चाहिए। इस प्रकार इस मत के अनुसार द्वितीय मुण्डन ही वस्तुतः चूडाकर्म संस्कार है।

मनु ने ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य के लिए क्रमशः पाँचवें, छठवें तथा आठवें वर्ष में किसी संस्कार का विधान किया है। सम्भवतः यह **विद्यारम्भ संस्कार** ही है।[71]

मनु के अनुसार जैसे ही शिशु स्वयमेव अध्ययन में रुचि लेने लगे और कुछ होश सँभाल ले तभी उसका उपनयन हो जाना चाहिए। मनु ने ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य के लिए क्रमशः गर्भाधान से आठवें, ग्यारहवें व बारहवें वर्ष में अर्थात् जन्म से प्रायः सातवें, दसवें, व ग्यारहवें वर्ष में **उपनयन संस्कार** का सामान्य विधान किया है।[72]

वस्तुतः मनु किंचिदपि बालक के मिथ्या व्यक्तित्व के निर्माण के इच्छुक नहीं हैं। वे चाहते हैं कि बालक अपनी बाल्यावस्था के सुख और स्वच्छन्दता को अनुभव करे। इस सुख और स्वच्छन्दता में ही बालक के तत्त्व (Essence) के विकास का आरम्भ हो सकता है। माता–पिता तथा परिवारजन अपने आचरण के द्वारा बड़ी ही चतुराई से शनैः शनैः बालक को सद्गुणों के विकास तथा अध्ययन के लिए प्रेरित करें और बालक ऐसी स्थिति में पहुँच जाये जिसमें वह स्वयं ही ज्ञान, बल अथवा सम्पत्ति की कामना करने लगे। माता–पिता तथा परिवारजनों को थोड़ा धैर्य रखना चाहिए और बालक के उस स्थिति में पहुँचने की प्रतीक्षा करनी चाहिए। तब तक माता–पिता तथा परिवारजन बालक को खेल–खेल में कुछ न कुछ पढ़ाते रहें। जैसे ही बालक ज्ञान आदि की विशेष कामना करने लगे, उसका उपनयन कर दें। यदि उन्हें लगता है कि बालक ज्ञान आदि की विशेष कामना नहीं कर रहा है तो सोमकाल की समाप्ति के निकट ही उसका उपनयन कर दें। गुरुकुल के पवित्र वातावरण में अपने सहाध्यायियों के साथ वह स्वयमेव अध्ययन में प्रवृत्त हो जायेगा। यदि वह गुरुकुल के नियमों का पालन नहीं कर सकेगा अथवा नहीं करेगा तो ऐसी स्थिति में उसे शूद्र मानकर गुरुकुल से निकाल दिया जायेगा।[73] इस प्रकार मनु बड़े ही मौलिक ढंग से उपनयन कराने के पक्ष में हैं। वस्तुतः जिसका जो स्वभाव होता है वह देर–सवेर प्रकट हो जाता है। अतः यही उचित होगा कि बालक स्वयं ही उपनीत होने की कामना करे और इसी में ''वर्ण'' (वरणेन वर्णः) शब्द की सार्थकता है। किन्तु जब तक उपनयन नहीं हुआ है तब तक यदि घर पर ही

71. ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पंचमे। राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे।। मनु. 2–37

72. गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्। गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः।। मनु. 2–36

73. न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमां। स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः।।
मनु. 2–103

नियमित दैनिक अध्ययन की व्यवस्था कर दी जाय तो इसे अनुचित नहीं कहा जा सकता। हाँ, इतना आवश्यक है कि यह अध्ययन एक–दो घण्टे का ही हो अन्यथा बालक के मन पर अध्ययन के प्रति अरुचि अथवा भय उत्पन्न हो सकता है। ऐसा अध्ययन मनु को स्वीकृत ही है। इसी कारण मनु ने घर के सभी वयस्कों को बालक के "स्वगुरु" कहा है क्योंकि उनके अनुसार जो भी थोड़ा या बहुत पढ़ाये उसे गुरु ही समझना चाहिए।[74]

मार्कण्डेय पुराण में कहा गया है कि पाँचवाँ वर्ष लगते ही विद्यारम्भ संस्कार कर देना चाहिए।[75] विद्यारम्भ संस्कार के पश्चात् होने वाला दैनिक अध्ययन शनैः शनैः बालक को उपनयन का इच्छुक बना देगा।

इस प्रकार अब तक हमने देखा कि गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म तथा विद्यारम्भ ये नौ संस्कार बालक के मन व शरीर को इतना विकसित कर देते हैं कि वह उपनयन के सर्वथा योग्य हो जाता है। उपनयन के पश्चात्वर्ती काल का उत्तरदायित्व तो आचार्य का होता है किन्तु उससे पूर्ववर्ती काल का उत्तरदायित्व निश्चितरूपेण माता–पिता का ही है। माता व पिता में से पिता का दायित्व कुछ अधिक ही है क्योंकि गर्भाधान संस्कार यथाविधि करने के लिए पिता का व्यक्तित्व अतिविकसित होना आवश्यक है। निश्चित ही ऋतुकाल में ही सन्तानोत्पत्ति की कामना से केवल एक ही बार मैथुन करने वाला पिता आज तो दुर्लभ ही है। इसलिए मनु कहते हैं – "गर्भाधानादि संस्कारों को यथाविधि करने वाला और अन्न से पोषण करने वाला विद्वान् पिता गुरु होता है।" यदि पिता मनमाने ढंग से वीर्यदान करे तो सन्तान की श्रेष्ठता की कोई गारण्टी नहीं है। ज्योतिष के अनुसार पिता को शुभ मुहूर्त में वीर्यदान करना चाहिए और उसके पूर्व एक विशेष हवन करना चाहिए। इस हवन से लेकर वीर्यदान तक की समस्त प्रक्रिया गर्भाधान संस्कार के अन्तर्गत ही होती है।[76]

गर्भाधान से उपनयन तक के संस्कारों की प्रशंसा करते हुए मनु कहते हैं कि गार्भ संस्कारों (गर्भाधान, पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन) से तथा जातकर्म से लेकर चूडाकर्म व उपनयन तक के संस्कारों

---

74. न चानिसृष्टो गुरुणा स्वान्गुरूनभिवादयेत्।। मनु. 2–205

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः। तमपीह गुरुं विद्यात् श्रुतोपक्रियया तया।।

मनु. 2–149

75. प्राप्तेऽथ पंचमे वर्षे अप्रसुप्ते जनार्दने। षष्ठीं प्रतिपदं चैव वर्जयित्वा तथाऽष्टमीम्।।

रिक्तां पंचदशीं चैव सौरभौमदिनं तथा। एवं सुनिश्चिते काले विद्यारम्भं तु कारयेत्।।

76. निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि। सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते।। मनु. 2–142

से, जो कि हवनपूर्वक किये जाते हैं, द्विजों के बैजिक (आनुवांशिक) तथा गार्भिक (गर्भकाल में माता–पिता से अथवा दुर्घटनावश प्राप्त होने वाले) मनोशारीरिक दोष दूर हो जाते हैं।[77]

पूर्व प्रकरणों में हम कह चुके हैं कि लोगों के बहुत से आनुवांशिक तथा नवीन रोगों का कारण द्वैतीयक कामलक्षणों का पूर्णविकसित न हो पाना ही है। अतः यदि व्यक्ति के द्वैतीयक कामलक्षणों का पूर्णविकास हो सके तो बहुत से आनुवांशिक नवीन रोग होंगे ही नहीं। मनु के उपर्युक्त कथन से भी ऐसा ही परिलक्षित होता है। इस प्रकार यदि कई पीढ़ियों तक मनुष्य निरन्तर अर्धविकसित होते रहें तो मानवता अपने बहुत से आनुवांशिक तथा अन्य रोगों से मुक्त हो जायेगी। इस हेतु ब्रह्मचर्य आश्रम की प्रतिष्ठा अनिवार्य है किन्तु उपनयन से प्रारम्भ होने वाले ब्रह्मचर्यरूपी भवन की नींव तो उपनयन से पूर्ववर्ती गर्भाधानादि संस्कार ही हैं। जिस प्रकार नींव के बिना भवन सुदृढ नहीं होता उसी प्रकार गर्भाधानादि पूर्वसंस्कारों के यथाविधि न होने पर ब्रह्मचर्य आश्रम का पूर्ण साफल्य भी सन्दिग्ध ही है। अतः मनु उपनयनपूर्व संस्कारों को उपनयन में सहयोगी तथा अनिवार्य मानते हैं।

।। इति द्वितीयाध्यायान्तर्गतं षष्ठप्रकरणम्।।

उपनयन – सामाजिक समरसता का आधार

ज्ञान को दान का विषय मानने वाली संस्कृतियों में ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन अनिवार्य होता है किन्तु शेष संस्कृतियों में इसकी कोई अनिवार्यता नहीं है। वस्तुतः ब्रह्मचर्य आश्रम ही समाज में समरसता का आधार होता है।

जो लोग अपनी सन्तानों को गुरुकुल भेजते हैं, जहाँ उनकी सन्तानें वैभव, विलास और सुविधा से रहित प्राकृतिक और तापस जीवन व्यतीत करती हैं, वे प्रायः अनीतिपूर्वक धनसंग्रह नहीं करेंगे क्योंकि अनीतिपूर्वक धनसंग्रह करने वाले भी यही चाहते हैं कि उनकी सन्तानें उनके धन का उपयोग करें। किन्तु उनकी सन्तानें जब तक गुरुकुल में रहेंगी तब उनके धन का उपयोग नहीं कर सकतीं, ऐसा विचार करके वे लोग अनीतिपूर्वक धनसंग्रह को व्यर्थ ही समझते हैं और किसी के हित पर आघात न करते हुए धार्मिक जीवन व्यतीत करना ही उचित समझते हैं।

समाज में सभी व्यक्तियों की आर्थिक स्थिति समान नहीं होती। ऐसे में, सम्पन्न व्यक्ति विपन्न को दीन समझकर उससे घृणा कर सकता है तथा विपन्न व्यक्ति भी सम्पन्न व्यक्ति से ईर्ष्या कर सकता है। ये घृणा तथा ईर्ष्या के दुर्गुण माता–पिता से सन्तानों में भी सरलतापूर्वक पहुँच सकते हैं। किन्तु

77. गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौलमौंजीनिबन्धनैः। बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते।। मनु. 2–27

उपनीत बालकों में घृणा तथा ईर्ष्या के दुर्गुणों का पहुँचना प्रायः अशक्य है। गुरुकुल में तो सभी को समान भोजन, समान वस्त्र तथा समान आवास प्राप्त होता है भले ही वे राजा के पुत्र हों अथवा धनाढ्य के अथवा निर्धन के। यह व्यवस्था सभी उपनीत बालकों में परस्पर **समादर** के भाव उत्पन्न कर देती है। इतना ही नहीं, सभी उपनीत बालकों को प्रतिदिन भिक्षा माँगना अनिवार्य है तथा यह भी नियम है कि अपने घर से तथा अपने परिचित के घर से भिक्षा न माँगी जाये।[78]

अब, यदि किसी राजा अथवा धनाढ्य का पुत्र किसी झोपड़ी के आगे ''भिक्षां देहि'' कहेगा तो वह कदापि अभिमानी नहीं हो सकेगा और समाज को अपना पालक समझेगा। ऐसे बालक जब गुरुकुल से लौटेंगे तो वे अपना पालन करने वाले समाज को न तो हीन समझेंगे और न ही उसका शोषण करेंगे। इस प्रकार एक ब्रह्मचर्य आश्रम से ही सन्तानों के साथ–साथ उनके माता–पिता भी स्वार्थपरता और अभिमान छोड़कर परस्पर समरसता का व्यवहार करते हैं। इस प्रकार निश्चित ही उपनयन सामाजिक समरसता का आधार है। इसके कारण समाज के प्रत्येक व्यक्ति की उन्नति होती है और किसी के भी हितों पर आघात नहीं होता। इस सामाजिक समरसता का सुख ज्ञान को दान का विषय मानने वाली संस्कृतियों में ही उपलब्ध होता है। अन्य संस्कृतियाँ भले ही ऊपर से समृद्ध प्रतीत हों किन्तु वे आन्तरिक शान्ति से वंचित होती हैं। इतना ही नहीं, उनमें पूर्ण समाज कदापि समृद्ध नहीं होता अपितु एक वर्गविशेष ही समृद्ध होता चला जाता है। अतः यदि पूरी पृथ्वी पर अथवा न्यूनातिन्यून पूरे देश में सामाजिक समरसता लानी हो तो बालकों का उपनयन अतिउपयोगी सिद्ध होगा।

।। इति द्वितीयाध्यायान्तर्गतं सप्तमप्रकरणम्।।

सोलह संस्कारों की पूर्णता हेतु चार आश्रम

पूर्व प्रकरण में गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, विद्यारम्भ तथा उपनयन इन दस संस्कारों का उल्लेख हो चुका है। केशान्त, समावर्तन, विवाह, वानप्रस्थ, संन्यास एवं अन्त्येष्टि इन छः संस्कारों का वर्णन शेष रह गया है।

उपनयन, केशान्त व समावर्तन संस्कार ब्रह्मचर्याश्रम के अन्तर्गत हैं। यौवनारम्भ होने पर समस्त केशों और दाढ़ी–मूँछ का विधिवत् क्षौरकर्म कराया जाता है, इसे **केशान्त संस्कार** कहते हैं। इसके पश्चात् गुरुकुल में रहते हुए अध्ययन के साथ–साथ अध्यापन भी किया जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य

---

78. गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु। अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत्॥ मनु. 2–184

के लिए क्रमशः 16, 22 व 24 वर्ष की आयु में केशान्त संस्कार का विधान किया गया है।[79] केशान्त संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचारी गुरुकुल में ही रहते हुए आचार्य की आज्ञानुसार कनिष्ठ ब्रह्मचारियों को पढ़ाता हैं। चूँकि ब्राह्मण की तो वृत्ति ही अध्यापन है, अतः उसका केशान्त संस्कार पहले ही किया जाता है। जब न्यूनतम 9 वर्ष का ब्रह्मचर्य हो जाता है तथा न्यूनतम एक वेद का अध्ययन पूर्ण हो जाता है तो विद्यार्थी गुरु की अनुमति लेकर घर लौट सकता है। घर लौटने से पूर्व गुरुकुल में एक विशेष संस्कार किया जाता है जिसे **समावर्तन संस्कार** कहते हैं। इस संस्कार में विद्यार्थी उबटन आदि पूर्वक स्नान करता है तथा ब्रह्मचर्याश्रम के वर्जित पदार्थों इत्र, फूलमाला आदि का प्रयोग करता है। इस संस्कार के साथ ही ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त हुआ माना जाता है तथा विद्यार्थी घर लौट जाता है।

विवाह संस्कार के साथ ही गार्हस्थ्याश्रम का आरम्भ होता है। शेष दोनों संस्कार तो आश्रमों के ही वाचक हैं।

यदि कोई व्यक्ति पूर्ण जीवन व्यतीत करे तो उसकी आयु प्रायः 100 वर्ष होती है। इसी आधार पर वेदों में 100 वर्षों तक और 100 वर्षों से अधिक समय तक स्वस्थ इन्द्रियों से युक्त जीवन की कामना की गयी है।[80] वेदों की योजनानुसार मनुष्य का शतवर्षीय जीवन चार आश्रमों में विभक्त है। प्रथम आश्रम में मनुष्य को विद्यार्जन करना चाहिए, द्वितीय आश्रम में उसे विवाह कर समाज में रहना चाहिए और त्रिवर्ग की सिद्धि का प्रयास करना चाहिए। जब उसके पुत्र का भी पुत्र हो जाये तो उसे तृतीय आश्रम में प्रवेश करना चाहिए।[81] तृतीय आश्रम में उसे घर से दूर वन में निवास करना चाहिए किन्तु, घर से सम्पर्क नहीं तोड़ना चाहिए क्योंकि उसके पुत्रों को उसके मार्गदर्शन की अपेक्षा होती है। बाद में जब उसके पुत्रादि अपना गार्हस्थ्य चलाने में कुशल हो जायें तो उसे समस्त सांसारिक सम्बन्धों को छोड़कर संन्यासी हो जाना चाहिए। इस प्रकार वेदों ने मनुष्य के जीवन को निष्प्रयोजन नहीं माना अपितु आध्यात्मिक विकास का एक सुअवसर मानते हुए उसे योजनाबद्धरूपेण सुव्यवस्थित और विभाजित करने का प्रयास किया। आज भी आयु के प्रथम भाग में अध्ययन ही किया जाता है किन्तु यह ब्रह्मचर्याश्रम की भाँति व्यवस्थित नहीं है। निश्चितरूपेण घर चलाना और सन्तानों का पालन–पोषण करना सरल और महत्त्वहीन कार्य नहीं

---

79. केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते। राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः।।
मनु. 2–65

80. तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्।। यजुर्वेद 36–24

81. गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः। अपत्यस्यैव चापत्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत्।। मनु. 6–2

कार्य नहीं है। अतः इसके लिए पूरी तैयारी होना आवश्यक है। ब्रह्मचर्याश्रम में यही तैयारी की जाती है। वानप्रस्थ आश्रम में उनकी सांसारिकता पूर्णतः क्षीण हो जाती है। संन्यास आश्रम में प्रवेश के द्वारा वे अपने जीवन के परमलक्ष्य अपवर्ग अथवा मोक्ष (अहंता–ममता से मुक्ति) को साधते हैं। मोक्ष होने पर ही मानवजीवन की सार्थकता है अन्यथा यह निष्प्रयोजन ही ठहरता है।

मनु स्पष्टतया कहते हैं – "द्विज आयु के चार भागों में से प्रथम भाग में गुरु के समीप रहे, द्वितीय भाग में विवाह करके घर में रहे, तृतीय भाग में वनों में विहार करके चतुर्थ भाग में संग–साथ छोड़कर परिव्राजक हो जाये।"[82]

।। इति द्वितीयाध्यायान्तर्गतं अष्टमप्रकरणम्।।

वर्णों तथा आश्रमों में सम्बन्ध

पूर्वप्रकरण में षोडश संस्कारों की पूर्णता के लिए चार आश्रमों का उल्लेख किया गया है। ध्यानपूर्वक देखने पर चारों आश्रम अनिवार्य नहीं प्रतीत होते क्योंकि अनिवार्यता तो केवल ब्रह्मचर्याश्रम की ही कही गयी है, वह भी द्विजों के लिए न कि शूद्रों के लिए। हाँ, शूद्र भी विवाह कर गार्हस्थ्याश्रम का पालन तो करते ही हैं। वस्तुतः वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम अनिवार्य नहीं हैं। व्यक्ति चाहे तो गार्हस्थ्याश्रम में ही बना रह सकता है। आध्यात्मिक उन्नति की विशेष इच्छा वाले ही वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों का पालन करते हैं। यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य तीनों ही ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन कर विवाह करें और आमरण गृहस्थ ही बने रहें तो क्षत्रिय और वैश्य से ब्राह्मण का भला क्या वैशिष्ट्य सिद्ध होगा ? अतः ब्राह्मण के जीवन की पूर्ण सार्थकता तो संन्यास आश्रम में ही होती है। मनु ने भी ब्राह्मण वर्ण के धर्मों के वर्णन के साथ ही चारों आश्रमों का वर्णन किया है अर्थात् मनु भी विशेषरूपेण ब्राह्मण के लिए चारों आश्रमों का पालन कल्याणकारी मानते हैं किन्तु इसमें अनिवार्यता नहीं कही जा सकती।[83] इतना ही नहीं, ऐसे ब्राह्मण जो विवाह न करें उनके लिए तो केवल ब्रह्मचर्य और संन्यास आश्रम ही पालनीय रह जाते हैं क्योंकि वानप्रस्थ आश्रम वस्तुतः गार्हस्थ्याश्रम से उत्पन्न सम्बन्धों को शनैः शनैः छोड़ने का एक उपाय है। जिन्होंने गर्हस्थ्याश्रम में प्रवेश ही नहीं किया, उन्हें गार्हस्थ्याश्रम से उत्पन्न सम्बन्धों को छोड़ने का उपक्रम करने की भला क्या आवश्यकता है ? मनु के अनुसार जिसने विवाह किया

---

82. चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाऽऽद्यं गुरौ द्विजः। द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्।। मनु. 4–1

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः। चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान्परिव्रजेत्।। मनु. 6–33

83. एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः। पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत।। मनु. 6–97

है ऐसा व्यक्ति भी विशेष वैराग्य होने पर गार्हस्थ्याश्रम से सीधे संन्यासाश्रम में प्रविष्ट हो सकता है।[84] इस प्रकार द्विज होने के लिए ही ब्रह्मचर्याश्रम की अनिवार्यता है। गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम अनिवार्य नहीं हैं क्योंकि द्विज चाहे तो आमरण ब्रह्मचारी ही रह सकता है।[85] फिर भी इतना कहा जा सकता है कि ब्राह्मण के लिए चारों आश्रमों का पालन हितकारी होता है क्योंकि ब्राह्मण की पूर्णता संन्यास आश्रम में ही होती है और पूर्ववर्ती आश्रमों का अनुभव संन्यास में भी सहायक होता है। संन्यास आश्रम तो जीवन की धन्यता है। इसी कारण महान् राजाओं ने भी संन्यास लिया।[86]

।। इति द्वितीयाध्यायान्तर्गतं नवमप्रकरणम्।।

वर्ण तथा स्त्री में सम्बन्ध

यह प्रकरण अतिमहत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह सांसारिक जीवन पुरुष व स्त्री दोनों की सहभागिता से ही चलता है। दोनों इस प्रकार निर्मित हैं कि वे परस्पर पूरक होते हैं, इसी कारण भारत में **अर्धनारीश्वर** की संकल्पना बहुत सम्मानित हुई जिसके अनुसार पुरुष व स्त्री मिलकर ही पूर्ण इकाई बनते हैं। अकेले–अकेले वे दोनों ही आधे–आधे होते हैं। इसी कारण स्त्री को पुरुष की **अर्धांगिनी** तथा पुरुष को स्त्री का **अर्धांग** कहा गया है। ऐसे में यदि यह विचार किया जाय कि स्त्री का वर्ण होता है अथवा नहीं तो यह प्रश्न ही निरर्थक होगा। यदि पुरुष का वर्ण होता है तो स्त्री का भी होता है क्योंकि एक सुखद और सार्थक जीवन तभी हो सकता है जब पति और पत्नी समान वर्ण वाले हों। इसी कारण मनु ने समावर्तन के पश्चात् स्नातक को शुभ लक्षणों और **समान वर्ण** वाली कन्या से विवाह करने का निर्देश दिया है।[87] इस प्रकार इतना तो निश्चित है कि जिस प्रकार पुरुषों के चार वर्ण होते हैं उसी प्रकार स्त्रियों के भी चार वर्ण होते हैं। अब निम्न प्रश्न विचारणीय रह जाते हैं –

---

84. प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्। आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्।।

मनु. 6–38

85. यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत् गुरोः कुले। युक्तः परिचरेदेनमाशरीरविमोक्षणात्।। मनु. 2–243

86. ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा। एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः।।

सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः। यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम्।।

मनु. 6–87,88

87.गुरुणाऽनुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि। उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्।।मनु. 3–4

(1) स्त्रियों का वर्णनिश्चय कैसे होता था ?

(2) स्त्रियों का पाठ्यक्रम पुरुषों के समान ही था अथवा भिन्न ?

(3) स्त्रियों की शिक्षा–दीक्षा कहाँ होती थी ?

(4) उनके अध्ययन की अवधि क्या थी ?

"स्त्रियों का वर्णनिश्चय कैसे होता था ?" इस प्रश्न का उत्तर है – ठीक वैसे ही जैसे पुरुषों का होता था अर्थात् गर्भाधानकाल व जन्मकाल के आधार पर वर्ण का अनुमान हो जाता था और बाद में निरीक्षण व परीक्षण के द्वारा वर्णनिश्चय कर लिया जाता था। इसमें भी स्त्री के अन्तःकरण का निर्णय ही अन्तिम प्रमाण समझा जाता था।

"स्त्रियों का पाठ्यक्रम पुरुषों के समान ही होता था अथवा भिन्न ?" यह प्रश्न थोड़ा जटिल है क्योंकि स्त्री का जीवन पुरुष के जीवन का पूरक होने से पुरुष के जीवन से नितान्त समान तो हो नहीं सकता। अतः **जिन विषयों में स्त्री की पुरुष से असमानता है यदि उन विषयों की शिक्षा–दीक्षा न हो तो स्त्री अविकसित और अपरिपक्व ही रह जायेगी।** गर्भधारण करना, गर्भस्थ शिशु की रक्षा करना, प्रसवोपरान्त शिशु का पालन–पोषण करना और उसे सुसंस्कारित करना, भोजन पकाना, गृहकार्यों में दक्षता प्राप्त करना इत्यादि ऐसे विषय हैं जिन्हें जानना स्त्री के लिए अपरिहार्य है। अतः इन बातों की शिक्षा स्त्री को अवश्य दी जाती थी। यह शिक्षा कौन देता था, इस विषय में आगे चर्चा की जायेगी। अस्तु, शेष बातों में उसे पुरुषों के समान ही शिक्षा दी जाती थी, यथा – पंचममहायज्ञ करना, वेदाध्ययन करना, वेदांगों का अध्ययन करना, स्ववर्णानुसार युद्धविद्या अथवा अन्य विद्या का अर्जन करना इत्यादि।

"स्त्रियों की शिक्षा–दीक्षा कहाँ होती थी ?" इस विषय में तीन विकल्प थे –

(1) स्वगृह में (2) ब्राह्मणकुल में (3) स्त्रीकुल में

प्रथम विकल्प के विषय में **यम** का कथन है –

"प्राचीनकाल में मूँज की मेखला कमर में बाँधना कुमारियों के लिए भी अनिवार्य था। उन्हें वेद पढ़ाया जाता था और वे सावित्रीमन्त्रादि का वाचन (सस्वर उच्चारण) करती थीं। उनके पिता, चाचा अथवा बड़े भाई उनको पढ़ाते थे, इनसे भिन्न कोई भी पुरुष उनको नहीं पढ़ा सकता था। वे अपने घर में ही भिक्षा माँगती थीं। मृगचर्म, वल्कल वस्त्र तथा जटाओं का धारण उनके लिए वर्जित था।"[88]

---

88. पुराकल्पे कुमारीणां मौंजीबन्धनमिष्यते। अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवाचनं तथा।।

पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनामध्यापयेत्परः। स्वगृहे चैव कन्यायाः भैक्षचर्या विधीयते।।

वर्जयेदजिनं चीरं जटाधारणमेव च।। संस्कारप्रकाश, पृष्ठ 402

इस व्यवस्था में कुमारियों की निज बातों की शिक्षा घर की बड़ी स्त्रियाँ (माता, चाची, भाभी आदि) ही देती थीं।

द्वितीय विकल्प अर्थात् ''ब्राह्मणकुल में कन्याओं की शिक्षा' के विषय में आश्वलायन गृह्यसूत्र में उल्लेख हुआ है। ब्राह्मणों की कन्याएं तो स्वगृह में ही स्ववर्णानुसार शिक्षा प्राप्त करती ही थीं। उन्हीं के साथ क्षत्रियों, वैश्यों व शूद्रों की कन्याएं भी अध्ययन करती थीं। कन्याएं भी पुरुषों की ही भाँति ब्रह्मचर्य का पालन करती थीं। अतः कन्याओं के लिए पृथक् आवासीय क्षेत्र होता था जिसमें कोई भी ब्रह्मचारी प्रवेश नहीं कर सकता था। केवल गुरुकुल के विवाहित आचार्यों की पत्नियाँ तथा उनकी कन्याएं ही इस प्रतिबन्धित क्षेत्र में प्रवेश करती थीं। उन्हीं के हाथ में इस प्रतिबन्धित क्षेत्र का प्रबन्ध होता था। आचार्यगण केवल अध्यापन हेतु निश्चित किये गये काल में ही इस वर्जित क्षेत्र में प्रवेश कर सकते थे। ब्रह्मचारिणी कन्याएं न तो आचार्यों का चरणस्पर्श करती थीं और न ही उनकी पत्नी व पुत्री आदि का। वे केवल हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम कर लेती थीं। विवाह के पश्चात् पति के चरणस्पर्श करने के उपरान्त स्त्री उन्हीं लोगों का चरणस्पर्श करती थी जिनका चरणस्पर्श उसका पति भी करता हो।

इस व्यवस्था में कुमारियों की निज बातों की शिक्षा आचार्यों की पत्नियाँ ही दिया करती थीं।

तृतीय विकल्प अर्थात् ''स्त्रीकुल में कन्याओं की शिक्षा'' का शनैः शनैः लोप हो गया। ऋषियों ने विचार किया कि स्त्री–शिक्षा का पूर्ण विकास तभी हो सकता है जब यह पूर्णतया स्त्रियों के ही हाथ में हो। इस हेतु दो प्रकार की स्त्रियों का सहयोग लिया गया। प्रथम, जिन्होंने आजीवन ब्रह्मचारिणी रहने का व्रत लिया।[89] द्वितीय, वे विदुषी स्त्रियाँ जिन्होंने अपने पुत्र के पुत्र का जन्म देख लिया और उनके पति उनके बिना ही वानप्रस्थी हो गये अथवा संन्यासी हो गये।[90]

---

89. भारद्वाजस्य दुहिता रूपेणाप्रतिमा भुवि। श्रुतावती नाम विभो कुमारी ब्रह्मचारिणी।।
साहं तस्मिन् कुले जाता भर्तर्यसती मद्विधे। विनीता मोक्षधर्मेषु चराम्येका मुनिव्रतम्।।
महाभारत, शल्यपर्व, अध्याय 49

अत्रैव ब्राह्मणी सिद्धा कौमारब्रह्मचारिणी। योगयुक्ता दिवं याता तपःसिद्धा तपस्विनी।।
बभूव श्रीमती राजन् शाण्डीलस्य महात्मनः। सुता धृतवती साध्वी नियता ब्रह्मचारिणी।।
सा तु तप्त्वा तपो घोरं दुश्चरं स्त्रीजनेन च। गता स्वर्गं महाभाग देवब्राह्मणपूजिता।।
महाभारत, शल्यपर्व, अध्याय 54

90. सन्त्यज्य ग्राम्याहारं सर्वं चैव परिच्छदम्। पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा।। मनु. 6–3

उक्त दोनों प्रकार की स्त्रियों की सहायता से ऋषियों ने चारों ओर से सुरक्षित स्थानों पर स्त्रीकुल खुलवाये जहाँ का सारा प्रबन्ध स्त्रियों के ही हाथों में सौंपा गया। इन स्त्रीकुलों में एक भी पुरुष नहीं होता था। केवल वृद्ध संन्यासी, ऋषि अथवा विद्वान् ब्राह्मण यदा–कदा मार्गदर्शन अथवा उपदेश के लिए आते थे। इन स्त्रीकुलों में अध्ययन करने आयीं कन्याएं भिक्षा माँगने के लिए बाहर नहीं जाती थीं अपितु समाज व राज्य की ओर से प्रतिपक्ष या प्रतिमाह अपेक्षित वस्तुओं से भरी बैलगाड़ियाँ स्त्रीकुलों के द्वार तक पहुँचायी जाती थीं। इन स्त्रीकुलों की रक्षा हेतु स्त्री–सैनिकों को भी नियुक्त किया जाता था। कालान्तर में समाज में अराजकता तथा असुरक्षा बढ़ जाने के कारण ऐसे स्त्रीकुल बन्द हो गये। आजीवन ब्रह्मचारिणी रहने वाली स्त्रियों की भी न्यूनता हो गयी तथा वानप्रस्थ आश्रम का पालन भी कम होने लगा, इससे स्त्रीकुलों के संचालन हेतु अपेक्षित स्त्रियों की प्राप्ति दुर्लभ हो गयी।

इस प्रकार प्रथम दो विकल्प ही कालान्तर में शेष रह गये। जातितः वर्ण–व्यवस्था के आगमन के पश्चात् द्वितीय विकल्प भी क्षीण हो गया।

अब चौथे प्रश्न "कन्याओं के अध्ययन की अवधि क्या थी ?" पर चर्चा अपेक्षित है। पूर्वोक्त तीनों विकल्पों में कन्याओं की अध्ययनावधि के विषय में समान मत था कि रजस्वला होते ही उनकी अध्ययनावधि समाप्त मानी जाती थी। अध्ययन करती हुई कन्या जैसे ही प्रथम बार रजस्वला होती थी वैसे ही उसके पिता अथवा पिता के न रहने पर चाचा या बड़े भाई को सूचित कर दिया जाता था ताकि वे आकर उसे ले जायें। **हारीत** ने तो यहाँ तक कहा है कि रजोस्राव आरम्भ होने के पूर्व ही कन्या का समावर्तन हो जाना चाहिए।[91] किन्तु हारीत का मत बहुत ही नवीन तथा आपत्कालीन है। कन्या प्रायः 12–15 वर्ष की आयु में रजस्वला होती है। यदि उसका उपनयन 7–8 वर्ष की आयु में भी होता हो तब भी उसका अध्ययनकाल प्रायः 5–7 वर्ष का ही ठहरता है। निश्चित ही यह काल विशेष ज्ञानार्जन की दृष्टि से अपर्याप्त है। इतने समय में तो उसे केवल स्त्रीकार्यों की शिक्षा, स्ववर्ण की शिक्षा, अधिकतम एक वेद की शिक्षा तथा अन्य शास्त्रों की कुछ शिक्षाएं ही प्रदान की जा सकती हैं। अब, यह तो कन्याओं के साथ अन्याय ही प्रतीत होता है। वस्तुतः इसमें कोई अन्याय नहीं है क्योंकि स्त्री की सार्थकता पुरुष की नकल करने में नहीं अपितु स्त्रीत्व का विकास करने में ही है। इस नियम में अन्याय देखने वाले स्त्री–मनोविज्ञान को नहीं समझते। पुरुष की तुलना में स्त्री शरीर से अधिक संचालित होती है। अतः रजस्वला होते ही उसका समावर्तन हो जाना उचित ही है क्योंकि रजस्वला होने पर वह स्वाभाविकरूपेण ही पति की कामना करने लगती है। इस रजस्वला कन्या के लिए वरान्वेषण करना उसके पिता का धर्म

91. प्राग्रजसः समावर्तनमिति हारीतोक्त्या। संस्कारप्रकाश, पृष्ठ 404

है। इस कार्य को उसे तीन वर्षों के भीतर अवश्य सम्पन्न कर लेना चाहिए क्योंकि रजस्वला होने के तीन वर्ष बाद कन्या विवाह के योग्य हो जाती है। मनु कहते हैं – ''कन्या रजस्वला हो जाने पर तीन वर्षों तक विवाह की प्रतीक्षा करे, उसके पश्चात् अपने समान (सवर्ण तथा योग्य) पति का वरण कर ले क्योंकि तब पिता द्वारा कन्यादान न करने पर यदि कन्या स्वयं सवर्ण पति का वरण कर ले तो उसे कोई पाप नहीं लगता तथा उसके द्वारा वरण किये गये सवर्ण पति को भी कोई पाप नहीं लगता है।''[92]

इस प्रकार स्त्री का भी वर्ण होता है और तभी वह पुरुष का सहयोग करने में समर्थ हो पाती है किन्तु उसका स्त्रीत्व भी पर्याप्त विकसित होना चाहिए अन्यथा उसका जीवन कभी सार्थक नहीं हो सकता। जिस स्त्री का स्त्रीत्व विकसित हो जाता है उसे वेदों में **पुरन्ध्रि** कहा गया है। पुरन्ध्रि का अर्थ है – जिसके भाई, पति व पुत्र जीवित हैं। भाई, पति व पुत्रों की कामना करना स्त्री का स्वाभाविक गुण है। इसमें **स्त्री–परतन्त्रता** देखने वाले केवल स्त्रियों को भ्रमित ही करते हैं। ऐसे लोग न तो स्त्री–मनोविज्ञान ही समझते हैं और न ही वे स्त्रीजीवन का प्रयोजन ही जानते हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह आशय ग्रहण नहीं करना चाहिए कि स्त्री दीर्घकालपर्यन्त अध्ययन नहीं कर सकती थी क्योंकि अनेकों ऐसी स्त्रियों का उल्लेख शास्त्रों में है जिन्होंने दीर्घकालपर्यन्त अध्ययन किया और आजीवन ब्रह्मचारिणी रहीं। किन्तु ऐसा कम ही होता था क्योंकि स्त्री अपने स्वाभाविक ''पुरन्ध्रि जीवन'' द्वारा ही अधिक विकसित हो सकती है। वैसे तो वह विवाह के उपरान्त भी अध्ययन कर सकती थी। यदि उसे निर्बाध अध्ययन करना हो तो उसे आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना पड़ता था क्योंकि उसे ''पुरन्ध्रि जीवन'' की तुलना में अध्ययन अधिक प्रिय था जिसका मूल्य आजीवन ब्रह्मचर्य निश्चित किया गया था। वैसे, ब्राह्मण कन्याएं विवाह के उपरान्त पति के घर रहते हुए कुमारियों को पढ़ाती थीं और इस हेतु उनके पति उन्हें पढ़ाते ही थे। इस प्रकार उनकी अध्यापन की कामना भी पूर्ण हो जाती थी। क्षत्रिय व वैश्य कन्याएं अपने पति का सहयोग करती थीं और इसी में उनका सारा समय सुखपूर्वक व्यतीत हो जाता था।

इस प्रकार स्त्रियों के लिए अध्ययन के दो विकल्प थे – स्वाभाविक अध्ययन तथा अतिअध्ययन। स्वाभाविक अध्ययन रजोस्राव प्रारम्भ होने तक चलता था और उसके बाद वे अपने पिता के घर विवाह की प्रतीक्षा करते हुए अध्ययन करतीं थीं। आगे का अध्ययन वे पति की सहायता से करतीं थीं।

---

92. त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती। ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम्।।

अदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद् यदि स्वयम्। नैनः किंचिदवाप्नोति न च यं साधिगच्छति।।

मनु. 9–90,91

अतिअध्ययन की इच्छुक स्त्री आजीवन ब्रह्मचारिणी रहती थी। अतिअध्ययन प्रायः ब्राह्मण कन्याएं ही करतीं थीं।

।। इति द्वितीयाध्यायान्तर्गतं दशमप्रकरणम् ।।

वर्ण तथा विवाह में सम्बन्ध

पूर्वप्रकरणों में अनेक बार कहा जा चुका है कि मनु सवर्ण (समान वर्ण वाले) स्त्री–पुरुषों का विवाह ही उचित मानते हैं। आखिर क्यों ?

स्त्रियों के विषय में मनु कहते हैं – "सन्तानों का प्रसव व पालन–पोषण, धार्मिक कृत्य, सेवा तथा उत्तम रति तथा अपना व पितरों का समस्त सुख पत्नी पर ही निर्भर होता है।"[93]

सबसे पहले "उत्तमरति" को लेते हैं। मनु ने रति के साथ **उत्तम** विशेषण का प्रयोग किया है अर्थात् ऐसी रति भी होती है जो उत्तम या श्रेष्ठ न हो अर्थात् अपरति हो। प्रस्तावनान्तर्गत काम पुरुषार्थ का विवेचन करते हुए अपरति पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है।

ऑस्पेंस्की महोदय कहते हैं कि वह सब जो साधारण निरीक्षण के साधनों द्वारा सुनिश्चित किया जा सकता है, इस तथ्य के द्वारा सीमित किया जा सकता है कि रति जीवन के सन्दर्भ में पुरुष और स्त्री दोनों मूलभूत प्रकारों की एक निश्चित संख्या, और बहुत बड़ी संख्या नहीं, में विभक्त हैं। एक लिंग के प्रत्येक **प्रकार** के लिए विपरीत लिंग का एक अथवा कतिपय सकारात्मक **प्रकार** होते हैं, जो कामना को उत्पन्न करते हैं, जबकि कुछ प्रभावहीन, तथा कुछ निश्चितरूपेण नकारात्मक अर्थात प्रतिकर्षक **प्रकार** होते हैं। इस कारण से जटिल मेल सम्भव हैं, जहाँ, उदाहरणार्थ, एक निश्चित प्रकार की स्त्री एक निश्चित प्रकार के पुरुष के लिए सकारात्मक है किन्तु उक्त प्रकार का पुरुष उक्त प्रकार की स्त्री के लिए या तो नकारात्मक है अथवा प्रभावहीन है, और इससे विपरीत भी हो सकता है। इस दशा में अनुचितरूपेण चयनित दो प्रकारों का संग अपरति की पूर्ववर्णित कोटियों में से किसी के भी बाह्य तथा आन्तरिक दोनों क्रियान्वयनों को उत्पन्न कर देता है। इसका तात्पर्य है कि रति के सहज क्रियान्वयन के लिए न केवल पुरुष व स्त्री की सहज स्थिति अपितु दो सुसंगत प्रकारों का संग भी आवश्यक है।

उपर्युक्त उद्धरण से एक बात स्पष्ट होती है कि यदि स्त्री–पुरुष परस्पर सुसंगत प्रकार के न हों तो उनके बीच अपरति होती है न कि सहजरति अथवा उत्तमरति। वैवाहिक जीवन की सफलता सुसंगत प्रकारों के बीच होने वाली सहजरति पर ही निर्भर है। यदि दो असंगत प्रकारों के बीच विवाह हो जाये

93. अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा। दाराधीनास्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह।। मनु. 9–28

तो वे सदा एक–दूसरे से घृणा करते हैं। किसी भी प्रकार का अभिनय इसे नहीं रोक सकता। स्त्री–पुरुषों के सुसंगत प्रकारों का एक निश्चित गुण है कि वे सवर्ण अवश्य होते हैं तथा असवर्ण स्त्री–पुरुष सदैव परस्पर असंगत होते हैं। भले ही किसी भौतिक लाभ अथवा अन्य कारण से दो असवर्ण स्त्री–पुरुष विवाहित ही क्यों न हो जायें उनके बीच प्रेम और निष्ठा कभी भी दृढ नहीं होती और बाद में पूरी तरह लुप्त भी हो सकती है। बस, किसी तरह से जीवन काट लिया जाता है। इतना ही नहीं, दो सवर्ण स्त्री–पुरुष भी परस्पर असंगत हो सकते हैं, फिर असवर्ण स्त्री–पुरुषों के विषय में तो कहना ही क्या है?

यदि पति–पत्नी परस्पर घृणा करते हों तो उनके यहाँ उत्पन्न सन्तान मानसिकरूपेण सहज और स्वस्थ कैसे हो सकती है ? सन्तान माता व पिता दोनों से जुड़ी होती है। उसमें माता व पिता दोनों के ही मनोशारीरिक लक्षण विद्यमान होते हैं। यहाँ तक कि, उसके शरीर की प्रत्येक कोशिका में माता व पिता दोनों का ही समान अंश होता है। यदि माता–पिता के बीच पारस्परिक घृणा और कलह हो तो वे सन्तान पर समुचित ध्यान नहीं देते जिससे सन्तान अपेक्षित प्रेम और पोषण से वंचित रह जाती है। माता–पिता की घृणा व कलह भी सन्तान में चली जाती हैं और वह कभी भी आन्तरिक शान्ति अनुभव नहीं कर पाती। और फिर ऐसे घृणित वातावरण में श्रेष्ठ जातकों का जन्म भी नहीं होता। इसी कारण स्मृतियों में असवर्ण विवाह की इतनी निन्दा की गयी है।

परस्पर घृणा करते हुए पति–पत्नी मिलकर किसी धार्मिक कृत्य के लिए उत्साहित ही नहीं होते और यदि वे किसी धार्मिक कृत्य को करते भी हैं तो उसमें उनके पारस्परिक सामंजस्य का अभाव होता है। कभी–कभी दोनों में से एक कोई धार्मिक कृत्य करना चाहता है जबकि दूसरा उसे एक निरर्थक कार्य अथवा झंझट समझता है। इस प्रकार असवर्ण विवाह से धार्मिक कृत्यों में भी ह्रास होने लगता है।

ऐसे घृणायुक्त वातावरण में पत्नी पति की सेवा के लिए उत्साहित होगी, यह विचार भी दिवास्वप्नमात्र ही है क्योंकि सच्ची सेवा प्रेम से उत्पन्न होती है। घृणा के वातावरण में तो पति–पत्नी एक–दूसरे को तंग करने और दोषारोपण करने का अवसर ढूढ़ते हैं। पत्नी जैसे–तैसे पाकनिर्माणादि गृहकार्यों को निपटा दिया करती है। इसमें प्रेम व चिन्ता का कोई विशेष भाव नहीं होता।

जब पत्नी पति की ही सेवा नहीं करना चाहती तो सास–ससुर आदि पितरों की तो बात ही क्या है ? सेवा और सद्वचन तो दूर ही हैं, अवसर मिलने पर वह पति और सास–ससुर आदि को खरी–खोटी सुनाने से भी नहीं चूकती है।

इस प्रकार असवर्ण स्त्री–पुरुषों का वैवाहिक जीवन उन शत्रुओं के जीवन जैसा होता है जो सामाजिक व शारीरिक कारणों से साथ–साथ रहने के लिए विवश हैं। इस प्रकार वर्ण विवाह को बड़ी

ही गहराई तक प्रभावित करता है, अतः वैवाहिक जीवन की सफलता के लिए सवर्ण स्त्री–पुरुषों के बीच ही विवाह होना चाहिए।

।। इति द्वितीयाध्यायान्तर्गतं एकादशप्रकरणम्।।

मनु द्वारा शूद्र व ब्राह्मण परस्पर तथा वैश्य व क्षत्रिय परस्पर परिवर्तनीय वर्ण घोषित

हम पूर्वप्रकरणों में वर्णपरिवर्तन की बात कर चुके हैं तथा वर्णोत्थान व वर्णपतन दोनों ही प्रकार के वर्ण परिवर्तनों की व्याख्या कर चुके हैं। वर्तमान प्रकरण में हम उस मान्यता पर चर्चा करेंगे जिसके अनुसार शूद्र व ब्राह्मण परस्पर तथा वैश्य व क्षत्रिय परस्पर परिवर्तनीय वर्ण माने जाते हैं। इस मान्यता का आधार मनु का यह कथन माना जाता है – "शूद्र ब्राह्मणता को प्राप्त कर लेता है तथा ब्राह्मण भी शूद्रता को प्राप्त कर लेता है। क्षत्रिय से उत्पन्न को तथा वैश्य से उत्पन्न को भी इसी प्रकार समझो।"[94]

वस्तुतः मनु के उपर्युक्त कथन की प्रथम पंक्ति में निम्नतम वर्ण शूद्र तथा उच्चतम वर्ण ब्राह्मण को परस्पर परिवर्तनीय बताकर यह स्पष्ट किया गया है कि व्यक्ति ने किस वर्ण के माता–पिता के यहाँ जन्म लिया है इसकी तुलना में उसका स्ववर्ण अधिक महत्त्वपूर्ण और निर्णायक होता है। अतः शूद्र के यहाँ उत्पन्न होकर भी कोई ब्राह्मण हो सकता है तथा ब्राह्मण के यहाँ उत्पन्न होकर भी कोई शूद्र हो सकता है। कथन की द्वितीय पंक्ति के अनुसार यही व्यवस्था वैश्य और क्षत्रिय के यहाँ उत्पन्न सन्तानों के विषय में भी समझनी चाहिए। इसका आशय यह है कि उनके भी वर्ण का निश्चय उनके माता–पिता के वर्ण के आधार पर नहीं अपितु उनके निजवर्ण के आधार पर ही करना चाहिए। इस प्रकार मनु के इस कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि शूद्र व ब्राह्मण परस्पर तथा वैश्य व क्षत्रिय परस्पर परिवर्तनीय वर्ण हैं।

वस्तुतः शूद्र व ब्राह्मण को परस्पर तथा वैश्य व क्षत्रिय को परस्पर परिवर्तनीय वर्ण घोषित करने वाले वे लोग हैं जो भारतीय शास्त्रों और पाश्चात्य मनोविज्ञान में समन्वय स्थापित करना चाहते हैं और इस हेतु पाश्चात्य मनोविज्ञान के आधे–अधूरे निष्कर्षों को भारतीय शास्त्रों के वचनों से पुष्ट करना चाहते हैं।

।। इति द्वितीयाध्यायान्तर्गतं द्वादशप्रकरणम्।।

---

94. शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्। क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च।।मनु. 10–65

वर्णों के वैयक्तिक तथा सामाजिक स्वरूप में सम्बन्ध

हम पहले बता चुके हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र के मौलिक लक्षण क्रमशः ज्ञान की कामना, बल की कामना, भौतिक सम्पत्ति की कामना व उदरपूर्ति की कामना हैं। ये मौलिक लक्षण ही वर्णों के वैयक्तिक स्वरूप हैं, इन्हें **प्रवृत्ति** भी कहते हैं।[95] चारों वर्णों के कर्मों का उल्लेख करते हुए हम बता चुके हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र के केन्द्रीय कर्म क्रमशः अध्यापन, प्रजारक्षण, उत्पादन (अथवा वृद्धि) तथा सेवा हैं। ये केन्द्रीय कर्म ही वर्णों के सामाजिक स्वरूप हैं, इन्हें **वृत्ति** भी कहते हैं। वस्तुतः वर्णों के सामाजिक स्वरूप वर्णों के वैयक्तिक स्वरूपों पर ही आधारित हैं। निश्चितरूपेण ज्ञान की कामना वाला ही ज्ञान अर्जित करेगा और वही अध्यापन में भली–भाँति समर्थ हो सकेगा। इसी प्रकार बल की कामना वाला ही बल अर्जित करेगा और वही प्रजारक्षण में भली–भाँति समर्थ हो सकेगा। इसी प्रकार भौतिक सम्पत्ति की कामना वाला ही धन–धान्य, पशु आदि का उत्पादन कर ब्राह्मण को दान, क्षत्रिय को कर तथा शूद्र को वेतन द्वारा पुष्ट कर सकेगा। केवल उदरपूर्ति की कामना वाले को तो सेवाकार्य ही करना होगा। प्रचुर पैतृक धन होने पर ही वह बिना सेवा के निर्वाह कर सकता है किन्तु प्रचुर पैतृक धन भी कब तक चलेगा। बाद में तो सेवा आदि ही करनी होगी।

अस्तु, समाज के उत्तरोत्तर विकास के लिए आवश्यक है कि अध्यापन, प्रजारक्षण, उत्पादन तथा सेवा ये चारों कार्य भली–भाँति चलते रहें। किन्तु ये कार्य सुचारुरूपेण तभी चलते हैं जब ये अनुरूप व्यक्तियों द्वारा किये जाते हैं अर्थात् जब लोगों की मौलिक कामनाओं और सामाजिक कर्मों के बीच सुसंगति होती है। अतः वृत्ति और प्रवृत्ति का समन्वय ही सामाजिक उन्नति का आधार है। यदि किसी व्यक्ति की मौलिक कामना और आजीविका के बीच सुसंगति न हो तो वह या तो अपनी मौलिक कामना को तृप्त नहीं कर सकेगा अथवा अपने आजीविकादायी कर्म के साथ न्याय नहीं कर सकेगा अथवा वह दोनों को ही नहीं साध सकेगा। उदाहरणार्थ, यदि एक धन की कामना वाला व्यक्ति अध्यापन करेगा तो उसका लक्ष्य ज्ञान की रक्षा, सत्पात्र को ज्ञानदान इत्यादि कभी नहीं होगा, वह तो उन लोगों को ही पढ़ाना चाहेगा जिनसे उसे अधिक धन प्राप्त हो अथवा ऐसे स्थान पर ही पढ़ाना चाहेगा जहाँ से उसे अधिक धनप्राप्ति हो सके। इसी प्रकार ज्ञानार्जन की प्रखर कामना से युक्त व्यक्ति यदि उत्पादनकार्य करने के लिए विवश हो तो वह ज्ञानार्जन हेतु विशेष समय और अवसर प्राप्त नहीं कर सकेगा और यदि वह ज्ञानार्जन हेतु विशेष प्रयास करेगा तो उसका उत्पादनकार्य बाधित होने लगेगा। इस प्रकार वर्णों के वैयक्तिक स्वरूपों और सामाजिक स्वरूपों में सुसंगति न होने पर समाज कदापि उन्नति नहीं कर

---

95. ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पंचमे। राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे।। मनु. 2–37

सकेगा। जातिविशेष के लिए कर्मविशेष की व्यवस्था का भी यही दोष है। जातितः वर्णव्यवस्था वर्णों के वैयक्तिक स्वरूप की चिन्ता किये बिना ही केवल कुलपरम्परा के बल पर वर्णों के सामाजिक स्वरूप की रक्षा और उन्नति करना चाहती है। ऐसे में, जिस व्यक्ति में वर्णों के वैयक्तिक और सामाजिक स्वरूप सुसंगत होते हैं उसका जीवन तो कुछ सार्थक सिद्ध होता है किन्तु जिस व्यक्ति में वर्णो के वैयक्तिक और सामाजिक स्वरूप सुसंगत नहीं होते वह अन्तर्कलह में ही फँसा रहता है और निरन्तर नीरस जीवन व्यतीत करता है। अतः ज्ञान, बल, सम्पत्ति तथा उदरपूर्ति निरन्तर की कामना वालों को क्रमशः अध्यापन, रक्षा, उत्पादन तथा सेवा का अवसर अवश्य प्राप्त हो इसकी सदैव चिन्ता की जानी चाहिए। इसी में समाज का अभ्युदय और व्यक्ति का निःश्रेयस् निहित है।

।। इति द्वितीयाध्यायान्तर्गतं त्रयोदशप्रकरणम्।।

प्रत्येक वर्ण के विविध रूप

जीवन की जटिलता के कारण प्रत्येक वर्ण विविध रूपों में प्राप्त होता है। अतः प्रत्येक वर्ण के विविध रूप भी विज्ञेय हैं। प्रत्येक वर्ण के मनूक्त विविध रूप निम्नवत् हैं –

ब्राह्मण वर्ण के विविध रूप

1. **आचार्य** – जो द्विज शिष्य का उपनयन कराके कल्प और रहस्य सहित वेद पढ़ाता है उसे आचार्य कहते हैं।[96]

2. **उपाध्याय** – जो जीविकार्थ (धन लेकर) वेद का एक अंश अथवा वेदांगो को पढ़ाता है उसे उपाध्याय कहते हैं।[97]

एक ब्राह्मण अपने पुत्र का गुरु भी होता है। वैसे तो जिससे भी अल्प अथवा अधिक ज्ञान प्राप्त होता है, उसको गुरु ही समझना चाहिए।[98]

3. **पुरोहित** – प्रत्येक विवाहित को अपने घर की उन्नति हेतु किसी श्रेष्ठ व विद्वान् परामर्शदाता की आवश्यकता होती है। यही श्रेष्ठ व विद्वान् परामर्शदाता **पुरोहित** कहलाता है। यह घनिष्ठ मित्र तथा

---

96. उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः। सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते।। मनु. 2–140

97.एकदेशं तु वेदस्य वेदांगान्यपि वा पुनः। योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते।।मनु. 2–141

98. निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि। सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते।।

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः। तमपीह गुरुं विद्यात् श्रुतोपक्रियया तया।।

मनु. 2–142,149

शुभेच्छु होता है। पुरोहित का गोत्र यजमान से भिन्न होने पर पुरोहित की दृष्टि में यजमान बाजार मात्र ही रह जाता है जिससे अधिकाधिक लाभ प्राप्त कर लेना चाहिए। अतः पुरोहित व यजमान का कुलगोत्र समान होना ही श्रेयस्कर है। न्यूनातिन्यून पक्षगोत्र तो समान होना ही चाहिए।

4. न्यायाधीश – ब्रह्मसभा अथवा न्यायालय में नियुक्त होने वाले ब्राह्मण न्यायाधीश होते है। ब्रह्मसभा में चार न्यायाधीश होते हैं जिनमें से तीन तो ब्रह्मसभा के पूर्वसदस्यों द्वारा नियुक्त किये जाते हैं तथा एक राजा द्वारा नियुक्त किया जाता है।[99]

5. धर्मदाता – धर्मपरिषद् (कानून बनाने वाली परिषद्) के सदस्य धर्मदाता कहलाते हैं। ये सभी ब्राह्मण ही होते हैं। परिषद् स्वायत्त होती है, अतः इसके सदस्यों की नियुक्ति राजा द्वारा नहीं की जाती। परिषद् द्वारा बनाया गया कानून राजा की स्वीकृति से ही लागू होता है।

इस प्रकार ब्राह्मणों के ज्ञान–विज्ञान से सम्बन्धित अनेक रूप हैं।

क्षत्रिय वर्ण के विविध रूप

राजा – समस्त क्षत्रिय वर्ण का प्रधान, दण्ड (शक्ति) का धारक और प्रजा का रक्षक राजा कहलाता है। राजा की तुलना अमेरिका के राष्ट्रपति (President) से की जा सकती है। राजा के मार्गदर्शन के लिए पुरोहित, ऋत्विक्, आचार्य आदि ब्राह्मण होते हैं। राजा के सहयोगी अन्य क्षत्रिय **राजभृत्य** कहलाते हैं। इनकी नियुक्ति राजा ही करता है। ये निम्नवत् हैं –

1. सचिव – ये राजा के व्यक्तिगत परामर्शदाता होते हैं, इन्हें **मन्त्री** भी कहा जाता है। मनु के अनुसार राजा के न्यूनातिन्यून सात या आठ सचिव अवश्य होने चाहिए।[100]

2. अमात्य – ये राज्य के अतिविशेष विभागों को देखते हैं।[101]

मुख्य अमात्य **महामात्य** कहलाता है। इसी के हाथ में दण्ड (न्याय) व्यवस्था रहती है। न्यायालयों में वादी–प्रतिवादी और साक्षियों से प्रश्न–प्रतिप्रश्न करने वाले प्राड्विवाक् कहलाते हैं। महामात्य इन पर

---

99. यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम्। तदा नियुंज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शनम्।।
यस्मिन्देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः। राज्ञश्चाधिकृतो विद्वान्ब्रह्मणस्तां सभां विदुः।।
मनु. 8–9,11

100. मौलान् शास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान्कुलोद्भवान्। सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्।।
मनु. 7–54

101. अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान्। सम्यगर्थसमाहर्तॄनमात्यान्सुपरीक्षितान्।। मनु. 7–60

तथा न्यायाधीशों पर भी निगरानी रखता है।[102] राजा के रुग्ण होने पर महामात्य ही राजा के कार्यों का प्रभारी होता है। महामात्य की तुलना अमेरिका के उपराष्ट्रपति (Vice-President) से की जा सकती है।[103]

3. दूत – यह सन्धिविग्रहिक मन्त्री (विदेशमन्त्री) नामक एक विशेष सचिव के अधीन होता है जो विदेशनीति को संचालित करता है। दूत की तुलना वर्तमान राजदूत (Ambassador) से की जा सकती है।[104]

4. अध्यक्ष – राज्य के विविध विभागों के प्रमुखों के रूप में पृथक्–पृथक् अध्यक्षों की नियुक्ति की जाती है।[105]

5. गृहसचिव – यह राजा का सर्वाधिक विश्वासपात्र तथा एक प्रमुख सचिव होता है। यह ग्राम से लेकर केन्द्र तक की शासन–व्यवस्था देखता है।[106] इसके नीचे कार्य करने वाले अधिकारी इस प्रकार हैं –

सहस्रेश – हजार ग्रामों का प्रशासन देखने वाला। इसके नीचे शतेश होते हैं।

शतेश – सौ ग्रामों का प्रशासन देखने वाला। इसके नीचे विंशतीश होते हैं।

विंशतीश – बीस ग्रामों का प्रशासन देखने वाला। इसके नीचे दशेश होते हैं।

दशेश – दस ग्रामों का प्रशासन देखने वाला। इसके नीचे ग्रामेश होते हैं।

ग्रामेश – एक ग्राम का प्रशासन देखने वाला।

6. सेनापति – मनु ने थल, जल तथा वायु तीनों मार्गों की पृथक्–पृथक् सेनाओं का वर्णन

---

102. सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ। प्राड्विवाकोऽनुयुंजीत विधिना तेन सान्त्वयन्।।
मनु. 7–60

103. अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया। मनु. 7–65
अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्गतम्। स्थापयेदासने तस्मिन्खिन्नः कार्येक्षणे नृणाम्।।
मनु. 7–141

104. अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान्देशकालवित्। वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते।। मनु. 7–64

105. अध्यक्षान्विविधान्कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चितः। तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन्नृणां कार्याणि कुर्वताम्।। मनु. 7–81

106. ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा। विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च।।
तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्कार्याणि चैव हि। राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः।।
मनु. 7–115,120

किया है।[107] तीनों सेनाओं के पृथक्–पृथक् सेनापति होते हैं। राजा स्वयं प्रधान सेनापति होता है।[108]

उपर्युक्त सभी राजभृत्यों के नीचे कार्य करने वाले अन्य अनेक राजभृत्य होते हैं और वे सभी क्षत्रिय ही होते हैं।[109]

मनु ने प्रत्येक नगर में ऊँचे स्थान पर एक विशाल मुख्यालय बनाने का निर्देश दिया है जिसमें सभी विभागों के कार्यालय हों।[110]

मनु ने सशस्त्र सैनिकों के दल को **गुल्म** की संज्ञा दी है तथा इसके **स्थावर** व **जंगम** नामक दो प्रकार बताये हैं। **स्थावर गुल्म** के सैनिक चौकी में रहते हैं तथा **जंगम गुल्म** के सैनिक गश्त लगाते हैं। ये गुल्म विविध प्रकार के होते हैं। वर्तमान व्यवस्था में भी पुलिस, अर्धसैनिक बल, सीमा सुरक्षा बल तथा तीनों सेनाओं में वैविध्य होता है। मनु ने गुल्मों के अतिरिक्त **चारों** अर्थात् गुप्तचरों का भी वर्णन किया है। इनकी तुलना सी.बी.आई. (Central Bureau of Investigation), सी.आई.डी. (Criminal Investigation Department) आदि के कर्मचारियों से की जा सकती है।[111]

इस प्रकार अनेकविध क्षत्रिय होते हैं। राजकार्यों में क्षत्रियेतर वर्णों के लिए भी स्थान होता है। कभी–कभी सचिव, अमात्य, राजदूत तथा अध्यक्ष के पदों पर ब्राह्मणों को भी नियुक्त किया जा सकता है।

वैश्य वर्ण के विविध रूप

1. पाल – ये अपने और दूसरों के पशुओं का पालन करते हैं।[112]

पशुपालन के अतिरिक्त अन्य सभी वैश्यवर्णगत कर्म **वार्ता** कहलाते हैं।[113]

2. कृषक – ये कृषिकार्य करते हैं।

---

107. संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम्। साम्परायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः।।
सेनापतिर्बलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत्। यतश्च भयमाशंकेत्प्राचीं च कल्पयेद्दिशम्।।
मनु. 7–185,189

108. सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च। सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति।। मनु. 12–100

109. तेषामर्थे नियुंजीत शूरान्दक्षान्कुलोद्गतान्। शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने।। मनु. 7–62

110. नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम्। उच्चैः स्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम्।। मनु. 7–121

111. एवंविधान्नृपो देशान्गुल्मैः स्थावरजंगमैः। तस्करप्रतिषेधार्थं चारैश्चाप्यनुचारयेत्।। मनु. 9–266

112. पशुषु स्वामीनां चैव पालानां च व्यतिक्रमे। विवादं सम्प्रवक्ष्यामि यथावद्धर्मतत्त्वतः।। मनु. 8–229

113. वैश्यस्तु कृतसंस्कारः कृत्वा दारपरिग्रहम्। वार्तायां नित्ययुक्तः स्यात्पशूनां चैव रक्षणे।। मनु. 9–326

3. **वणिक्** – ये विविध व्यापार करते हैं।

4. **उत्तमर्ण** – ये ब्याज पर ऋण देते हैं।[114] पूर्वोक्त तीनों वैश्य स्वकार्यों के साथ–साथ यह कार्य भी करते हैं। ऋण लेने वाला **अधमर्ण** कहलाता है।

इस प्रकार भौतिक पदार्थों के उत्पादन अथवा वृद्धि द्वारा जीवन चलाने वाले सभी धनार्थी वैश्य ही होते हैं।

शूद्र वर्ण के विविध रूप

"शूद्र" शब्द का अर्थ है – शोचनीय (बेचारा) अथवा जुगुप्सित (रक्षणीय)। जो अपनी शोचनीय स्थिति के कारण तीनों उच्च वर्णों द्वारा रक्षणीय होता है, वह शूद्र कहलाता है। शूद्र का केवल एक कार्य होता है कि वह अपने स्वामी की सेवा करे और सदा उसकी आज्ञा का पालन करे।[115] स्वामी का जो व्यवसाय होता है उसी में शूद्र उसकी सहायता करता है। इस प्रकार स्वामियों के कार्यों में वैविध्य होने से शूद्रों के कार्यों में भी वैविध्य आ जाता है। स्वामी के व्यवसायगत कार्य को श्रद्धापूर्वक करते–करते वह भी उसमें दक्ष हो सकता है। तब वह स्वतन्त्रतापूर्वक उस व्यवसाय को कर सकता है और इस प्रकार वह भी वैश्यादि उच्च वर्णों को प्राप्त कर सकता है।[116]

अस्तु, क्षौरकर्म एवं तैलमर्दन जैसे कुछ कार्य अब शूद्रता की परिधि से निकलकर वैश्यता की परिधि में आ चुके हैं। महानगरों में बड़े–बड़े सैलूनों द्वारा अच्छी–खासी आय की जाती हैं। कपड़े धोने और इस्तरी करने का कार्य भी इसी कोटि का है। इस प्रकार इन कार्यों की प्रकृति **सेवा** होने पर भी अपने **वाणिज्यिक** दृष्टिकोण के कारण ये कर्म वैश्यता की कोटि में आ गये हैं।

इस प्रकार **कार्य की प्रकृति** तथा **कर्ता की योग्यता व दृष्टिकोण** के आधार पर चारों वर्णों के विविध रूप पाये जाते हैं।

।। इति द्वितीयाध्यायान्तर्गतं चतुर्दशप्रकरणम् ।।

---

114. अधमर्णार्थसिद्ध्यर्थमुत्तमर्णेन चोदितः। दापयेद्धनिकस्यार्थमधमर्णाद्विभावितम् ।। मनु. 8–47

115. एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्। एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया।। मनु. 1–91

116. शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनहंकृतः। ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते।। मनु. 9–335

मनु के अनुसार मौलिक वर्णों का परिवर्तन असम्भव

इस जगत् में उन सब वस्तुओं का, जो मानव निर्मित नहीं हैं, एक विशेष प्रयोजन है। वे सभी किसी बड़ी योजना का एक अंग हैं। जैसे एक अति विशाल यन्त्र में विद्यमान छोटे–छोटे पेंचों और कीलों का भी महत्त्व होता है उसी प्रकार इस जगत् में विद्यमान छोटी–बड़ी सभी अकृत्रिम वस्तुएं महत्त्वपूर्ण और सप्रयोजन हैं। इसी प्रकार पृथ्वी पर मानव का अस्तित्व एक वृहत् योजना का एक भाग है। मानव समाज का सुख और विकास उस योजना के अनुसार चलने पर ही निर्भर है। उस योजना के अनुसार मानव चार वर्णों में विभक्त हैं।[117] कोई मनुष्य चाहे अथवा न चाहे वह चारों में से किसी एक वर्ण का अवश्य होता है। इतना ही नहीं, उस योजना के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों को जीवन के प्रारम्भिक काल में ब्रह्मचारी होना अनिवार्य है। इसी कारण इन्हें द्विज कहा जाता है। वस्तुतः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जन्म के समय क्रमशः ब्रह्मबन्धु, क्षत्रबन्धु तथा वैश्यबन्धु होते हैं। ब्रह्मचर्य के पालन द्वारा ही ये क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य बनते हैं। ब्रह्मबन्धु, क्षत्रबन्धु तथा वैश्यबन्ध, उस स्थिति का नाम है जब इनमें शूद्रता की धारा स्ववर्ण की धारा से अधिक प्रबल होती है। इसी कारण यह भी कहा गया कि जन्म के समय तो व्यक्ति शूद्र ही होता है, उपनयनादि संस्कारों के द्वारा वह द्विज बनता है।[118] अतः सोमकाल की समाप्ति के पूर्व ही उपनयन हो जाना अनिवार्य है। यदि ये ब्रह्मबन्धु, क्षत्रबन्धु तथा वैश्यबन्धु द्विज होने हेतु उपनयन न कराएं तो एक निश्चित काल के पश्चात् वे **व्रात्य** हो जाते हैं।[119] ये व्रात्य प्रायः द्विज बनने की क्षमता खो बैठते हैं। किन्तु यदि कोई सचमुच व्रात्यता को निकृष्ट दशा मानता है और द्विजता को प्राप्त करना चाहता है तो उसे एक अवसर दिया जा सकता है।[120]

अस्तु, मनुष्य यदि स्वाभाविक जीवन जिए तो वह चारों में से किसी एक वर्ण वाला अवश्य होगा। पृथ्वी पर ऐसा कोई राष्ट्र नहीं जहाँ चारों वर्णों का दर्शन न किया जा सके। यह एक पृथक् विषय है कि कहीं पर चारों वर्ण सुस्पष्ट और व्यवस्थित होते हैं और कहीं पर वे अस्पष्ट और अस्त–व्यस्त होते

---

117. लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः। ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्। मनु. 1–31

118. जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते।

119. आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते। आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः।।
अत ऊर्ध्वं त्रयोप्येते यथाकालमसंस्कृताः। सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः।।
मनु. 2–38,39

120. येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधि। तांश्चारयित्वा त्रीन्कृच्छ्रान्यथाविध्युपनाययेत्।।
मनु. 11–191

हैं। इतना ही नहीं, यदि कोई मनुष्य चारों वर्णगत वृत्तियों से पृथक् किसी वृत्ति द्वारा उदरपूर्ति करेगा तो वह वृत्ति अवश्यमेव समाज, राष्ट्र व मानवता के लिए अहितकारी होगी। चोरी, छीना–झपटी आदि ऐसी ही वृत्तियाँ हैं। ये किसी भी वर्ण के अन्तर्गत नहीं हैं। ऐसी वृत्तियों वाले **दस्यु** कहलाते हैं।[121] यदि राजा इन दस्युयों को दण्डित कर उनका नियमन न करे तो उसे महान् पाप का भागी बनना पड़ता है।[122]

इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीनों द्विज वर्ण हैं तथा शूद्र एकज वर्ण है। इन चार वर्णों से अतिरिक्त कोई पाँचवाँ वर्ण नहीं है। इन वर्णों की वृत्तियों से पृथक् वृत्ति वाले सभी लोग दस्यु हैं। अतः जो लोग वर्णरहित समाज की कल्पना करते हैं, वे स्वप्नलोक में विचरण कर रहे हैं। ये भ्रान्त जन यह नहीं समझते कि मानव सृष्टि का केन्द्र नहीं है अपितु सृष्टियन्त्र का एक भागमात्र है और इस सृष्टियन्त्र में अपनी निश्चित भूमिका न निभाकर पर वह स्वयं को और इस सृष्टि को भी खतरे में डाल देगा।

इस प्रकार मनु के अनुसार चार मौलिक वर्णों को न तो परिवर्तित किया जा सकता है, न ही हटाया जा सकता है और न ही कोई नवीन वर्ण बनाया जा सकता है।

।। इति द्वितीयाध्यायान्तर्गतं पंचदशप्रकरणम्।।

मनु के अनुसार वर्णाधिकारों की सीमा

इस संसार में मनीषियों ने सभी मनुष्यों के कुछ मूलभूत अधिकार बताये हैं। कुछ मनुष्यों के पास मूलभूत अधिकारों से **अतिरिक्त** अधिकार भी होते हैं। अधिकार चाहे **मूलभूत** हों अथवा **अतिरिक्त**, वे असीमित नहीं हो सकते। तो फिर, उनकी सीमा कैसे निश्चित की जाय ?

मनीषियों के अनुसार **आदर्श, कर्तव्य** तथा **दण्ड** मनुष्य के अधिकारों की सीमा होते हैं। यदि मनुष्य की तुलना तुला से की जाये तो उसके एक पलड़े पर अधिकार तथा दूसरे पलड़े पर आदर्श, कर्तव्य तथा दण्ड होते हैं। इस प्रकार अधिकारों की वृद्धि के अनुपात में ही आदर्शों, कर्तव्यों तथा दण्डों में भी वृद्धि होती है और इसी में सामाजिक शान्ति और सुरक्षा निहित है। उदाहरणार्थ, वर्तमान व्यवस्था में सभी को कर देना पड़ता है किन्तु मनु के अनुसार ब्राह्मण व क्षत्रिय से कर नहीं लिया जा सकता।

---

121. ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः। चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रः नास्ति तु पंचमः।।
मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः। म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः।।
मनु. 10–4,45

122. विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद् ध्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः। संपश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति।।
मनु. 7–143

इनसे कर लेना इनके वर्णगत अधिकारों का हनन है। अब, ऊपर से तो यही प्रतीत होता है कि ब्राह्मण व क्षत्रिय को यह अधिकार देना तो पक्षपात है किन्तु इसमें कोई पक्षपात नहीं है क्योंकि उत्पादनकार्य न करना ब्राह्मण व क्षत्रिय वर्ण का आदर्श है। ब्राह्मण अपने शिष्यों से उनके अध्ययनकाल में कुछ भी नहीं ले सकता। समावर्तन हेतु गुरु की अनुमति मिलने पर शिष्य अपनी इच्छानुसार जो चाहे वही गुरुदक्षिणा दे सकता है।[123] क्षत्रिय भी राजा द्वारा दिये गये आवास और वेतन पर ही निर्भर होते हैं।[124] इस प्रकार ऐसे परोपकारी और धनोपार्जन से रहित ब्राह्मण व क्षत्रिय से कर न लेना उचित ही है। इतना ही नहीं, ब्राह्मण व क्षत्रिय यदि किसी को ऋण दें तो वे उससे ब्याज नहीं ले सकते अर्थात् उन्हें मूलधन ही पुनः प्राप्त होता है न कि मिश्रधन।*** मुस्लिम जनों में भी ब्याज को **हराम** माना जाता है। हराम का तात्पर्य है – निकृष्ट या अपवित्र।

यदि ब्राह्मण व क्षत्रिय कृष्यादि व्यापार करें तो राजा उनसे भी करग्रहण करे।

मनु के अनुसार क्षत्रियों को अपराधियों को दण्डित करने का अधिकार है किन्तु अपराध का दण्ड कितना और कहाँ दिया जाये यह निश्चित करना उनका अधिकार नहीं है। यह कार्य **ब्रह्मसभा** के पास है जिसके सभी सभासद ब्राह्मण होते हैं। इसी प्रकार **धर्म** (कानून) बनाने का अधिकार केवल **धर्मपरिषद्** को है जिसके सभी सदस्य ब्राह्मण ही होते हैं। इस प्रकार ब्राह्मण व क्षत्रिय में अधिकारों का वितरण किया गया है। किसी को भी एकाधिकार प्राप्त नहीं है।

मनु के अनुसार ब्राह्मणों व क्षत्रियों की ही भाँति शूद्र को भी कर न देने का अधिकार है किन्तु बदले में उसे मतदान का अधिकार नहीं है। बहुत से लोगों को यह भ्रम है कि मतदान द्वारा राजा के वरण की व्यवस्था भारतीय नहीं है और भारत में यह यूरोप से आयी है। किन्तु सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय कहता है कि प्राचीनकाल में प्रजा द्वारा ही राजा का वरण किया गया था और बहुत दिनों तक यह परम्परा चलती रही। इसके कुछ अवशेष वज्जि तथा मल्ल आदि प्राचीन भारतीय गणराज्यों की व्यवस्था में भी देखने को मिलते हैं। आजकल लोकतन्त्रीय व्यवस्था में **वयस्क मताधिकार** का विधान है किन्तु मनु की

---

123. न पूर्वं गुरवे किंचिदुपकुर्वीत् धर्मवित्। स्नास्यंस्तु गुरुणाऽऽज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत्।।

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम्। धान्यं वासांसि वा शाकं गुरवे प्रीतिमावहेत्।

मनु. 2–245,246

124. राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च। प्रत्यहं कल्पयेद् वृत्तिं स्थानं कर्मानुरूपतः।।

मनु. 7–125

***ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वृद्धिं नैव प्रयोजयेत्। मनु. 10–117

लोकतन्त्रीय व्यवस्था में केवल **स्नातक मताधिकार** का विधान है। स्नातक वे कहलाते हैं जिन्होंने एक निश्चित आयु एवं अवधि तक ब्रह्मचर्यपूर्वक अध्ययन व अध्यापन किया हो। यही वह कर्तव्य है जिसके बदले में उन्हें मताधिकार प्राप्त होता है। स्नातक व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य ही होता है, न कि शूद्र। मनु ने शूद्र को भी मताधिकारी माना है किन्तु 90 वर्ष की आयु पूर्ण कर लेने पर ही। वस्तुतः **स्नातक मताधिकार** का विधान **वयस्क मताधिकार** की तुलना में अधिक मनोवैज्ञानिक और न्यायसंगत है।

मनु के अनुसार शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण उत्तरोत्तर अधिक सम्माननीय हैं। किन्तु इस बात का समन्वय मनु की दण्ड–व्यवस्था में भली–भाँति देखा जा सकता है। मनु कहते हैं – ''यदि किसी चोरी आदि कृत्य के लिए शूद्र को आठ मुद्राओं अथवा आठ कोड़ों का दण्ड हो तो उसी कार्य के लिए वैश्य को सोलह, क्षत्रिय को बत्तीस तथा ब्राह्मण को उसके ज्ञान व प्रतिष्ठा के अनुसार चौंसठ अथवा सौ अथवा चौंसठ से दोगुनी (एक सौ अट्ठाइस) मुद्राओं अथवा कोड़ों का दण्ड होना चाहिए।''[125] अर्थात् जो जितना अधिक ज्ञानी व प्रतिष्ठित हो उसे उतना ही अधिक दण्ड मिलना चाहिए। इतना ही नहीं, राज्य के उच्चाधिकारी यदि कोई अपराध करें तो उन्हें और भी अधिक दण्ड हो और यदि स्वयं राजा कोई अपराध करे तो उसे सामान्य व्यक्ति की तुलना में हजार गुना दण्ड होना चाहिए।[126] मनु के अनुसार कोई भी अपराधी अदण्डनीय नहीं है भले ही वह राजा का पिता, आचार्य, मित्र, माता, पत्नी, पुत्र, पुरोहित अथवा स्वयं राजा ही क्यों न हो।[127]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनु ने वर्णाधिकारों को अनियमित और असीमित नहीं माना है अपितु आदर्श, कर्तव्य तथा दण्ड के द्वारा उन्हें सीमित व व्यवस्थित किया है। यदि कोई आदर्शों, कर्तव्यों और दण्डों में छूट चाहेगा तो उसके अधिकारों में भी कटौती कर दी जायेगी। इसी प्रकार यदि कोई अधिकारों में वृद्धि चाहेगा तो उसके आदर्शों, कर्तव्यों तथा दण्डों में भी वृद्धि कर दी जायेगी। मनु की व्यवस्था में

---

125. अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्विषम्। षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य च।।
ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वाऽपि शतं भवेत्। द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः।।
मनु. 8–337,338

126. कार्षापणं भवेद् दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः। तत्र राजा भवेद् दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा।।
मनु. 8–336

127.पिताऽऽचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः। नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति।।
मनु. 8–335

तो मतदान के लिए भी स्नातक होने की योग्यता अपेक्षित है तब अन्य अधिकारों की तो कथा ही क्या है ? वस्तुतः अधिकारों का इतना सुन्दर और न्यायसंगत वितरण और सीमांकन मनु के अतिरिक्त अन्यत्र दुर्लभ ही है।

।। इति द्वितीयाध्यायान्तर्गतं षोडशप्रकरणम्।।

मनु द्वारा वर्णानुसार सामाजिक दायित्व का स्पष्टीकरण

प्रत्येक सहज और स्वस्थ व्यक्ति अपने जीवन में चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष) की सिद्धि करना चाहता है। न्यूनातिन्यून द्विवर्ग (अर्थ व काम) की सिद्धि तो मानवमात्र की इच्छा है और इस हेतु वह समाज में ही रहता है। यदि कोई केवल द्विवर्ग की ही सिद्धि चाहता है तो उस अवस्था में भी उसे धर्म का पालन तो करना ही होगा क्योंकि जब मनुष्य परस्पर व्यवहार करते हैं तो उन्हें कुछ न कुछ सर्वमान्य नियम निश्चित करने ही पड़ते हैं। उदाहणार्थ, यदि अनेक मनुष्य मार्ग पर चल रहे हों तो यह आवश्यक है कि सभी लोग मार्ग के एक ओर चलने पर सहमत हों अन्यथा आमने–सामने से आते हुए लोग टकरा सकते हैं। भारत आदि देशों में मार्ग पर बायीं ओर चलने का नियम है जबकि अमेरिका आदि देशों में मार्ग पर दायीं ओर चलने का नियम है किन्तु किसी एक ओर चलने की बात सर्वत्र समान ही है। ऐसे ही सर्वमान्य नियमों को धर्म कहा जाता है। धर्म तीन प्रकार के होते हैं – शाश्वत धर्म, सापेक्ष धर्म तथा आपद्धर्म। शाश्वत धर्म देश, काल, व्यक्ति आदि से प्रभावित नहीं होते। ये सर्वदा व सर्वथा अपरिवर्तनीय होते हैं। प्रसिद्ध यूरोपीय दार्शनिक काण्ट ने बड़े ही सुन्दर ढंग से शाश्वत धर्म की परिभाषा दी है। वे कहते हैं कि अपने जिस कृत्य को आप सभी के द्वारा आचरणीय मानते हों, वह शाश्वत धर्म है। यथा, कोई झूठ बोलता है तो वह कदापि नहीं चाहेगा कि सभी झूठ बोलें। इस प्रकार झूठ बोलना अधर्म है और सत्य बोलना शाश्वत धर्म है। यद्यपि काण्ट धर्म के मूल तक नहीं जा सके तथापि उनकी परिभाषा पर्याप्त उपयोगी है।

यदि कोई अपनी माता, भगिनी अथवा पुत्री से मैथुन करे और इस कृत्य को सभी के द्वारा आचरणीय माने तो उसकी इस मान्यता के कारण माता आदि से मैथुन करना शाश्वत धर्म कैसे हो सकता है ? अतः धर्म के विषय में तो मनु का यह कथन ही मार्गदर्शक है कि "सम्पूर्ण वेद, वेदज्ञों की स्मृतियाँ तथा उनका स्वभाव, सज्जनों का आचरण तथा आत्मतुष्टि धर्म का मूल है।"[128]

---

128. वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च।। मनु. 2–6

सापेक्ष धर्म देश, काल और व्यक्ति पर निर्भर होते हैं। अतः देश काल और व्यक्ति के भेद से इनमें भी भेद हो जाता है। उदाहरणार्थ, जून मास की गर्मी में उत्तरप्रदेश में सूती वस्त्र पहनना सापेक्ष धर्म है किन्तु उसी समय नॉर्वे या स्वीडन देशों में सूती वस्त्र पहनना सापेक्ष धर्म नहीं होगा अपितु अधर्म होगा। वहाँ तो ऊनी वस्त्र पहनना ही सापेक्ष धर्म होगा। आपद्धर्म का अर्थ है – शाश्वत धर्म और सापेक्ष धर्म से विपरीत आचरण। उदाहरणार्थ, मांस न खाना शाश्वत धर्म है किन्तु जहाँ अनाज, फल, दुग्धादि कुछ भी प्राप्त न हो सके और क्षुधा के कारण मृत्यु सन्निकट हो तो वैसी दशा में मांसाहार कर लेना आपद्धर्म होगा। आपत्काल व्यतीत हो जाने पर मांसाहार का शास्त्रविहित प्रायश्चित्त कर लेना चाहिए और पुनः मांसाहार नहीं करना चाहिए।

अस्तु, एक बात तो सुनिश्चित है कि जब तक जीवन है तब तक धर्म का पालन करना ही होता है। अब, यह एक पृथक् विषय है कि धर्म का पालन भय, लोभ व विवशता से किया जाय अथवा कर्तव्य–भावना से। यदि कोई व्यक्ति दण्ड के भय अथवा पुरस्कार के लोभ अथवा विवशता के स्थान पर यह विचार कर धर्म का पालन कर रहा है कि उसे वैसा करना ही चाहिए तो ऐसी भावना को कर्तव्य–भावना कहते हैं। कर्तव्य–भावना वाला व्यक्ति अपने को समाज से पृथक् नहीं मानता अपितु वह तो सम्पूर्ण मानवता को एक परिवार तथा स्वयं को उस परिवार का एक सदस्य ही मानता है। ऐसी कर्तव्य–भावना वाला व्यक्ति स्वार्थी नहीं रह सकता।[129] वह तो यही चाहेगा कि मैं अपने परिवार के लिए कुछ कर सकूँ। किन्तु वह इस मानवतारूपी परिवार की सारी आवश्यकताएं पूरी नहीं कर सकता और यहीं पर वर्ण–व्यवस्था की उपयोगिता है। मानवता की आवश्यकताएं अनेकांगी तथा असीमित हैं जबकि व्यक्ति की योग्यता तथा क्षमता एकांगी तथा सीमित है। अतः वह अपनी योग्यता व क्षमता का उपयोग एक निश्चित क्षेत्र में और एक निश्चित सीमा तक ही कर सकता है। यदि कोई व्यक्ति कर्तव्य–भावनापूर्वक अपनी योग्यता व क्षमता का उपयोग समाज के केवल एक निश्चित क्षेत्र में ही करता है तब भी यही कहा जायेगा कि उस व्यक्ति का जीवन सार्थक है। यदि ब्राह्मण कर्तव्य–भावना से अध्यापन करें, क्षत्रिय कर्तव्य–भावना से रक्षा करें, वैश्य कर्तव्य–भावना से सबकी भौतिक आवश्यकताएं पूरी करें और शूद्र कर्तव्य–भावना से तीनों पूर्ववर्णों की सेवा करें तो सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों की बजाय एक सीमित क्षेत्र में कार्य करने पर भी उनका जीवन सफल और सार्थक है। मनु ने वर्णानुसार कर्मविभाजन कर सभी को उनके उत्तरदायित्व का बोध करा दिया है। सभी के द्वारा अपने–अपने उत्तरदायित्व का निर्वहन करने पर सभी की आवश्यकताएं स्वयमेव पूरी हो जायेंगी। अपने उत्तरदायित्व का निर्वहन कर जहाँ वे अपने

129. अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्। उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।

अपने त्रिवर्ग को सिद्ध कर सकते हैं, वहीं वे अपने अपवर्ग (मोक्ष) को भी सिद्ध कर सकते हैं।

।। इति द्वितीयाध्यायान्तर्गतं सप्तदशप्रकरणम् ।।

मनु के अनुसार स्ववर्ण की पूर्णता ही मुक्ति का सरलतम उपाय

हम पूर्वप्रकरण में कह चुके हैं कि जीवमात्र में विद्यमान होने से अर्थ व काम की पुरुषार्थता तो स्वाभाविक ही है किन्तु मानवों के पारस्परिक व्यवहार हेतु अपरिहार्य होने से धर्म (स्ववर्णगत कर्म) की भी पुरुषार्थता है। इस प्रकार धर्म एक अतिरिक्त बाध्यता की भाँति प्रतीत होता है और फिर किसी–किसी व्यक्ति में ''अहंता–ममता से उत्पन्न पीडा'' इतनी सघन और तीव्र हो जाती है कि वह इसे और अधिक सहन नहीं कर सकता। तब वह या तो इस अहंता–ममता से मुक्ति चाहता है अथवा अहंता–ममता के बोध से। अब, अहंता–ममता से मुक्ति का उपाय तो अतिकठिन है, अतः व्यक्ति प्रायः अहंता–ममता के बोध से मुक्ति का प्रयास करने लगता है। इस हेतु अर्थ व काम उसकी बड़ी सहायता करते हैं। यदि किसी व्यक्ति की सारी दिनचर्या और जीवनचर्या केवल अर्थ व काम पर ही केन्द्रित हो तो उसमें ''अहंता–ममता का बोध'' जाग्रत ही नहीं होगा। वस्तुतः ''अहंता–ममता से मुक्ति'' हेतु सर्वप्रथम अहंता–ममता का बोध होना आवश्यक है और यह बोध तभी उत्पन्न हो सकता है जब व्यक्ति के पास उत्कृष्ट वैचारिक क्षमता तथा अतिरिक्त समय हो। एतदर्थ व्यक्ति को अर्थ व काम की चिन्ता से रहित होना भी आवश्यक है क्योंकि अर्थ व काम की व्यवस्था में फँसा व्यक्ति न तो उत्कृष्ट वैचारिक क्षमता का विकास कर पाता है और न ही उसके पास अतिरिक्त समय होता है। इसी कारण विद्यार्थी जीवन का महत्त्व है क्योंकि इसमें अर्थ की चिन्ता माता–पिता करते हैं तथा अविवाहित होने के कारण काम की चिन्ता नहीं रहती। इस प्रकार विद्यार्थी जीवन में व्यक्ति अर्थ व काम की चिन्ता से रहित होता है। फलतः वह उत्कृष्ट वैचारिक शक्ति का विकास कर सकता है और उसके पास अतिरिक्त समय भी होता है। इन दोनों का उपयोग वह अहंता–ममता से मुक्ति के उपाय में कर सकता है। यह उपाय धर्म से कई गुना कठिन है। अतः जो लोग अहंता–ममता से मुक्ति चाहते हैं उनके लिए धर्म अहंता–ममता से मुक्ति के उपाय की तैयारी के समान होता है। यदि यह तैयारी (अर्थात धर्मपालन) तीव्रता से की जाय तो यह स्वयमेव अहंता–ममता से मुक्ति का उपाय बन जाती है तथा किसी विशेष उपाय की आवश्यकता नहीं रहती। यह विशेष उपाय परोपकार अथवा समाजसेवा है। इस प्रकार अहंता–ममता के बोध से मुक्ति चाहने वाले के लिए ही धर्मपालन एक अतिरिक्त बाध्यता हो सकती है। ऐसा व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा अर्थ व काम पर केन्द्रित कर देता है और अश्रद्धा से (ऊपरी मन से) धर्मपालन करता रहता है। किन्तु

जो व्यक्ति "अहंता–ममता के के बोध" को वरदान मानकर अहंता–ममता से मुक्ति के उपाय की खोज में लग जाते हैं वे भी कभी–कभी धर्म (स्ववर्णगत कर्म) को इस उपाय की खोज में बाधक मान बैठते हैं क्योंकि उनको प्रतीत होता है कि धर्मपालन के कारण उनके पास अतिरिक्त समय का अभाव हो रहा है। जो लोग धर्मपालन छोड़ कर अहंता–ममता से मुक्ति का उपाय खोजते हैं वे जब वह उपाय पा जाते हैं तब उन्हें भी इस बात का बोध हो ही जाता है कि धर्मपालन अहंता–ममता से मुक्ति में बाधक नहीं है। इस समस्या से बचने का केवल एक ही उपाय है कि विद्यार्थी जीवन में ही अहंता–ममता से मुक्ति के उपाय को जाना जा सके।

अस्तु, पूर्वप्रकरण में हम चर्चा कर चुके हैं कि धर्मपालन के दो दृष्टिकोण हैं – एक, विवशता का और दूसरा, कर्तव्य–भावना का। अब हम देखते हैं कि धर्मपालन का एक तीसरा दृष्टिकोण भी है और वह है – अहंता–ममता से मुक्ति के उपाय का। अतः केवल कर्तव्य–भावना से ही धर्मपालन करता हुआ व्यक्ति अनजाने ही अहंता–ममता से मुक्ति की क्षमता भी अर्जित करता है। मनु स्पष्टतया कहते हैं – "स्नातक द्विज अपने वेदोक्त कर्म को आलस्यरहित होकर नित्य किया करे। उसको अपनी सामर्थ्य के अनुसार करता हुआ व्यक्ति परमगति अर्थात् मुक्ति को प्राप्त करता है।"[130] इस प्रकार मनु के अनुसार स्ववर्ण की पूर्णता ही मुक्ति का सरलतम उपाय है।

।। इति द्वितीयाध्यायान्तर्गतं अष्टादशप्रकरणम् ।।

मनु के अनुसार सब में आत्मभाव ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य

आखिर मनुष्य पाप अथवा अधर्म क्यों करता है? ऋषियों ने इसके दो पक्ष बताये हैं –

1. अज्ञान (Ignorence)

2. दुर्बलता (Weakness)

पाप वह खोटा सिक्का है जिसका एक पक्ष अज्ञान है तथा दूसरा पक्ष दुर्बलता है। प्रायः लोगों को पता ही नहीं होता है कि धर्म क्या है तथा अधर्म क्या है ? ऐसे में उनके द्वारा किया गया कृत्य धर्म अथवा अधर्म कुछ भी हो सकता है। यदि उन्हें पता भी चल जाये कि क्या धर्म है तथा क्या अधर्म है तब भी वे दुर्बलतावश अधर्म कर बैठते हैं। इस दुर्बलता में भी तीन रूप हैं –

(क) चैतन्य का अभाव (Lack of Consciousness)

---

130. वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः। तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्।।

मनु. 4–14

(ख) संकल्प का अभाव (Lack of Will)

(ग) ऐक्य का अभाव (Lack of Unity)

चैतन्य के विषय में ऑस्पेंस्की महोदय कहते हैं कि मनुष्य अपनी तथाकथित जाग्रत अवस्था में भी वस्तुतः सोया हुआ ही है और वास्तविक जागृति तभी होती है जब वह स्वयं के प्रति जागरूक होता है अर्थात् स्वचैतन्य (Self-cousiousness) की अवस्था ही वास्तविक जागृति है। व्यक्ति उठना, बैठना, चलना, खाना, पीना, व्यवसाय, प्रेम, घृणा, युद्ध, शान्ति–सम्मेलन इत्यादि सभी कार्यों को स्वयं के प्रति जागरूक हुए बिना भी कर सकता है और कर ही रहा है। इस सोयी हुई अवस्था में भला वह धर्म अथवा अधर्म कैसे कर सकता है ? वस्तुतः ऐसा कहना चाहिए कि कभी उसके द्वारा धर्म हो जाता है और कभी उसके द्वारा अधर्म हो जाता है। धर्म करने के लिए उसे सबसे पहले जागना होगा और जागने के लिए उसे यह स्वीकार करना होगा कि वह सो रहा है। वस्तुतः मनुष्य परिस्थितियों में परिवर्तन होने पर क्षणमात्र को जागता है और पुनः और भी गहरी नींद में सो जाता है।

मनुष्य को यह भ्रम है कि उसके पास संकल्प (Will) है और वह अपने जीवन की योजना बना सकता है। वस्तुतः मनुष्य के पास संकल्प जैसी कोई वस्तु है ही नहीं। अतः वह अपने जीवन की कोई योजना नहीं बना सकता। उसके जीवन की सारी घटनाएं स्वयमेव घटित हो रहीं हैं किन्तु वह यह धारणा छोड़ना नहीं चाहता कि "वह संकल्पवान् है"। अपने पूरे जीवन में वह देखता है कि घटनाएं स्वयमेव घटित हो रही हैं किन्तु फिर भी वह उन्हें आकस्मिक ही मानता है और सोचता है कि यदि वह चाहता तो उन्हें परिवर्तित कर सकता था। अपने इस भ्रम से मुक्त होने के लिए उसे अपने जीवन के उस समय पर दृष्टिपात करना होगा जब उसने किसी कार्य को करने का प्रयास किया और असफल रहा, तो यह एक उदाहरण होगा, क्योंकि तब उसे पता चलेगा कि उक्त कार्य में असफल होने पर उसने इसे एक आकस्मिक घटना अथवा अपवाद ही माना था। यदि ठीक वही स्थिति पुनः उत्पन्न हो तो वह पुनः यही सोचेगा कि वह उक्त कार्य कर सकता है और यदि वह पुनः असफल हो जाये तो वह पुनः इसे एक आकस्मिक घटना ही मानेगा। इस दृष्टिकोण के आधार पर अपने सम्पूर्ण जीवन का अध्ययन करना अतिउपयोगी है। मनुष्य करना कुछ और चाहता था और हुआ कुछ और ही। यदि मनुष्य पर्याप्तरूपेण गम्भीर हो तो उसे इस तथ्य का बोध हो सकता है किन्तु यदि वह गम्भीर नहीं है तो वह बहाना करेगा कि जो हुआ वही उसने चाहा था। जब घटनाएं एक विशेष रीति से घटित होती हैं तो मनुष्य उनके प्रवाह द्वारा बहा ले जाया जाता है किन्तु वह सोचता है कि वह प्रवाह को चला रहा है। वस्तुतः मनुष्य आन्तरिक निर्णयों द्वारा नहीं अपितु बाह्य प्रभावों द्वारा संचालित होता है। जब आन्तरिक निर्णय बाह्य प्रभावों के

अनुरूप होता है तो मनुष्य सफल हो जाता है अन्यथा नहीं। इस प्रकार मनुष्य के पास कोई संकल्प अथवा कर्मसामर्थ्य नहीं है। किन्तु यह उत्पन्न हो सकता है और इस हेतु उसे उसकी आज्ञा के अनुसार चलना होगा जिसके पास यह संकल्प है। किन्तु यह आज्ञाकारिता वे ही स्वीकार करेंगे जो यह समझ चुके हैं कि उनके पास कोई संकल्प नहीं है और जब तक उनका अपना संकल्प विकसित नहीं होता तब तक उन्हें किसी ऐसे व्यक्ति की आज्ञा का अनुसरण करना ही होगा जो स्वयं संकल्पवान् है ताकि उनका जीवन अभीष्ट मार्ग से न भटके।

ऑस्पेंस्की महोदय ने मनुष्य के अन्तर्जगत् की तुलना सेवकों से भरे एक घर से की है जिसकी देखरेख करने के लिए कोई **स्वामी** अथवा **प्रबन्धक** नहीं है। अतः सेवकों को जो अच्छा लगता है वे वही करते हैं, कोई भी अपना कार्य नहीं करता। सारा घर पूर्ण अराजकता की स्थिति में है क्योंकि सारे सेवक किसी अन्य का कार्य करने का प्रयास करते हैं जिसे करने में वे कतई समर्थ नहीं हैं। रसोइया अस्तबल में कार्य करता है, कोचवान रसोई में इत्यादि। सभी कार्यों के सुव्यवस्थित होने की केवल एक सम्भावना है कि एक निश्चित संख्या में कुछ सेवक उनमें से किसी एक को **उपप्रबन्धक** के रूप में चुन लें और इस प्रकार वह चयनित उपप्रबन्धक अन्य सेवकों को नियन्त्रित करे। वह केवल एक कार्य कर सकता है – वह प्रत्येक सेवक को उस कार्य में लगाता है जो उससे सम्बन्धित है और इसलिए वे अपना उचित कार्य करना प्रारम्भ करते हैं। जब यह कार्य पूर्ण हो जाता है तो यह सम्भावना है कि **वास्तविक प्रबन्धक** आये और **स्वामी** के लिए घर को तैयार करे। भले ही मनुष्य यह नहीं जानता कि वास्तविक प्रबन्धक का क्या अर्थ है और स्वामी का क्या अर्थ है किन्तु वह इतना तो समझ ही सकता है कि सेवकों से भरा घर और उपप्रबन्धक के चयन की सम्भावना उसकी आन्तरिक स्थिति को वर्णित करती है। यह रूपक एक **"स्थायी अहम्"** के निर्माण की सम्भावना के आरम्भ को समझने में हमारी सहायता करता है। मनुष्य के अध्यात्मसम्बन्धी समस्त विचारों और भावों का समूह ही उपप्रबन्धक के रूप में चयनित हो सकता है।

इस प्रकार गुरु के मार्गदर्शन में अज्ञान तथा त्रिमुखी दुर्बलता से पूरी तरह संघर्ष करते हुए व्यक्ति में पार्थक्य–भाव का क्षय प्रारम्भ हो जाता है। वह लोगों को अधिक स्पष्टतया देखने लगता है और स्वयं को उनके साथ जुड़ा हुआ अनुभव करने लगता है। उसे दूसरे की हानि अपनी ही हानि प्रतीत होने लगती है। वस्तुतः उसके लिए कोई दूसरा रह ही नहीं जाता। ऐसी स्थिति में उसके लिए पाप अथवा अधर्म करना असम्भव हो जाता है क्योंकि अधर्म करने के लिए पार्थक्य–भाव का होना आवश्यक है। इस पार्थक्य–भाव के कारण ही वह अपने लाभ के लिए दूसरे की हानि करने को उद्यत हो जाता है। मनु

भी अपने अन्तिम कथन के रूप में कहते हैं – "इस प्रकार (अज्ञान तथा त्रिमुखी दुर्बलता से संघर्ष कर) जो मनुष्य स्वयं के द्वारा सभी प्राणियों में स्वयं को ही देखता है वह सर्वसमता (अर्थात् पार्थक्य–भाव की समाप्ति) को प्राप्त होकर ब्रह्म को प्राप्त करता है जो परमपद अर्थात् मोक्ष है।"[131] यही भाव वेद में भी प्रकट किया गया है। वेद कहता है – "जो मनुष्य स्वयं में ही सभी प्राणियों को तथा सभी प्राणियों में स्वयं को देखता है वह संशय अथवा अधर्म नहीं करता।"[132] वस्तुतः मनुष्य के हृदय पक्ष को इतना विकसित होना चाहिए कि वह सभी में आत्मभाव रखे और तब वह जो करेगा वह धर्मविरुद्ध नहीं होगा। मनु ने भी धर्म को "रागद्वेषरहित विद्वान् सज्जनों द्वारा सेवित और हृदय द्वारा जाना गया" कहा है।[133]

इस प्रकार सब में आत्मभाव को ही मनु जीवन का अन्तिम साध्य या लक्ष्य मानते हैं क्योंकि इसी से धर्म की पूर्णसिद्धि होती है जिसका फल मोक्ष है।

।। इति द्वितीयाध्यायान्तर्गतं एकोनविंशप्रकरणम्।।

मनु द्वारा संसार की चक्रवत्ता का कथन

आधुनिककालीन वैज्ञानिक उन्नति का आरम्भबिन्दु यूरोप है। जब यूरोप में विज्ञानियों ने अपने प्रयोगादि प्रारम्भ किये तो तत्कालीन पादरी वर्ग ने इन्हें "शैतानी क्रियाएं" कहा और विज्ञानियों के निष्कर्षों को नास्तिकता की संज्ञा दी। अनेकों विज्ञानिओं को चर्च द्वारा अथवा चर्च की प्रेरणा से शासकों द्वारा प्रताडित किया गया। यूरोप में एक विज्ञानी को जीवित ही मशीन में डालकर काट दिया गया क्योंकि उसने यह कहा था कि पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है न कि सूर्य पृथ्वी की। चूँकि चर्च की मान्यता और तथाकथित दिव्यज्ञान के अनुसार पृथ्वी ब्रह्माण्ड का केन्द्र है, अतः उस विज्ञानी को नास्तिक और धर्मविरोधी कहकर प्राणदण्ड दे दिया गया। इन सब प्रताडनाओ के बावजूद विज्ञानियों ने अपने प्रयोग बन्द नहीं किये और वे छिप–छिपकर प्रयोग और सम्मेलन करते रहे। इस प्रकार आधुनिक वैज्ञानिक उन्नति को अपने प्रारम्भिक काल से ही ईश्वरवाद से विद्रोह और संघर्ष करना पड़ा, फलतः विज्ञानियों में अनीश्वरवाद की धारणा दृढ से दृढतर होती चली गयी और उन्होंने जीवन की समस्त घटनाओं और प्रक्रियाओं को ईश्वर के अस्तित्व को नकारते हुए व्याख्यायित करने का प्रयास किया। द्रव्य (Matter)

---

131. एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना। स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्।।मनु. 12–125

132. यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति।।

यजुर्वेद 40–6

133. विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमरामद्वेषिभिः। हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत।। मनु. 2–1

में निहित गुणों के कारण वे ऐसा करने में प्रायः सफल ही रहे। उन्होंने कहा कि "द्रव्य में कुछ निश्चित गुण होते हैं जो स्थिर एवं अपरिवर्तनीय हैं, उनके द्वारा ही यह समस्त जीवन और जगत् संचालित होता है और इस हेतु किसी ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है। ईश्वर शब्द हमारे अज्ञान का प्रतीक है। हम जो नहीं जानते उसे ईश्वरकृत कहकर अपनी मनुस्तुष्टि कर लेते हैं। ईश्वरवाद अपने अज्ञान को छिपाने का एक उपायमात्र है। वस्तुतः ईश्वर की कोई सत्ता नहीं है।" यह पूछे जाने पर कि आखिर इस जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई तो वे इसका उत्तर यह देते हैं कि **अकस्मात्** द्रव्य में हलचल हुई और कुछ सरल संयोग बने और इन सरल संयोगों के द्वारा जटिल से जटिलतर रचनाएं हुईं और यह समस्त जगत् बन गया। यह पूछे जाने पर कि यदि जगदुत्पत्ति स्वयमेव हुई है तो इस जगत् में नक्षत्रों, सूर्यों, उपग्रहों आदि में इतनी बुद्धिमत्तापूर्ण व्यवस्था क्यों है ? विज्ञानी इस प्रश्न का यह उत्तर देते हैं कि यह सब द्रव्य के गुणों द्वारा स्वयमेव हो रहा है। जीवन की उत्पत्ति के विषय में पूछने पर वे कहते हैं कि द्रव्यों के संयोग होने पर ऐसे गुणों की उत्पत्ति होती है जो संयोजन से पूर्व द्रव्यों में पृथक्रूपेण नहीं पाये जाते। कुछ विशिष्ट गुणों के संयोग का नाम ही जीवन है। जब वह संयोग बिगड़ जाता है तो जीवन समाप्त हो जाता है।

इस प्रकार ये विज्ञानी ईश्वर को न मानने के अपने आग्रह के वशीभूत होकर यह भी भूल गये कि उन्होंने **अकस्मात्** और **स्वयमेव** जैसी बातों को मान लिया है और इस अकस्मात और स्वयमेव इत्यादि को वे अव्याख्येय ही मानते हैं। इस पर हम यह कहते है कि वे ईश्वर को ही अकस्मात्, स्वयमेव, प्रकृति आदि नवीन संज्ञाएं प्रदान कर रहे हैं और ईश्वर अव्याख्येय है ऐसा सभी शास्त्रों और ज्ञानियों का कथन है। वस्तुतः जगत् का भली–भाँति अवलोकन करने पर यह बात स्वयमेव स्पष्ट हो जाती है कि यह बुद्धिमत्तापूर्ण और सुनियोजित (Intelligent and well-planned) है। बुद्धिमत्ता और नियोजन ये दोनों किसी चेतन सत्ता की अपेक्षा करते हैं, उसी को शास्त्रों में ईश्वर कहा गया है। इस जगत् में दो प्रकार के नियम दिखाई देते हैं। प्रथम प्रकार के नियम स्वयमेव अस्तित्व रखते हैं तथा द्वितीय प्रकार के नियम नियन्त्रित हैं। द्वितीय प्रकार के नियम प्रथम प्रकार के नियमों पर आधारित ही होते हैं। प्रथम प्रकार के नियमों को शास्त्रों में **सत्य** कहा गया है तथा द्वितीय प्रकार के नियमों को **ऋत** कहा गया है। यथा, एक निश्चित त्रिज्या लेकर वृत्त खींचने पर उस वृत्त की परिधि उसकी त्रिज्या की 3.1416............... गुना होगी। यह नियम सत्य है और स्वयमेव अस्तित्व रखता है किन्तु एक हाथ में चार उँगलियाँ और एक अँगूठा होता है, यह सत्य नहीं अपितु ऋत है। समस्त ऋत ईश्वर के द्वारा संचालित होते हैं किन्तु ये सत्य को परिवर्तित नहीं कर सकते। इस प्रकार केवल सत्य के द्वारा ही जगत् का निर्माण नहीं हो सकता। द्रव्यों

के सत्य तथा ईश्वर के ऋत के मिलने से ही इस जगत् का निर्माण होता है। अब, यदि कोई यह पूछे कि इस जगत् के निर्माण से ईश्वर को क्या प्रयोजन है ? तो इसका उत्तर है कि जगत् के निर्माण का कोई प्रयोजन नहीं है। यह ईश्वर की एक लीला या क्रीडा है। जगत् के पदार्थ इस लीला की भूमि तथा उपकरण हैं, समस्त प्राणी इस लीला में खिलाड़ी (Players) हैं, ईश्वर निर्णायक (Referee) है तथा ऋत इस **लीला के नियम** (Rules of the game) हैं। कोई भी प्राणी ऋतों का उल्लंघन नहीं कर सकता। कुशलतापूर्वक खेलने पर सुख और प्रज्ञा की प्राप्ति होती है तथा अकुशलतापूर्वक खेलने पर दुःख और मोह की प्राप्ति होती है। ईश्वर इस लीला को एक निश्चित काल तक चलाता है जिसे **कल्प** या **सर्ग** कहते हैं। इस काल के बराबर ही **विकल्प** या **विसर्ग** होता है जिसमें लीला बन्द रहती है। इस लीला के नियमानुसार पुराने खिलाड़ियों का स्थान नये खिलाड़ी लेते रहते हैं। इस खेल में प्रत्येक खिलाड़ी, उपकरण तथा भूमि का एक निश्चित काल है। इस निश्चित काल के तीन पक्ष हैं – जन्म, वृद्धि तथा क्षय। जन्म के पश्चात् वृद्धि होती हैं। निश्चित सीमा तक वृद्धि होने के उपरान्त क्षय प्रारम्भ हो जाता है जो विनाश में जाकर पूर्ण हो जाता है। किसी भी द्रव्य का आत्यन्तिक विनाश नहीं हो सकता, केवल रूप–परिवर्तन ही हो सकता है। अतः विनाश केवल रूप का ही होता है, द्रव्य का नहीं। एक रूप के विनाश के पश्चात द्रव्य के दूसरे रूप का जन्म होता है और पुनः वृद्धि, क्षय आदि होता है। इस प्रकार जन्म के पश्चात् वृद्धि, वृद्धि के पश्चात् क्षय और विनाश तथा पुनः जन्म आदि की प्रक्रिया चक्रवत् चलती रहती है जब तक कि विकल्प या विसर्ग न हो जाये। जन्मवृद्धिक्षयरूपिणी यह चक्रवत् प्रक्रिया **संसरण** कहलाती है। इसी कारण जगत् अथवा ईश्वर की लीला को **संसार** भी कहते हैं। जब कोई मनुष्य इस रहस्य को अपने अनुभव, हृदय तथा बुद्धि तीनों से समझ लेता है तो वह कदापि अधर्म करना नहीं चाहता। वह समझ जाता है कि मेरा यह रूप भी नश्वर है तथा जिन पदार्थों के लिए मैं अधर्म में प्रवृत्त हो रहा हूँ वे भी नश्वर हैं किन्तु मेरा वास्तविक स्वरूप सदैव अनश्वर है तो फिर अधर्म करने का क्या अर्थ है ? और फिर यह संसार तो एक लीला है जिसमें अधर्म करने का अर्थ होगा – ऐसे ऋतों के अनुसार चलना जिनसे दुःख मिलता है। अतः धर्म करने का अर्थ है – सुखप्राप्ति के ऋतों का चयन।

मनु भी इस रहस्य को इस प्रकार व्यक्त करते हैं –

"यह परमात्मा पंचमहाभूतों से सभी प्राणियों को युक्त कर जन्म, वृद्धि तथा क्षय के द्वारा उनका नित्य (सर्वदा) चक्रवत् संसरण करता है।"[134] इस चक्रवत्ता को भली–भाँति जानने वाला व्यक्ति निरन्तर

---

134. एषः सर्वाणि भूतानि पंचभिर्व्याप्य मूर्तिभिः। जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत्।। मनु. 12–124

धर्म में प्रवृत्त होने का तथा अधर्म से निवृत्त होने का प्रयास करता रहता है।

।। इति द्वितीयाध्यायान्तर्गतं विंशप्रकरणम्।।

मनु एवं तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति

सभी प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में मनु को जलप्लावनकालीन कहा गया है। उस समय ज्ञान का, शास्त्रों का, यज्ञों का निरन्तर विस्तार हो रहा था। जनसंख्या अतिन्यून थी, अतः आहारादि की न्यूनता नहीं थी। फल, मेवे, दुग्धादि के द्वारा ही काम चल रहा था। जीवन का प्रधान लक्ष्य मोक्ष बना हुआ था। सभी जन स्वधर्म का पालन करते हुए एक–दूसरे की रक्षा करते थे, अतः किसी राज्य, राजा अथवा दण्ड व्यवस्था आदि की आवश्यकता नहीं थी।[135] यद्यपि लोगों के स्वभाव में भेद था किन्तु क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के कर्मों की आवश्यकता न होने से सभी जन एक प्रकार से ब्राह्मण ही थे। किन्तु जनसंख्या बढ़ने पर जब आहारादि में न्यूनता हो गयी तो अर्थ व काम की प्रधानता हो गयी। ऐसे में दुष्ट स्वभाव वालों की दुष्टता प्रकट होकर श्रेष्ठ जनों को पीडित करने लगी। तब आवश्यकता उत्पन्न हुई कि सभी श्रेष्ठ मनुष्य अनौपचारिकरूपेण ब्राह्मण ही बने रहें किन्तु समाज की रक्षा के लिए वे औपचारिकरूपेण उस वर्ण का वरण कर लें जो उनकी आन्तरिक प्रवृत्ति के अनुकूल हो। इस कारण वर्णों के पृथक् कर्मों का उल्लेख करते हुए मनु ने **अध्ययन, यज्ञ** और **दान** को तीनों द्विज वर्णों के सामान्य कर्म बताया। इसका तात्पर्य है कि अनौपचारिकरूपेण तीनों द्विज वर्ण ब्राह्मण ही हैं किन्तु औपचारिकरूपेण उनके पृथक् कर्म हैं। शूद्र तो अविकसित अवस्था का नाम है। विकसित होकर शूद्र भी द्विज हो जाता है।

इसी काल में भारतवर्ष में ऋषिगण हिमालय से उतरकर मैदानों में आये और उन्होंने मैदानों में ग्रामों और गुरुकुलों की स्थापना की। साधना एवं स्वास्थ्य की दृष्टि से मैदानी जीवन ऋषियों को प्रतिकूल प्रतीत हुआ, अतः वे ग्रामों और गुरुकुलों की स्थापना कर पुनः हिमालय लौट गये।[136]

---

135. न वै राज्यं न राजासीन्न दण्डो न च दाण्डिकः। धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्।।

महाभारत

136. ऋषयः खलु कदाचिच्छालीना यायावराश्च ग्राम्यौषध्यहाराः सन्तः साम्पन्निका मन्दचेष्टाश्च नातिकल्याणाः प्रायेण बभूवुः। ते सर्वासामितिकर्तव्यतानामसमर्थाः सन्तो ग्राम्यवासकृतमात्मदोषं मत्वा पूर्वनिवासमपगतग्राम्यदोषं शिवं पुण्यमुदारं मेध्यमगम्यसुकृतिभिर्गंगाप्रभवममरगन्धर्वकिन्नरानुचरितमनेकरत्ननिचयमचिन्त्याद्भुतप्रभावं ब्रह्मर्षि–सिद्धचारणानुचरितं दिव्यतीर्थौषधिप्रभवमतिशरण्यं हिमवन्तममराधिपाभिगुप्तं जग्मुर्भृग्वंगिरोऽत्रिवसिष्ठकश्यपागस्त्य–पुलस्त्यवामदेवासितगौतमप्रभृतयो महर्षयः, ...। चरक, चिकित्सास्थान 1–4–3

भारतीय ग्रन्थों में हिमालय पर्वत सदैव अतिपवित्र माना गया है।[137] ऐसा प्रतीत होता है कि देवों ने भारत में प्रविष्ट होने के पश्चात् भारतीय ऋषियों से अच्छा सम्बन्ध स्थापित कर लिया तथा सम्भवतः देवों ने ही **राजर्षि** मनु की कथा ऋषियों को बताई होगी। अस्तु, **ब्राह्म** मनु के समय में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था ने स्पष्ट आकार ग्रहण कर लिया था और सामाजिक परिस्थिति समरसतापूर्ण थी।

।। इति द्वितीयाध्यायान्तर्गतं एकविंशप्रकरणम्।।

मनु की दूरदर्शिता

द्वितीय अध्याय के द्वितीय प्रकरण "महर्षियों द्वारा मनु से वर्णोपदेश करने की प्रार्थना" में हम प्रदर्शित कर चुके हैं कि मनु उच्चज्ञानसम्पन्न थे तथा वेदों के अधिकृत मर्मज्ञ विद्वान् थे। इसी कारण महर्षियों ने उनसें वर्णोपदेश की प्रार्थना की थी। इस प्रार्थना के उत्तरस्वरूप मनु ने जो प्रवचन दिया उसी को मनुस्मृति कहा जाता है। मनुस्मृति भारतीय साहित्य में सर्वाधिक चर्चित धर्मशास्त्र है और अपने रचनाकाल से ही यह सर्वाधिक प्रामाणिक, मान्य एवं लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है। स्मृतियों में इसका स्थान सबसे ऊँचा है। यही कारण है कि परवर्ती काल में अनेक स्मृतियाँ प्रकाश में आयीं किन्तु मनुस्मृति के प्रभाव के समक्ष टिक न सकीं जबकि मनुस्मृति का वर्चस्व आज तक बना हुआ है।

मनुस्मृति एक विधि–विधानात्मक शास्त्र है। इसमें जहाँ एक ओर वर्णाश्रम धर्मों के रूप में व्यक्ति और समाज के लिए हितकारी धर्मों, नैतिक कर्तव्यों, मर्यादाओं, आचरणों का वर्णन है; वहीं श्रेष्ठ सामाजिक व्यवस्था के लिए विधानों (कानूनों) का निर्धारण भी है और साथ ही मानव को मुक्ति प्राप्त कराने वाले आध्यात्मिक उपदेशों का निरूपण भी है। इस प्रकार यह भौतिक एवं आध्यात्मिक शिक्षाओं का मिला–जुला अनूठा धर्मशास्त्र है।

मनु की दूरदर्शिता का प्रथम दर्शन हम उनके द्वारा बताये गये धर्म के मूल में कर सकते हैं। वे कहते है कि "सम्पूर्ण वेद धर्म का मूल है, वेदज्ञों की स्मृतियाँ तथा उनका स्वभाव, साधुओं का आचरण तथा आत्मतुष्टि भी धर्म के मूल हैं।"[138] इनमें जो पूर्ववर्ती है वह उत्तरवर्ती से अधिक श्रेष्ठ और मान्य है।

---

137. हिमालयामिधानोऽयं ख्यातो लोकेषु पावनः। अर्धयोजनविस्तारः पंचयोजनमायतः।।

परिमण्डलयोर्मध्ये मेरुरुत्तमपर्वतः। ततः सर्वा समुत्पन्ना वृत्तयो द्विजसत्तम।।

ऐरावती वितस्ता च विशाला देविका कुहू। प्रसूतिर्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ।। महाभारत

138. वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च।।

मनु. 2–6

उक्त कसौटी के बाद यह सम्भावना नहीं है कि भिन्न–भिन्न व्यक्ति भिन्न–भिन्न धर्मों (कानूनों) को मानें। इस प्रकार धर्म में ऐक्य होने से समाज में भी ऐक्य स्थापित होता है। मनु ऋषियों की वाणी होने से वेद को ही धर्म के विषय में सर्वोच्च प्रमाण मानते हैं। इस पर यदि कोई यह शंका करे कि यदि किसी विषय में वेद में ही दो प्रकार के धर्मों का कथन है तो इस पर मनु कहते हैं कि दोनों ही धर्म माने जायेंगे।[139] व्यक्ति को प्रसंगादि पर ध्यान देते हुए ज्ञानियों के परामर्श तथा अन्तःकरण के निर्णय के आधार पर जो उचित प्रतीत हो उसका पालन करना चाहिए।

मनु की दूरदर्शिता का द्वितीय दर्शन हम उनके द्वारा किये गये संस्कारों के विधान में कर सकते हैं जिसके अनुसार तीनों गार्भ संस्कार (गर्भाधान, पुंसवन व सीमन्तोन्नयन) पूर्णतया अनिवार्य हैं। जन्मोपरान्त होने वाले संस्कारों में माता–पिता के लिए किसी संयम अथवा विशेष ज्ञान की अनिवार्यता नहीं है किन्तु गार्भ संस्कार संयम तथा ज्ञान के बिना सम्पादित ही नहीं किये जा सकते। **गार्भ संस्कारों में संस्कृति की आत्मा निहित है।** यदि समाज का अवलोकन गार्भ संस्कारों के दृष्टिकोण से किया जाय तो समाज के पतन तथा उसके कारणों को भली–भाँति व्याख्यायित किया जा सकता है। श्रेष्ठ भूमि के बिना श्रेष्ठ भवन का निर्माण सम्भव नहीं है। किसी भी मनुष्य के व्यक्तित्व की भूमि उसका गर्भाधान संस्कार ही है। आजकल तो कोई विरला ही बता सकता है कि उसकी सन्तान का गर्भाधान कब और कहाँ हुआ, किन्तु पहले यह एक सामान्य बात थी। अधिकांश द्विज बालक अपने गर्भाधानकाल को जानते थे।

मनु की दूरदर्शिता का तृतीय दर्शन हम उनके द्वारा किये गये चारों वर्णों तथा उनके पृथक् कर्मों के विधान में कर सकते हैं जिसमें उन्होंने भली–भाँति प्रदर्शित किया है कि व्यक्ति तथा समाज का हित तभी है जब प्रवृत्ति (वर्णगत स्वभाव) तथा वृत्ति (वर्णागत कर्म) में सामंजस्य हो अर्थात् प्रवृत्ति के अनुसार ही प्रत्येक व्यक्ति की वृत्ति होनी चाहिए। मनु अपनी दूरदर्शिता से कहते हैं कि सन्तान की प्रवृत्ति माता–पिता की प्रवृत्ति के समान ही हो यह कदापि अनिवार्य नहीं है। यदि मनु के इस कथन की उपेक्षा न की गयी होती तो महान् देश भारतवर्ष जातितः वर्ण–व्यवस्था के दलदल में फँसकर पतित न हुआ होता।

मनु की दूरदर्शिता का चतुर्थ दर्शन हम उनके द्वारा किये गये श्रेष्ठ विवाहों (ब्राह्म, दैव, आर्ष तथा प्राजापत्य) के विधान में कर सकते हैं। उनके अनुसार श्रेष्ठ विवाहों से ही श्रेष्ठ सन्तानों का जन्म होता

---

139. अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते। धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।। मनु. 2–13

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ। उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः।। मनु. 2–14

है क्योंकि श्रेष्ठ विवाह करने वाले ही अपनी सन्तानों के लिए गर्भाधान जैसे संस्कार कर सकते हैं, अन्य नहीं।

मनु की दूरदर्शिता का पंचम दर्शन हम उनके दण्डविधान में कर सकते हैं जिसके अनुसार एक ही अपराध के लिए उच्चवर्ण वाला निम्नवर्ण वाले से अधिक दण्डनीय है। जो जितना अधिक उत्तरदायी और प्रतिष्ठित है वह उतना ही अधिक दण्डनीय है। यदि यह व्यवस्था बनी रहती तो समाज पतित नहीं होता किन्तु बाद में स्वार्थान्धों ने ऐसी स्मृतियाँ बनायीं जिसके अनुसार उच्चवर्ण वाला निम्नवर्ण वाले से न्यून दण्डनीय माना गया और ब्राह्मण को तो अदण्डनीय तक कह दिया गया। यहाँ तक कि, मनुस्मृति में इस आशय के श्लोकों को प्रक्षिप्त भी किया गया। वस्तुतः सुधार ऊपर से नीचे की ओर होता है। यदि ऊपर वाला ठीक रहता है तो वह नीचे वालों को भी ठीक रखने का प्रयास करता है और इस हेतु ऊपर वाला अधिक दण्डनीय हो, यही मनोवैज्ञानिकरूपेण उचित है।

मनु की दूरदर्शिता का षष्ठ दर्शन हम उनके प्रायश्चित्त विधान में कर सकते हैं। केवल दण्ड से ही व्यक्ति का अन्तर्मन शुद्ध नहीं हो सकता। दण्ड तो विवशता के कारण भी स्वीकार किया जा सकता है। जब कोई अपने कृत पाप पर सचमुच पश्चात्ताप करता है तो वह स्वयमेव दण्ड प्राप्त करना चाहता है और ऐसा व्यक्ति यदि अपने ही मुख से अपना पाप अथवा अपराध कहे तो उसे दण्डित किया जाना व्यर्थ है। ऐसे व्यक्ति के लिए प्रायश्चित्त ही श्रेष्ठतम उपाय है। यह प्रायश्चित्त पाप के अनुसार होता है किन्तु प्रायश्चित्तकर्ता की सामर्थ्य के आधार पर प्रायश्चित्त को कुछ घटाया–बढ़ाया जा सकता है। फिर भी प्रायश्चित्तकर्ता व्यक्तिगतरूपेण अतिरिक्त प्रायश्चित्त भी कर सकता है ताकि उसे मानसिक शान्ति प्राप्त हो। आजकल प्रायश्चित्त की व्यवस्था प्रायः भंग हो चुकी है। इसी कारण पाप और अपराध निरन्तर वर्धमान हैं।

मनु की दूरदर्शिता का सप्तम दर्शन हम उनके इस कथन में कर सकते हैं जिसके अनुसार समस्त शुभकर्मों में आत्मज्ञान (अहंता–ममता से मुक्ति के उपाय का ज्ञान) सर्वोपरि है क्योंकि यह सब विद्याओं में प्रधान है। मोक्ष की उपेक्षा करने से ही समाज निरन्तर दुःखी होता चला जा रहा है।[140]

मनु की दूरदर्शिता का अष्टम दर्शन हम मनु के उस कथन में कर सकते हैं जिसके अनुसार जिन विषयों में धर्माधर्म का ज्ञान वेद, स्मृति आदि से न हो उन विषयों में शिष्ट ब्राह्मणों का कथन ही धर्म है और शिष्ट ब्राह्मण वे हैं जिन्होंने पूर्ण ब्रह्मचर्य और धर्म से सांगोपांग वेदों का अध्ययन किया है तथा जो

---

140. वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः। धर्मक्रियाऽत्मचिन्ता च निःश्रेयसकरं परम्।।

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्। तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः।। मनु. 12–83,85

श्रुति (आगम), प्रत्यक्ष तथा हेतु (अनुमान) तीनों प्रमाणों के सम्यक् ज्ञाता हैं।[141] इस कसौटी को पूरा करने वाले द्वारा बताया गया धर्म (कानून) सदा कल्याणकारी ही होगा जबकि आज धर्मप्रवक्ताओं की श्रेष्ठता के लिये ऐसी कोई कसौटी नहीं मानी जाती, फलतः उनके द्वारा बनाये गये धर्मों के कारण समाज निरन्तर अधोगति को प्राप्त हो रहा है।

मनु की दूरदर्शिता को वर्णित कर पाना हमारे लिए अशक्य है। वस्तुतः उनके द्वारा उक्त प्रत्येक पद सारगर्भित और दूरदर्शितापूर्ण है। इसी कारण ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा गया है –

मनुर्वै यत्किंचावदत् तद् भैषजम्।

अर्थात् मनु ने जो कुछ भी कहा है, वह भैषज अर्थात् रोगनाशक औषधि के समान है।

आचार्य बृहस्पति ने अपनी स्मृति में स्पष्ट शब्दों में मनुस्मृति को सर्वोच्च स्मृति घोषित किया है। मनुस्मृति की प्रामाणिकता और महत्ता तो बताते हुए वे निम्न शब्दों में मनुस्मृति की प्रशंसा करते हैं –

''वेदार्थों के अनुसार रचित होने के कारण सब स्मृतियों में मनुस्मृति ही सबसे प्रधान एवं प्रशंसनीय है। जो स्मृति मनु के तात्पर्य से विपरीत है वह अप्रशंसनीय अर्थात् अग्राह्य है। तर्कशास्त्र, व्याकरण आदि शास्त्रों की शोभा तभी तक है जब तक धर्म, अर्थ और मोक्ष के उपदेष्टा मनु नहीं हैं अर्थात् मनुस्मृति के सम्मुख सभी शास्त्र निस्तेज हो जाते हैं।''[142] इसके अतिरिक्त अनेकों प्रसिद्ध लेखकों और व्याख्याकारों ने अपने मत के समर्थन में अथवा अपनी मान्यता की पुष्टि हेतु मनु के वचनों को उद्धृत किया है।

कुषाण शासक कनिष्क के समकालीन बौद्ध महाकवि अश्वघोष ने, जिसका समय प्रथम शताब्दी माना जाता है, अपनी कृति ''वज्रकोपनिषद्'' में अपने पक्ष के समर्थन में मनु के श्लोकों को उद्धृत किया है। विश्वरूप ने अपने यजुर्वेद भाष्य और याज्ञवल्क्य स्मृति भाष्य में मनुस्मृति के श्लोकों को उद्धृत किया है। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में मनुस्मृति के पर्याप्त उद्धरण दिये हैं। 500 ई. में जैमिनीय सूत्रों के भाष्यकार शबर स्वामी ने अपने भाष्य में मनु के अनेक वचनों का उल्लेख किया है। याज्ञवल्क्य स्मृति के एक अन्य भाष्यकार विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्य स्मृति के श्लोकों की पुष्टि के लिए मनु के श्लोकों को पर्याप्त संख्या में उद्धृत किया है। गौतम, वसिष्ठ, आपस्तम्ब, आश्वलायन, जैमिनि, बौधायन आदि के सूत्रग्रन्थों में भी मनु का आदर के साथ उल्लेख है। आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में बहुत–से

---

141. अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद् भवेत्। यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशंकितः।।
धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेद सपरिबृंहणः। ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः।। मनु. 12–108,109

142. वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्। मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते।।
तावच्छास्त्राणि शोभन्ते तर्कव्याकरणानि च। धर्मार्थमोक्षोपदेष्टा मनुर्यावन्न दृश्यते।। बृहस्पति स्मृति

स्थलों पर मनुस्मृति को आधार बनाया है और कई स्थलों पर मनु के मत का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त अन्य बहुत सारे ग्रन्थकार हैं जिन्होंने अपनी कृति की प्रामाणिकता और गौरव को बढ़ाने के लिए मनु के मत का उल्लेख किया है।

अठारहवीं शताब्दी में मनुस्मृति को सर्वाधिक महत्त्व आर्य समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द ने दिया। उन्होंने केवल मनुस्मृति को ही आर्ष एवं प्रामाणिक धर्मशास्त्र घोषित किया और अपने मन्तव्यों का आधार बनाया। उन्होंने अपने ग्रन्थों में मनुस्मृति के लगभग 514 श्लोकों या श्लोकखण्डों को प्रमाणरूपेण उद्धृत किया है।

प्राचीनकाल से ही मनुस्मृति के अनुकूल आचरण को भी प्रतिष्ठा का सूचक माना जाता रहा है। वलभी के राज धारसेन का एक शिलालेख उपलब्ध हुआ है, जो 571 ई. का है। उसमें उस राजा को मनु के धर्म–नियमों का पालनकर्ता कहकर उसकी विशेषता बतलायी गयी है।

सभी स्मृति ग्रन्थों और धर्मशास्त्रों में प्राचीनकाल से लेकर अब तक सर्वाधिक टीकाएं एवं भाष्य मनुस्मृति पर ही लिखे गये हैं और अब भी लिखे जा रहे हैं। यह भी मनुस्मृति की सर्वोच्चता एवं सर्वातिशायी प्रभविष्णुता का द्योतक है।

आजकल भी पठन–पाठन, अध्ययन–मनन में मनुस्मृति का ही सर्वाधिक प्रचलन है। हिन्दू कोड बिल एवं संविधान का प्रमुख आधार मनुस्मृति को माना जाता है। आजकल न्यायालयों में न्याय दिलाने में मनुस्मृति का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। सामाजिक तथा राजनैतिक व्यवस्थाओं के प्रसंग में मनुस्मृति का उल्लेख अनिवार्य रूप से होता है और इससे मार्गदर्शन भी प्राप्त किया जाता है। भारत में ही नहीं अपितु विदेशों में भी मनु का प्रभाव रहा है और उन्हें आदर प्राप्त हुआ है। चम्पाद्वीप के एक शिलालेख में मनु का निम्नोक्त श्लोक उद्धृत मिलता है –

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पंचमी। एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्।। मनु. 2–136

बाली, स्याम और जावा के विधान भी मनुस्मृति से पर्याप्त साम्य रखते हैं।

फिलीपीन्स द्वीप के लोकसभा भवन के सामने उस देश की संस्कृति के निर्माण में आधारभूत योगदान देने वाले चार व्यक्तियों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गयी हैं, जिनमें एक महर्षि मनु की है।

यह मनु की बुद्धिमत्ता, न्यायवादिता और दूरदर्शिता ही है कि सर्वत्र उनका इतना प्रभाव हुआ। मनुस्मृति में एक ओर तो अतिगम्भीर, युक्तियुक्त, साधार, दुराग्रह एवं पक्षपात से रहित अरूढ तथा सन्तुलित शैली है; वहीं बीच–बीच में अतिसामान्य, अयुक्तियुक्त, निराधार, अतिशयोक्तिपूर्ण, दुराग्रह एवं पक्षपात से युक्त तथा रूढ शैली के श्लोक भी आ जाते हैं। निःसंदेह उक्त विरोधी भिन्नताएं एक ही

रचयिता की शैली में नहीं हो सकतीं। स्पष्ट है कि दूसरी शैली की रचनाएं मनुसदृश विद्वान् की न होकर अन्यों द्वारा रचित हैं, अतः वे प्रक्षेप हैं। मनुस्मृति के कुल्लूकभट्ट आदि सभी भाष्यकारों ने एकमत से मनुस्मृति में प्रक्षेपों का होना स्वीकार किया है। इसी प्रकार मनुस्मृति पर कार्य करने वाले वूलर तथा जौली सदृश पाश्चात्य विद्वानों ने भी मनुस्मृति में प्रक्षेप स्वीकार किये हैं। आर्य समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने मनुस्मृति के प्रक्षेपों की ओर समाज का विशेषरूपेण ध्यान आकृष्ट किया। डॉ. सुरेन्द्र कुमार ने क्रमशः विषयविरोध, प्रसंगविरोध, अन्तर्विरोध (परस्परविरोध), पुनरुक्ति, शैलीविरोध, अवान्तरविरोध तथा वेदविरोध इन सात आधारों पर मनुस्मृति के प्रक्षेप–निदर्शन का परमपुनीत कार्य किया है। मनुस्मृति में प्रक्षेपों के अतिरिक्त पाठभेद भी किया गया है। डॉ. सुरेन्द्र कुमार ने पाठभेदों का भी सम्यक्तया निदर्शन किया है। कैसी विडम्बना है कि स्वार्थान्ध ब्राह्मणों (ब्रह्मबन्धुओं) ने अनेकों अन्य ग्रन्थों की भाँति मनुस्मृति में भी पर्याप्त प्रक्षेप तथा पाठभेद किये हैं। ये प्रक्षेप तथा पाठभेद उस धूलि के समान हैं जो मनुस्मृतिरूपी दर्पण पर चिपक गयी है। इन प्रक्षेपों तथा पाठभेदों को हटा देने पर मनुस्मृति का उज्ज्वल और महान् रूप पुनः भासित होने लगेगा।

।। इति द्वितीयाध्यायान्तर्गतं द्वाविंशप्रकरणम्।।

।। इति द्वितीयोऽध्यायः।।

तृतीय अध्याय

महर्षि याज्ञवल्क्य एवं उनके द्वारा प्रतिपादित वर्ण–व्यवस्था

ब्रह्मर्षि याज्ञवल्क्य का जीवन–वृत्त

इस प्रकरण का प्रारम्भिक भाग डॉ. गंगासागर राय कृत याज्ञवल्क्य स्मृति की "गंगा" नामक हिन्दी व्याख्या की भूमिका से उद्धृत है।

भारतीय वाङ्मय में याज्ञवल्क्य का अनेकत्र उल्लेख है जिससे प्रतीत होता है कि याज्ञवल्क्य नाम वाले अनेक व्यक्ति हुए। उनमें से जो प्रमुख हैं, वे निम्नवत् हैं –

1. विश्वामित्र कुलोत्पन्न एक गोत्रकार।

2. वसिष्ठ कुलोत्पन्न एक गोत्रकार। इसे याज्ञदत्त नामान्तर भी प्राप्त था। (मत्स्य पुराण 200–6)

3. एक आचार्य जो व्यास की ऋक् शिष्यपरम्परा के वाष्कल नामक ऋषि का शिष्य था। इसी के नाम से व्यास की उस ऋक् शिष्यपरम्परा को 'याज्ञवल्क्य' नाम प्राप्त हुआ। (वायु पुराण 60–12–15)

4. एक आचार्य जिसके आश्रम में विष्णुयशस् नामक ब्राह्मण के घर कल्कि नामक विष्णु का ग्यारहवाँ अवतार उत्पन्न होने वाला है। (भागवत पुराण 1–2–35)

5. विश्वामित्र के ब्रह्मवादी पुत्रों में से एक है। (महाभारत, अनुशासनपर्व 4–51)

6. याज्ञवल्क्य वाजसनेय। इनका विस्तृत विवरण प्राप्त होता है जो इस प्रकार है –

याज्ञवल्क्य एक श्रेष्ठ विद्वान्, शास्त्रार्थपटु, आत्मज्ञानी ऋषि तथा शुक्ल यजुर्वेद संहिता के दृष्टा माने जाते हैं। ये उद्दालक आरुणि नामक आचार्य के शिष्य थे (शतपथ ब्राह्मण 6–4–3)। शतपथ ब्राह्मण (1–1–1–9, 2–3–1–21, 4–2–1–7) एवं बृहदारण्यक उपनिषद् (3–1–2 माध्यन्दिन) में इनका उल्लेख एक श्रेष्ठ दार्शनिक के रूप में हुआ है।

ये विदेह देश के रहने वाले थे। बृहदारण्यक उपनिषद् से राजा जनक के द्वारा इन्हें संरक्षण मिलने की जो सूचना प्राप्त होती है, उससे भी उपर्युक्त बातें स्पष्ट होती हैं। परन्तु इनके गुरु उद्दालक आरुणि कुरुपांचाल देश के रहने वाले थे, इससे इनके भी कुरुपांचाल निवासी होने की सम्भावना प्रतीत होती है। इनका याज्ञवल्क्य नाम तो प्रसिद्ध ही है। इसके अतिरिक्त बृहदारण्यक उपनिषद् (6–3–7,8 व 6–5–3) एवं शतपथ ब्राह्मण (14–9–4–33) में इन्हें 'वाजसनेय' कहा गया है। महीधर के अनुसार, वाजसनि का पुत्र होने के कारण इन्हें वाजसनेय नाम प्राप्त हुआ था। इनके 'मध्यंदिन' नामक शिष्य के द्वारा इनकी शुक्ल यजुर्वेद संहिता का प्रचार होने के कारण इन्हें 'मध्यंदिन' भी कहते हैं।

विष्णुपुराण (3–5–2) में इन्हें ब्रह्मरात का पुत्र एवं वैशम्पायन का शिष्य कहा गया है। वायु पुराण (60–41) भागवत पुराण (12–6–64) एवं ब्रह्माण्ड पुराण (3–35–24) में इनके पिता का नाम क्रमशः 'ब्रह्मवाह, दैवरात, एवं ब्रह्मराति' मिलता है। वायु पुराण (60–42) का कथन है कि ब्रह्मा के शरीर से उत्पन्न होने के कारण इनका 'ब्रह्मवाह' नाम हुआ। महाभारत (शन्तिपर्व 30–6) में इन्हें वैशम्पायन ऋषि का भ्रातृज एवं शिष्य बताया गया है। उद्दालकशिष्य याज्ञवल्क्य एवं वैशम्पायनशिष्य याज्ञवल्क्य दोनों सम्भवतः एक ही होंगे। इनमें से उद्दालक इनके दार्शनिक शास्त्रों के तथा वैशम्पायन वैदिक शास्त्रों के गुरु थे।

ब्रह्माण्ड पुराण (3–63–208), वायु पुराण (88–207), विष्णु पुराण (44–47) एवं भागवत पुराण, (1–12–4) में हिरण्यनाभ कौशल्य नामक इनके एक अन्य गुरु का उल्लेख हैं जिनसे याज्ञवल्क्य ने योगशास्त्र की शिक्षा प्राप्त की थी।

याज्ञवल्क्य के मुख्यतः दो रूप माने जाते हैं। प्रथमतः वैदिक साहित्य में एक श्रेष्ठ ऋषि के रूप में उन्हें 'शुक्ल यजुर्वेद' तथा 'शतपथ ब्राह्मण' के दृष्टा होने का श्रेय दिया जाता है। द्वितीयतः उन्हें दार्शनिक विषयों के अतिश्रेष्ठ आचार्य के रूप में जाना जाता है, जिसका विवरण 'बृहदारण्यक उपनिषद्' से प्राप्त होता है।

याज्ञवल्क्य यजुःशिष्यपरम्परा में वैशम्पायन ऋषि के शिष्य थे। वैशम्पायन ऋषि के 86 शिष्य थे जिनमें श्यामायनि, आसुरि, आलंबि, एवं याज्ञवल्क्य प्रमुख थे। वैशम्पायन ने 'कृष्ण यजुर्वेद' की कुल 86 शाखाएं बनाकर अपने शिष्यों को प्रदान की थीं।

याज्ञवल्क्य ने 'कृष्ण यजुर्वेद' के शुद्धीकरण या संशोधन का कार्य सम्पन्न किया एवं उसी वेद की संहिता में से चालीस अध्यायों से युक्त शुक्ल यजुर्वेद को प्राप्त किया (शतपथ ब्राह्मण 14–9–4–33)।

याज्ञवल्क्य से पूर्व कृष्ण यजुर्वेद संहिता में यज्ञविषयक मन्त्र एवं यज्ञ प्रक्रियाओं की सूचनाएं सन्निहित थीं। उदाहरणार्थ, तैत्तिरीय संहिता में ''इषेत्वेति छिनत्ति'' मन्त्र है। यहाँ ''इषेत्वेति'' (इषे त्वा) वैदिक मन्त्र है जिसके पठन के साथ 'छिनत्ति' (लकड़ी तोड़ना) की प्रक्रिया बतायी गयी है।

याज्ञवल्क्य की महत्ता यह है कि उन्होंने 'इषेत्वा' की भाँति वैदिक मन्त्र भागों को पृथक् कर उन्हें 'शुक्ल यजुर्वेद' संहिता में बाँध दिया एवं 'इति छिनत्ति' जैसे याज्ञिक प्रक्रियात्मक भागों को पृथक् कर ब्राह्मण ग्रन्थों में एकत्र किया।

कृष्ण यजुर्वेद के इस शुद्धीकरण या संशोधन करने में याज्ञवल्क्य को अपने समकालीन आचार्यों से ही नहीं अपितु अपने गुरु वैशम्पायन से भी विवाद करना पड़ा। आगे चलकर संहिताविषयक इस

विवाद ने एक देशव्यापी आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। अन्त में यह विवाद हस्तिनापुर के सम्राट् जनमेजय (तृतीय) के समीप जा पहुँचा और सम्राट् ने याज्ञवल्क्य की विचारधारा को सही एवं शुद्ध वैदिक कहकर उसका अनुमोदन किया।

जनमेजय के राजपुरोहित उस समय वैशम्पायन थे। जनमेजय ने यज्ञों के अध्वर्युकर्म के लिए वैशम्पायन को छोड़कर याज्ञवल्क्य को चुना किन्तु इसके परिणामस्वरूप जनमेजय के विरुद्ध उनकी प्रजा में अत्यधिक क्षोभ की भावना फैलने लगी और उन्हें राजसिंहासन का परित्याग कर वन की शरण लेनी पड़ी। इतने पर भी जनमेजय ने अपना मत नहीं छोड़ा और याज्ञवल्क्य के द्वारा ही अश्वमेधादि यज्ञ कराकर 'महावाजसनेय' की उपाधि प्राप्त की। इसके परिणामस्वरूप वैशम्पायन और उनके अनुयायिओं को मध्यदेश छोड़कर पश्चिम में समुद्रतट तथा उत्तर में हिमालय की शरण लेनी पड़ी।

इस प्रकार धार्मिक आधार पर उठे याज्ञवल्क्य और वैशम्पायन के विवाद ने राजनैतिक जीवन के आदर्शों में आमूल परिवर्तन किया, जो भारतीय इतिहास में एक अनूठी घटना सिद्ध हुई। इस प्रकार सर्वसाधारण से लेकर राजाओं तक को अपने प्रभाव से बदल देने वाले याज्ञवल्क्य एक युगप्रवर्तक आचार्य बन गये।

याज्ञवल्क्य की मैत्रेयी और कात्यायनी नामक दो पत्नियाँ थीं। उनमें से मैत्रेयी आध्यात्मिक ज्ञान की पिपासु थीं। इस कारण, उन्होंने उसे ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया तथा संन्यास लेने के पश्चात् भी उसे अपने साथ अरण्य में ले गये। स्कन्द पुराण में मैत्रेयी का 'कल्याणी' नामान्तर प्राप्त होता है (स्कन्द पुराण 6–130,131)/वैदिक ग्रन्थों में से 'जाबालोपनिषद्' तथा 'शतपथ ब्राह्मण' में भी इसका उल्लेख प्राप्त होता है।

इनकी दूसरी पत्नी कात्यायनी एक सामान्य गृहिणी थीं, जिनसे उन्हें कात्यायन तथा पिप्पलाद नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए थे (स्कन्द पुराण 5–3 व 42–1)।

रामायण कथा की परम्परा में याज्ञवल्क्य रामचरित के एक प्रधान वक्ता माने जाते हैं।

काण्व एवं माध्यंदिन परम्परा में इनके निम्नोक्त शिष्यों का निर्देश प्राप्त होता है–

1. आसुरि – यह याज्ञवल्क्य का प्रमुख शिष्य था, जिससे आसुरि नामक शाखा का निर्माण हुआ। आसुरि के शिष्य का नाम पंचशिख था। पंचशिख के शिष्यों में 'जनक जानदेव' तथा 'जनक धर्मध्वज' प्रमुख थे। पंचशिख के शिष्यों में आसुरायण भी प्रमुख था जो यास्क का समकालीन था।

2. मधुक पैङ्ग्य – इसके शिष्यों में चूडभागवित्ति प्रमुख था। चूडभागवित्ति की शिष्यपरम्परा जानकि आयस्थूण से लेकर सत्यकाम जाबाल तक मानी जाती है।

3. सामश्रवा – जनक की विद्वत्सभा में याज्ञवल्क्य ने अपने इसी शिष्य से सम्पत्ति उठाने के लिए कहा था।

महाभारत में याज्ञवल्क्य के 100 शिष्य कहे गये हैं। वायु पुराण में याज्ञवल्क्य के 15 शाखाप्रवर्तक शिष्य बताये गये हैं, जो इस प्रकार हैं – कण्व, वैधेय, शालिन, मध्यंदिन, शापेयिन, विदग्ध, उछल, ताम्रायण, वात्स्य, गालव, शैषिरि, आटवि, पर्णिन्, वीरणिन्, परायण (वायु पुराण 61–24,25)। इन शिष्यों को सामूहिकरूपेण वाजिन् कहा गया। ब्रह्माण्ड पुराण में ये नाम कई पाठभेदों के साथ प्राप्त होते हैं। अन्य पुराणों में भी इन शाखाप्रवर्तक आचार्यों के नाम अन्य रूपों में दिये गये हैं। इन शाखाप्रवर्तक आचार्यों मे से 'कण्व' तथा 'मध्यंदिन' शाखाओं के ग्रन्थ ही अब प्राप्य हैं। शेष शाखाओं के ग्रन्थ लुप्त हो चुके हैं।

याज्ञवल्क्य के नाम पर निम्नलिखित ग्रन्थ प्राप्त होते हैं–

1. शुक्ल यजुर्वेद संहिता
2. ईशावास्योपनिषद्
3. शतपथ ब्राह्मण
4. बृहदारण्यकोपनिषद्
5. याज्ञवल्क्य शिक्षा
6. मनःस्वार शिक्षा

इनके अतिरिक्त याज्ञवल्क्य स्मृति नामक ग्रन्थ भी इनके द्वारा प्रणीत माना जाता है। वृद्धयाज्ञवल्क्य, योगयाज्ञवल्क्य तथा बृहद्याज्ञवल्क्य नामक अन्य तीन स्मृतिग्रन्थ भी पाये जाते हैं जिनमें से अन्तिम दोनों धर्मशास्त्र के ग्रन्थ नहीं हैं।

वस्तुतः उपर्युक्त 6 ग्रन्थों से सम्बन्धित महर्षि याज्ञवल्क्य और स्मृतिकार याज्ञवल्क्य दोनों भिन्न व्यक्ति हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति की शैली तथा विषय नितान्त भिन्न हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा नामक टीका के प्रणेता विज्ञानेश्वर के अनुसार भी इस ग्रन्थ का रचयिता याज्ञवल्क्य न होकर शुक्ल यजुर्वेद की परम्परा का कोई व्यक्ति है। प्राचीन भारत में लेखक अपने ग्रन्थ को लोकप्रिय बनाने के लिए उसे किसी ऋषि के नाम से सम्बद्ध कर देते थे। कुछ विद्वान् याज्ञवल्क्य स्मृति को मौलिक ग्रन्थ की अपेक्षा संग्रहग्रन्थ मानते हैं। लेखक ने मनुस्मृति, विष्णुस्मृति, धर्मसूत्रों और पुराणों से अनेक विचार ग्रहण किये हैं। यहाँ तक कि चरक व सुश्रुता संहिता सदृश वैद्यक ग्रन्थों से भी पर्याप्त विचारों को ग्रहण किया गया है। इस ग्रन्थ में गणेशपूजन एवं ग्रहशान्ति का भी उल्लेख है जिससे स्पष्ट होता है कि इस स्मृति का रचयिता कोई पारम्परिक ब्राह्मण था न कि ऋषि। महामहोपाध्याय काणे का विचार है कि शंख व लिखित

के धर्मसूत्रों में धर्मशास्त्रकार याज्ञवल्क्य का उल्लेख है और याज्ञवल्क्य स्मृति का लेखक धर्मशास्त्रकारों के परिगणन में शंख व लिखित का नाम लेता है। इतना ही नहीं, इस परिगणन में याज्ञवल्क्य का नाम भी लिया गया है। इससे भली भाँति स्पष्ट होता है कि शंख व लिखित के सामने कोई प्राचीन याज्ञवल्क्य स्मृति थी।

अस्तु, इस ग्रन्थ की शैली व विषयों में किसी अपूर्वता अथवा मौलिकता के दर्शन नहीं होते। यह मनुस्मृति, विष्णुस्मृति, धर्मसूत्रों, पुराणों तथा चरक व सुश्रत संहिता के विचारों तथा भावों का संकलन मात्र है। यहाँ तक कि इस स्मृति के रचयिता में मनुस्मृति के प्रक्षेपों को जानने का विवेक भी नहीं था। उसने स्पष्टतया प्रक्षिप्त प्रतीत होने वाले मनुस्मृति के श्लोकों के आधार पर भी अपनी स्मृति के श्लोकों को रचा है। वर्ण–व्यवस्था की मौलिक संकल्पना इस स्मृति में अनुपलब्ध है। यह स्मृति शुद्धरूपेण जातितः वर्ण–व्यवस्था की पोषक है और माता–पिता के वर्ण के आधार पर ही वर्णप्राप्ति कर निर्देश करती है जबकि मनु का स्पष्ट उद्घोष है कि वर्णविशेष वाले माता–पिता के यहाँ इतर वर्ण वाला जातक उत्पन्न हो सकता है।[143] श्रेष्ठ स्मृतियों का आदर्श ''जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते'' इस स्मृति में प्रशंसित नहीं हुआ है जिससे इस स्मृति के रचयिता का जातिवादी दृष्टिकोण भली भाँति परिलक्षित होता है। इस स्मृतिकार ने महर्षि याज्ञवल्क्य के नाम का सहारा लेकर अपनी स्मृति को रचा है क्योंकि वह भली भाँति जानता था कि उसका अपना व्यक्तित्व उसकी स्मृति को सम्मान नहीं दिला सकेगा। ऋषियों अथवा महापुरुषों के नाम पर अपने ग्रन्थों की रचना करना भारतीय इतिहास में उपलब्ध सबसे घृणित प्रवृत्तियों में से एक है और यह स्मृति उसी घृणित प्रवृत्ति का एक उदाहरण है। यह स्मृति मनुस्मृति से अधिक सुगठित प्रतीत होती है। इसके दो कारण हैं। प्रथम, मनुस्मृति में 50 प्रतिशत से अधिक भाग प्रक्षिप्त है। इस प्रक्षिप्त भाग के अतिरिक्त शेष मनुस्मृति प्रायः पूर्णतया सुगठित है। द्वितीय, याज्ञवल्क्य स्मृति में प्रायः कोई प्रक्षेप नहीं हुआ है तथा मनुस्मृति के कुछ विषयों पर याज्ञवल्क्य स्मृति में अतिरिक्त विधान प्राप्त होता है।

वस्तुतः मनुस्मृति की परममहिमा के कारण ही उसमें निरन्तर प्रक्षेप किये जाते रहे क्योंकि मनु का इतना आदर था कि यदि कोई बात मनुस्मृति में दिखाई जा सके तो वह निर्विवादरूपेण मान्य हो जाती थी। इन प्रक्षेपों के मूल में जातिवादी दृष्टिकोण ही था जिसके अनुसार उच्च वर्ण के माता–पिता के यहाँ उत्पन्न सन्तानें अयोग्य अथवा निम्नवर्णीय होने पर भी माता–पिता के वर्ण की तथा सम्मानीय मानी गयीं। यहाँ तक कि, निम्नवर्णीय के लिए अतिदण्ड की व्यवस्था की गयी। उसके लिए बात–बात में अपमान

---

143. शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्। क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्यात्वैश्यात्तथैव च।। मनु. 10–65

व प्राणदण्ड का विधान किया गया जबकि उच्चवर्णीय के लिए दण्ड में अतिछूट का विधान किया गया। ब्राह्मण को तो अवध्य ही कह दिया गया। अधिक से अधिक उसे निर्वासित किया जा सकता था। यह सब मनु की मनोवैज्ञानिक तथा न्यायपरक व्यवस्था से पूर्णतया विपरीत था क्योंकि मनु ने वर्णाधिकारों के अनुपात में ही आदर्शों, कर्तव्यों तथा दण्डों का विधान किया था अर्थात् समान अपराध में उच्चवर्णीय के लिए निम्नवर्णीय से अधिक दण्ड होना चाहिए। याज्ञवल्क्य स्मृति तो जातिवादी दृष्टिकोण को पुष्ट ही करती है, अतः स्वार्थान्ध ब्राह्मणों (ब्रह्मबन्धुओं) को उसमें प्रक्षेप करने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी तथा जिन विषयों पर याज्ञवल्क्य स्मृति में अतिरिक्त विधान प्राप्त होता है उनमें भी कोई जटिलता अथवा कठिनता नहीं है। एक सामान्य बुद्धि का व्यक्ति भी मनुस्मृति के आधार पर उन अतिरिक्त विधानों को कर सकता है। इंग्लैण्ड देश में अलिखित संविधान है फिर भी वहाँ सामान्य बुद्धि (Common sense) तथा न्याय की भावना (Spirit of justice) के आधार पर बड़ा ही तर्कसंगत और सम्यक् न्याय किया जाता है। अतः मनुस्मृति के रहते याज्ञवल्क्य स्मृति के अतिरिक्त विधानों को महिमामण्डित करना वस्तुतः अतिप्रशंसा ही है।

अस्तु, इस प्रकरण में महर्षि याज्ञवल्क्य का जीवन–वृत्त दिया गया है जिससे याज्ञवल्क्य स्मृति के लेखक का कोई सम्बन्ध नहीं है। वह तो कोई शास्त्रज्ञ किन्तु जातिवादी ब्राह्मण था जिसने अपनी स्मृति को महर्षि याज्ञवल्क्य द्वारा रचित सिद्ध करने का प्रयास किया तथा अपनी स्मृति का नाम याज्ञवल्क्य स्मृति रखा। किन्तु विवशता तथा सरलता के कारण आगामी प्रकरणों में हम इस स्मृति के लेखक के लिए याज्ञवल्क्य नाम का ही प्रयोग करेंगे किन्तु स्पष्टता के लिए उसके नाम के साथ महर्षि शब्द का प्रयोग नहीं करेंगे।

।। इति तृतीयाध्यायान्तर्गतं प्रथमप्रकरणम् ।।

ऋषियों द्वारा याज्ञवल्क्य से वर्णोपदेश करने की प्रार्थना

याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति को मूलतः मनुस्मृति के अनुकरण पर लिखा है। इतना ही नहीं, इस स्मृति के लेखन में मेधातिथि, कुल्लूक भट्ट आदि मनुस्मृति के टीकाकारों की टीकाओं का भी सहयोग लिया गया है। तुलना के लिए भूमिकास्वरूप आये मनुस्मृति के चारों श्लोक तथा याज्ञवल्क्य स्मृति के दोनों श्लोक प्रस्तुत हैं –

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः। प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ।।

भगवन्सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः। अन्तरप्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ।।

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः। अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो।।

स तैः पृष्टस्तथा सम्यगमितौजा महात्मभिः। प्रत्युवाचार्च्य तान्सर्वान् महर्षीन् श्रूयतामिति।।

मनु. 1—1,2,3,4

योगीश्वरं याज्ञवल्क्यं संपूज्य मनुयोऽब्रुवन्। वर्णाश्रमेतराणां नो ब्रूहि धर्मानशेषतः।।

मिथिलास्थः स योगीन्द्रः क्षणं ध्यात्वाऽब्रवीन्मुनीन्। यस्मिन्देशे मृगः कृष्णः तस्मिन्धर्मान्निबोधत।।

याज्ञ. 1—1,2

याज्ञवल्क्य स्मृति की भूमिकास्वरूप आये दोनों श्लोकों को देखकर स्पष्ट बोध होता है कि याज्ञवल्क्य ने मनुस्मृति की भूमिका की पूरी नकल कारने का प्रयास किया है। याज्ञवल्क्य ने यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया है कि जिस प्रकार ऋषियों द्वारा महर्षि मनु से वर्णोपदेश की प्रार्थना करने पर महर्षि मनु ने जो प्रवचन दिया वही मनुस्मृति है उसी प्रकार ऋषियों ने महर्षि याज्ञवल्क्य से वर्णोपदेश करने की प्रार्थना की और इसके उत्तरस्वरूप महर्षि याज्ञवल्क्य ने जो प्रवचन दिया वही याज्ञवल्क्य स्मृति है। वस्तुतः याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति तब लिखी जब मनुस्मृति के प्रक्षिप्तांशों को भी सामाजिक स्वीकृति मिल चुकी थी तथा उनके अनुरूप सामाजिक व्यवहार प्रचलित भी हो चुका था। इसी जातिवादी सामाजिक व्यवहार के कुछ अनुक्त अथवा अव्याख्यायित विषयों का विधान करना ही याज्ञवल्क्य का निहितार्थ था। और फिर मनुस्मृति के प्रक्षिप्तांश सरलतया दृष्टिगोचर होते हैं, अतः याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति इस प्रकार लिखी ताकि वह उन प्रक्षिप्तांशों को व्यवस्थितरूपेण अपनी स्मृति में स्थान दे सके और वे प्रक्षिप्तांश शेष भाग से असम्बद्ध प्रतीत न हों। अपनी स्मृति की श्रेष्ठता व सार्थकता प्रदर्शित करने हेतु उसने कुछ इस ग्रन्थ के तथा कुछ उस ग्रन्थ के विचारों व भावों को भी अपनी स्मृति में स्थान दिया। हाँ, याज्ञवल्क्य की इतनी प्रशंसा तो करनी ही होगी कि उसने इस समस्त कार्य को इतनी कुशलता से किया कि उसकी स्मृति में बड़ी ही सुसम्बद्धता और सुगठितता दृष्टिगोचर होती है और इसी कारण मनुस्मृति के अतिरिक्त इस स्मृति को भी पर्याप्त मान्यता प्राप्त हुई। याज्ञवल्क्य स्मृति तीन अध्यायों में निभक्त है जो क्रमशः आचाराध्याय, व्यवहाराध्याय तथा प्रायश्चित्ताध्याय कहलाते हैं। तीनों अध्याय क्रमशः 13, 25 तथा 5 प्रकरणों में विभक्त हैं।

।। इति तृतीयाध्यायान्तर्गतं द्वितीयप्रकरणम्।।

ब्राह्मण के कर्तव्य व अधिकार

वर्ण–व्यवस्था के अनुसार शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होते हैं किन्तु उनके लिए आदर्श, कर्तव्य तथा दण्ड भी उत्तरोत्तर अधिक होते हैं। इसके विपरीत जातितः वर्ण–व्यवस्था में दो पाप सन्निहित हैं –

1. इसमें वर्णों की उत्तरोत्तर श्रेष्ठता तो स्वीकार की गयी है किन्तु इसके सन्तुलन हेतु आदर्शों, कर्तव्यों तथा दण्डों के उत्तरोत्तर आधिक्य की व्यवस्था का परित्याग कर दिया गया है।

2. वर्णनिश्चय का आधार जातक के स्वभाव के निरीक्षण–परीक्षण तथा उसके अन्तःकरण के निर्णय को न मानकर माता–पिता के वर्ण को ही माना गया है।

याज्ञवल्क्य इसी पापमूलक तथा पक्षपातपूर्ण जातितः वर्ण–व्यवस्था का पोषक ब्राह्मण है। अतः उसने उच्चतर वर्ण वालों के लिए पक्षपातपूर्ण रीति से अधिकारों व सुविधाओं का विधान किया है और इस कार्य में मनुस्मृति के प्रक्षिप्तांश से उसे सर्वाधिक सहायता प्राप्त हुई है। ब्राह्मण के कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए याज्ञवल्क्य कहता है – ''यज्ञ करना, अध्ययन और दान ये तीनों कर्म वैश्य और क्षत्रिय के भी हैं। ब्राह्मण में दानग्रहण, यज्ञ कराना तथा अध्ययन ये तीनों कर्म अधिक हैं।[144] इस प्रकार अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना तथा दान लेना ये छः कर्म ब्राह्मण के हैं। यह विचार मनुस्मृति से यथावत् स्वीकार किया गया है।[145]

द्विजों के लिए भक्ष्याभक्ष्य का विधान करते हुए याज्ञवल्क्य कहता है –''सेधा, गोधा, कच्छप, शल्लक तथा शशक ये पाँच नख वाले (पाँच पशु) भक्ष्य हैं। मत्स्यों में से सिंही, रोहू, पाठीन, राजीव और सशल्क भी भक्ष्य हैं। इसके पश्चात् मांस के भक्षण व अभक्षण का विधान सुनो। प्राण का संकट होने पर प्रोक्षण नाम के श्रौत संस्कार में यागार्थ संस्कृत अग्निषोमीय आहुति से अवशिष्ट मांस तथा ब्राह्मणभोजनार्थ, देवपितृकार्य के निमित्त सिद्ध तथा उनसे अवशिष्ट मांस का भक्षक दोष का भागी नहीं होता।''[146] यह

---

144. इज्याध्ययनदानानि वैश्यस्य क्षत्रियस्य च। प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे याजनाध्यापने तथा।।

याज्ञ. 1–118

145. अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्।। मनु. 1–88

146. भक्ष्याः पंचनखाः सेधागोधाकच्छपशल्लकाः। शशश्च मत्स्येष्वपि हि सिंहतुण्डकरोहिताः।।

तथा पाठीनराजीवसशल्काश्च द्विजातिभिः। अतः शृणुध्वं मांसस्य विधिं भक्षणवर्जने।।

प्राणात्यये तथा श्राद्धे प्रोक्षिते द्विजकाम्यया। देवान्पितृन्समभ्यर्च्य खादन्मांसं न दोषभाक्।।

याज्ञ. 1–177,178,179

विचार भी मनुस्मृति से ग्रहण किया गया है।[147] किन्तु मनुस्मृति के ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं क्योंकि मनु ने स्वयं कहा है – "मारने की आज्ञा देने वाला, मांस को काटने वाला, पशु को मारने वाला, मांस हेतु पशुओं को खरीदने तथा बेचने वाला, मांस को पकाने वाला, मांस को परोसने वाला तथा मांस को खाने वाला; ये सब हत्यारे हैं।"[148] अतः ये दोनों परस्परविरोधी विचार मनु द्वारा ही उक्त समझना मतिमान्द्य ही है। वस्तुतः मनु पूर्णरूपेण अहिंसावादी हैं। प्राणरक्षा हेतु हिंसक पशुओं तथा दुष्ट मनुष्यों की हिंसा तथा राष्ट्ररक्षा हेतु युद्ध के समय शत्रुओं की हिंसा को ही मनु वैधानिक मानते हैं। इसके अतिरिक्त भक्षण हेतु की गयी पशुहिंसा को मनु सर्वथा अवैधानिक तथा पापपूर्ण मानते हैं।

याज्ञवल्क्य कहता है कि श्रोत्रिय ब्राह्मण यदि अतिथिरूपेण आ जाये तो उसके सत्कार में बड़े बैल अथवा बड़े बकरे का मांस प्रस्तुत करें।[149] ऐसा प्रतीत होता है कि यह याज्ञवल्क्य भी मांसाहार का बड़ा ही लोभी था तभी उसने अतिथिसत्कार हेतु बड़े बैल तथा बड़े बकरे के मांस का विधान किया है।

याज्ञवल्क्य राजा को ब्राह्मणों के प्रति क्षमाशील होने का निर्देश देता है।[150] अब, यह तो घोर पक्षपात है। इससे तो ब्राह्मण और भी उच्छृंखल तथा पतित हो गये। अपने दण्डविधान में याज्ञवल्क्य कहता है – "कूटकृत् (धनादि देकर कूटसाक्षी को नियुक्त करने वाला) तथा कूटसाक्षी (झूठी गवाही देने वाला) दोनों ही विवाद के धन से दुगुना जुर्माना पाते हैं। यदि इनमें से कोई ब्राह्मण हो तो उसे केवल राज्य से निष्कासित कर दे। जो साक्षी (साक्षी होना स्वीकार करके) साक्ष्य सुनाये जाने पर रागादि के वशीभूत होकर अन्य साक्षियों से छिपाता है अर्थात् यह कहे कि "मैं साक्षी नहीं हूँ" तो उससे विवाद का

---

147. पाठीनराजीवरोहितावाद्यौ नियुक्तौ हव्यकव्ययोः। राजीवान्सिंहतुण्डांश्च सशल्कांश्चैव सर्वशः।।
श्वाविधं शल्यकं गोधां खड्गकूर्मशशांस्तथा। भक्ष्यान्पंचनखेष्वाहुरनुष्ट्रांश्चैकतो दतः।।
एतदुक्तं द्विजातीनां भक्षयाभक्ष्यमशेषतः। मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणवर्जने।।
प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया। यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यये।।
मनु. 5–16,18,26,27

148. अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी। संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः।।
मनु. 5–51

149. महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्। सत्क्रियाऽन्वासनं स्वादु भोजनं सूनृतं वचः।।
याज्ञ. 1–109

150. ब्राह्मणेषु क्षमी। याज्ञ. 1–334

आठ गुना जुर्माना लिया जाय, यदि ब्राह्मण ऐसा करे तो उसे केवल राज्य से निष्कासित करे।''[151] अब,यह व्यवस्था भी सरासर पक्षपातपूर्ण ही कही जायेगी। वस्तुतः जिस प्रकार कोयले की खान में चलता हुआ व्यक्ति कालिख लगने के भय से सावधान होकर चलता है किन्तु एक बार कालिख लग जाने पर वह कालिख से बचने का प्रयास नहीं करता उसी प्रकार पैतृक वर्ण के आधार पर वर्णनिश्चयरूपी पाप को स्वीकार कर लेने के पश्चात् याज्ञवल्क्य पक्षपातरूपी पाप से कैसे बच सकता है क्योंकि पैतृक वर्ण के आधार पर वर्णनिश्चय की बात तो पहले से ही पक्षपातपूर्ण है। इसमें उच्चवर्णीयों द्वारा सन्ततिमोह के कारण अपनी सन्तान को अपने समान ही श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कराने का आग्रह निहित है, भले ही वह पात्र हो अथवा अपात्र। इसी प्रकार अन्यत्र याज्ञवल्क्य कहता है – प्रतिलोमता से अर्थात् निम्नवर्णीय द्वारा उच्चवर्णीय के प्रति अपशब्द कहने पर दोगुना व तिगुना दण्ड होता है तथा अनुलोमता से अर्थात् उच्चवर्णीय द्वारा निम्नवर्णीय के प्रति अपशब्द कहने पर आधा अथवा उससे भी कम दण्ड होता है।''[152] यहाँ भी उच्चवर्णीय के लिए न्यून दण्ड तथा निम्नवर्णीय के लिए अतिरिक्त दण्ड का पक्षपातपूर्ण विधान किया गया है जो मनु के मनोवैज्ञानिक व न्यायोचित दण्डविधान से पूर्णतया विपरीत है।

इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने पक्षपातपूर्ण रीति से ब्राह्मण के लिए विशेषाधिकारों का विधान किया और आदर्शों, कर्तव्यों तथा दण्डों की मात्रा को विशेषरूपेण घटा दिया। यह सब प्रायः मनुस्मृति के प्रक्षिप्तांश से अनुप्रेरित है।

यदि यह मान लिया जाय कि शूद्र द्वारा शूद्र को अपशब्द कहने पर एक पण का दण्ड हो तो मनु के अनुसार दण्डविधान निम्नवत् होना चाहिए –

अपशब्द कहने वाला	**जिसके प्रति कहा जाय**	**दण्ड**
शूद्र	शूद्र	1
वैश्य	,,	2
क्षत्रिय	,,	4
ब्राह्मण	,,	8 से 16
राज्य का उच्चाधिकारी	शूद्र	500

151. पृथक्पृथग्दण्डनीयाः कूटकृत्साक्षिणस्तथा। विवादाद् द्विगुणं दण्डं विवास्यो ब्राह्मणः स्मृतः।।
यः साक्ष्यं श्रावितोऽन्येभ्यो निह्नुते तत्तमोवृतः। स दाप्योऽष्टगुणं दण्डं ब्राह्मणं तु विवासयेत्।।
याज्ञ. 2–81,82

152. प्रातिलोम्यपवादेषु द्विगुणत्रिगुणा दमाः। वर्णानामानुलोम्येन तस्मादर्धार्धहानितः।। याज्ञ. 2–207

स्वयं राजा	,,	1000
शूद्र	वैश्य	2
वैश्य	,,	4
क्षत्रिय	,,	8
ब्राह्मण	,,	16 से 32
राज्य का उच्चाधिकारी	,,	1000
स्वयं राजा	,,	2000
शूद्र	क्षत्रिय	3
वैश्य	,,	6
क्षत्रिय	,,	12
ब्राह्मण	,,	24 से 48
राज्य का उच्चाधिकारी	,,	1500
स्वयं राजा	,,	3000
शूद्र	ब्राह्मण	4
वैश्य	,,	8
क्षत्रिय	,,	16
ब्राह्मण	,,	32 से 64
राज्य का उच्चाधिकारी	,,	2000
स्वयं राजा	,,	4000

याज्ञवल्क्य के दण्डविधान का इतना भाग तो मनुसम्मत है कि उच्चवर्णीय के प्रति अपशब्द कहने पर उत्तरोत्तर अधिक दण्ड होना चाहिए किन्तु अपशब्द कहने वाला भी स्ववर्ण की उच्चता के अनुसार उत्तरोत्तर अधिक दण्डनीय होता है। इस द्वितीयांश की उपेक्षा याज्ञवल्क्य ने केवल जातिवादी दृष्टिकोण के कारण ही की है। इस प्रकार वर्ण–व्यवस्था के अनुसार उच्चवर्णीय के लिए जो सुविधाजनक है उसे तो याज्ञवल्क्य ने ग्रहण कर लिया है किन्तु जो असुविधाजनक है उसका परित्याग कर दिया है। ब्राह्मण वर्ण–व्यवस्था में सर्वोपरि होता है, अतः याज्ञवल्क्य ने उसके कर्तव्यों में अधिकतम छूट तथा अधिकारों में अधिकतम वृद्धि का पापपूर्ण विधान किया है।

।। इति तृतीयाध्यायान्तर्गतं तृतीयप्रकरणम्।।

क्षत्रिय के कर्तव्य व अधिकार

क्षत्रिय के कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए याज्ञवल्क्य कहता है कि "क्षत्रिय का प्रधान कर्म प्रजाओं का परिपालन (रक्षा) है। यज्ञ करना, अध्ययन करना तथा दान देना ये कर्म भी क्षत्रिय के हैं।"[153] यह विचार भी मनुस्मृति से यथावत् स्वीकार किया गया है।[154] क्षत्रिय के इन कर्मों का उल्लेख करते हुए मनु ने कहा है कि संक्षिप्तरूपेण ये क्षत्रिय के कर्म हैं क्योंकि व्यापार करने वालों से कर लेना तथा अपराध करने वालो को दण्ड देना आदि भी क्षत्रिय के ही कर्म हैं।

याज्ञवल्क्य स्मृति के आचाराध्यायान्तर्गत राजधर्मप्रकरण में क्षत्रिय के कर्तव्यादि का उल्लेख किया गया है। मनुस्मृति के सप्तम अध्याय में राजधर्म का वर्णन है। याज्ञवल्क्य स्मृति का राजधर्म प्रकरण मनुस्मृति के सप्तमाध्याय का यथावत् अनुकरण व संक्षिप्तीकरण है। चूँकि याज्ञवल्क्य ब्राह्मणों का पक्षपाती है, अतः वह क्षत्रियों के कर्तव्यों में कोई छूट नहीं करता। हाँ, सम्पूर्ण स्मृति में इतनी व्यवस्था अवश्य देखी जा सकती है कि उच्चवर्णीय के लिए निम्नवर्णीय की तुलना में अधिकारों तथा दण्डों में छूट का विधान किया गया है। इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने क्षत्रिय के लिए वैश्य व शूद्र की तुलना में अधिक अधिकारों का तथा न्यून दण्डों का विधान किया है।

।। इति तृतीयाध्यायान्तर्गतं चतुर्थप्रकरणम्।।

वैश्य के कर्तव्य व अधिकार

वैश्य के कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए याज्ञवल्क्य कहता है कि "कुसीद (ब्याज), कृषि, वाणिज्य और पशुपालन वैश्य के कर्म हैं। यज्ञ करना, अध्ययन करना तथा दान देना ये भी वैश्य के कर्म हैं।"[155] यह विचार भी मनुस्मृति से यथावत् स्वीकार किया गया है।[156] मनुस्मृति के द्वितीय अध्याय में ब्रह्मचर्य आश्रम का, तृतीय अध्याय में गृहस्थ आश्रम का, पंचम अध्याय में भक्ष्याभक्ष्यादि तथा षष्ठ अध्याय में वानप्रस्थ व संन्यास आश्रमों का वर्णन है जो द्विजमात्र के लिए समान है। मनुस्मृति के प्रथम अध्याय में

---

153. प्रधानं क्षत्रिये कर्म प्रजानां परिपालनम्। याज्ञ. 1–119

 इज्याध्ययनदानानि वैश्यस्य क्षत्रियस्य च। याज्ञ. 1–118

154. प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः।। मनु. 1–89

155. कुसीदकृषिवाणिज्यपशुपाल्यं विशः स्मृतम्। याज्ञ. 1–119

 इज्याध्ययनदानानि वैश्यस्य क्षत्रियस्य च। याज्ञ. 1–118

156. पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च।। मनु. 1–90

केवल एक–एक श्लोक में एक–एक वर्ण के पृथक्–पृथक् कर्मों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार चार श्लोकों में चारों वर्णों के पृथक्–पृथक् कर्मों का वर्णन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में ब्राह्मण के धर्मों (ब्रह्मधर्म) का तथा सप्तम, अष्टम व नवम अध्यायों में क्षत्रिय के धर्मों (राजधर्म) का विशेष वर्णन किया गया है। राजधर्म के ठीक पश्चात् मात्र छः श्लोकों में वैश्य के धर्मों (वैश्यधर्म) का तथा दो श्लोकों में शूद्र के धर्मों (शूद्रधर्म) का विशेष वर्णन किया गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति मनुस्मृति के अनुकरण तथा संक्षिप्तीकरण के आधार पर लिखी गयी है, अतः याज्ञवल्क्य ने आचाराध्याय के गृहस्थधर्म प्रकरण में केवल तीन श्लोकों में चारों वर्णों के कर्मों का सम्मिलितरूपेण वर्णन किया है तथा आचाराध्याय के ही स्नातकधर्म प्रकरण में ब्रह्मधर्म का तथा राजधर्म प्रकरण में राजधर्म का संक्षिप्त वर्णन किया है। संक्षिप्तीकरण की इस प्रवृति के कारण याज्ञवल्क्य ने वैश्यधर्म तथा शूद्रधर्म का कोई विशेष वर्णन नहीं किया है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि याज्ञवल्क्य ने वैश्य के लिए शूद्र की तुलना में अधिक अधिकारों तथा न्यून दण्डों का विधान किया है।

।। इति तृतीयाध्यायान्तर्गतं पंचमप्रकरणम् ।।

शूद्र के कर्तव्य व अधिकार

शूद्र के कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए याज्ञवल्क्य कहता है कि "द्विजों की सेवा करना शूद्र का कर्म है। उससे जीविका न चलने पर वह वाणिज्य करे अथवा द्विजों का हित करते हुए विविध प्रकार के शिल्पकर्मों से जीविका चलाये।"[157] यहाँ पर याज्ञवल्क्य ने द्विजों की सेवा को शूद्र का कर्म बताया है जो मनुसम्मत ही है।[158] किन्तु इसके साथ–साथ याज्ञवल्क्य यह भी कहता है कि यदि सेवावृत्ति से शूद्र का काम न चले तो वह द्विजों को लाभ पहुँचाते हुए वाणिज्य अथवा शिल्पकर्मों का आश्रय भी ले सकता है। वर्ण–व्यवस्था में द्विजों को शूद्रों द्वारा सेवाप्राप्ति हो ही रही थी किन्तु याज्ञवल्क्य की व्यवस्था में तो द्विजों को ऐसे शूद्र प्राप्त हुए जो सेवा करने के साथ–साथ न्यून मूल्य पर वस्तुएं भी प्रदान करें। वाह रे याज्ञवल्क्य महाशय! उच्चवर्णीयों का आपसे बड़ा हितैषी दूसरा कौन होगा ? वणिक् अथवा शिल्पी हो जाने पर भी याज्ञवल्क्य के विधान में शूद्र के वैश्य हो सकने की कोई सम्भावना नहीं है तो फिर क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण हो सकने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अपने जातिवादी दृष्टिकोण के कारण ही याज्ञवल्क्य ने शूद्रों के लिए ऐसा विधान किया है। याज्ञवल्क्य यह विचार भी मनुस्मृति के प्रक्षिप्तांश से ही अनुप्रेरित

157. शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा तयाऽजीवन्वणिग्भवेत्। शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेद् द्विजातिहितमाचरन्।। याज्ञ. 1–120

158. एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्। एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया।। मनु. 1–91

है ।[159] मनु तो स्पष्टतया कहते हैं कि ''स्वच्छ रहने वाला, उत्कृष्ट सेवा करने वाला, कोमल वचन बोलने वाला, अहंकार से रहित तथा ब्राह्मण आदि द्विजों के नित्य संसर्ग में रहने वाला शूद्र उत्कृष्ट जन्म अर्थात् द्विजत्व को प्राप्त कर लेता है।''[160] मनु का स्पष्ट घोष है कि न केवल किसी भी वर्ण के माता–पिता के यहाँ किसी भी अन्य वर्ण का जातक उत्पन्न हो सकता है अपितु व्यक्ति के स्वयं के वर्ण में भी परिवर्तन हो सकता है।[161] मनु के अनुसार यदि किसी शूद्र ने ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व अथवा वैश्यत्व की योग्यता प्राप्त कर ली है किन्तु उसकी आयु 16, 22 अथवा 24 से अधिक हो गयी है तो उससे तीन कृच्छ्रव्रत कराकर उसे द्विजत्व में दीक्षित किया जा सकतचा है।[162] किन्तु याज्ञवल्क्य वर्णों को वंशानुगत मानता है तथा ब्राह्मणों का घोर पक्षपाती है। अतः उसने निम्नवर्णीयों के अधिकारों और विकास के अवसरों का यथासम्भव हनन किया है। शूद्र निम्नतम वर्ण वाला है, अतः याज्ञवल्क्य के विधान में उसके लिए कर्तव्य तो असंख्य हैं किन्तु अधिकार व विकास के अवसर नाममात्र भी नहीं हैं। याज्ञवल्क्य के विधान में कहा गया है कि द्विजों के गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक के सभी संस्कार मन्त्रपूर्वक होते हैं किन्तु शूद्र का प्रत्येक संस्कार मन्त्ररहित होता है।[163] किन्तु मनु की व्यवस्था में प्रत्येक संस्कार मन्त्रपूर्वक ही होता है, भले ही वह किसी भी वर्ण वाले के लिए किया जाय। मनु की व्यवस्था में उपनयन संस्कार में असमर्थ अथवा अनिच्छुक व्यक्ति को ही शूद्र कहा जाता है क्योंकि उपनयनोपरान्त कठोर तप और अध्ययन करना पड़ता है जिसकी सामर्थ्य सभी के पास नहीं होती कुछ लोग उपनयन के बाद भी तप और अध्ययन में प्रमाद करते हैं, ऐसे लोगों को भी शूद्र ही माना जाना चाहिए।[164] किन्तु याज्ञवल्क्य की व्यवस्था में

---

159. अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम्। पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत्कारुककर्मभिः।।

यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः। तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च।।

मनु. 10–99,100

160. शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनहंकृतः। ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते।। मनु. 9–335

161. शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्। क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्यात्वैश्यात्तथैव च।। मनु. 10–65

162. येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधि। तांश्चारयित्वा त्रीन्कृच्छ्रान्यथाविध्युपनाययेत्।।

मनु. 11–191

163. ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णस्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः। निषेकाद्याः श्मशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः।।

याज्ञ. 1–10

164. न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमां। स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः।।

मनु. 2–102

वर्णप्राप्ति वंशपरम्परा से होती है तथा तीनों ही उच्च वर्णों द्वारा शूद्र का शोषण ही होता है। जरा–जरा सी बातों पर उसका अपमान तथा प्रताडन होता है जिन अपराधों पर उच्चवर्णीयों को साधारण दण्ड है उन्ही अपराधों पर उसे प्राणदण्ड तक दे दिया जाता है। उच्चवर्णीय यदि शूद्र पर झूठा आरोप भी लगाये तो उसे सत्य मान लिया जाता है किन्तु शूद्र द्वारा उच्चवर्णीय पर लगाये गये सच्चे आरोप पर भी विश्वास नहीं किया जाता और अनेक प्रकार से उस आरोप की परीक्षा की जाती है। याज्ञवल्क्य के विधान में तो जैसे शूद्र के जीवन और सम्मान का कोई मूल्य ही नहीं है। उसका जीवन एक अभिशाप की भाँति प्रतीत होता है जिसमें भीतर–बाहर सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार छाया हुआ है। यदि वह इस अन्धकार से बाहर आना भी चाहे तो उसे धक्का देकर और भी गहरे अन्धकार में धकेल दिया जाता है। शूद्रों के करुणक्रन्दन को इस भारतभूमि ने सहस्रों वर्षों तक सुना है। यह प्रताडित शूद्रों का शाप ही है कि इस भूमि को सैकड़ों वर्षों तक परतन्त्रता का मुख देखना पड़ा और कुपात्र होकर भी सुपात्र शूद्रों से बलपूर्वक अपनी सेवा कराने वाले उच्चवर्णीय स्वयं भी बाह्य शक्तियों के किंकर और भृत्य बनकर रह गये। जातितः वर्ण–व्यवस्था एक सामूहिक पाप था जिसके फलस्वरूप सामूहिक परतन्त्रता प्राप्त हुई। भले ही आज भारत तथाकथितरूपेण स्वतन्त्र है किन्तु वह अपने प्राचीन सांस्कृतिक, राजनैतिक और आर्थिक गौरव से हीन हो चुका है।

।। इति तृतीयाध्यायान्तर्गतं षष्ठप्रकरणम्।।

वर्ण तथा स्त्री में सम्बन्ध

चूँकि याज्ञवल्क्य वर्णों को वंशानुगत मानता है, अतः उसकी व्यवस्था में पुरुषों की भाँति स्त्रियों को भी वंशपरम्परा से ही वर्णप्राप्ति होती है। किन्तु स्त्री की स्ववर्णसम्बन्धी किसी शिक्षा का विधान याज्ञवल्क्य ने नहीं किया है क्योंकि याज्ञवल्क्य की व्यवस्था में द्विज स्त्रियाँ भी उपनयन से वंचित हैं, जैसे कि वे शूद्रतुल्य हों। याज्ञवल्क्य कहता है – ''स्त्रियों के गर्भाधान से लेकर चूडाकर्म तक के सभी संस्कार मन्त्रहित और चुपचाप होते हैं, केवल विवाह ही मन्त्रपूर्वक होता है (क्योंकि उसमें पुरुष भी सम्मिलित होता है)।''[165] अब, यदि स्त्री के सभी संस्कार मन्त्ररहित ही किये जाने चाहिए तो इससे तो यही सिद्ध होता है कि याज्ञवल्क्य के अनुसार लोगों को पहले से ही पता होता है कि किस गर्भाधान से पुत्र उत्पन्न होगा और किससे पुत्री। वस्तुतः याज्ञवल्क्य का यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण तथा पक्षपातपूर्ण ही है क्योंकि जन्म से पूर्ववर्ती तीनों संस्कार तो मन्त्रपूर्वक ही करने पड़ेंगे तथा जन्म के उपरान्त ही कन्या के साथ पक्षपात

165. तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः।। याज्ञ. 1–13

का आरम्भ किया जा सकता है। वस्तुतः याज्ञवल्क्य का यह विचार भी मनुस्मृति के प्रक्षिप्तांश से ही अनुप्रेरित है।[166] वस्तुतः मनु संस्कारों की दृष्टि से स्त्री व पुरुष में कोई भेद नहीं मानते। इसी कारण उन्होंने स्त्री के लिए पृथग्रूपेण केवल नामकरण संस्कार का ही उल्लेख किया है क्योंकि स्त्रियों का नाम पुरुषों के समान नहीं रखा जा सकता।[167] स्त्रियों के शेष समस्त संस्कार पुरुषवत् ही होते हैं, अतः स्त्रियों के लिए उनका पृथक् वर्णन अनपेक्षित ही है।

कन्या के विवाह के विषय में याज्ञवल्क्य का स्पष्ट मत है कि रजस्वला होने के पूर्व ही ब्रह्मचर्यपूर्वक पठित सवर्ण वर से उसका विवाह हो जाना चाहिए अन्यथा प्रत्येक रजोस्राव में उसके अभिभावकों को भ्रूणहत्या का पाप लगता है।[168] कहाँ तो मनु का यौवन में विवाह का विधान और कहाँ याज्ञवल्क्य का बालविवाह का विधान! मनु के अनुसार रजस्वला होने के तीन वर्ष बाद ही कन्या मनोशारीरिकरूपेण विवाह के योग्य होती है।[169] अल्पायु में विवाह होने पर कन्या तथा उसके गर्भस्थ शिशु दोनों के प्राणों तथा स्वास्थ्य को हानि पहुँचने की सम्भावना रहती है।

स्त्री व पुरुष परस्पर पूरक होते हैं। वे जीवनरथ के दो पहिए हैं। दोनों में से एक भी अविकसित हो तो जीवन सुचारुरूपेण चल नहीं सकता। याज्ञवल्क्य की व्यवस्था में शूद्रों की ही भाँति उन्हें भी ज्ञानप्राप्ति के मौलिक अधिकार से वंचित रखा गया तथा मूर्खों की भाँति जीवन व्यतीत करने हेतु विवश किया गया। भारत ने पराधीनता का जो काल देखा है उसमें शूद्रों के साथ–साथ स्त्रियों के शाप का भी योगदान है। कोई भी व्यक्ति अथवा समाज यदि अत्याचारी होता है तो उसे अपने अत्याचार का फल अवश्य भोगना पड़ता है। इस देश में स्त्रियों पर भी सहस्रों वर्षों तक अत्याचार किया गया जिसके परिणामस्वरूप यह देश सैकड़ों वर्षों तक बाह्य शक्तियों द्वारा पादाक्रान्त तथा धूलिधूसरित होता रहा।

।। इति तृतीयाध्यायान्तर्गतं सप्तमप्रकरणम्।।

---

166. अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः। संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम्।।
वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः। पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया।।

मनु. 2–66,67

167. स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम्। मंगल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत्।।

मनु. 2–33

168. अप्रयच्छन्समाप्नोति भ्रूणहत्यामृतावृतौ। याज्ञ. 1–64

169. त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती। ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम्।।

मनु. 9–90

अन्तर्जातीय विवाह

मनु की भाँति याज्ञवल्क्य भी सवर्ण विवाह का पक्षधर है किन्तु याज्ञवल्क्योक्त सवर्ण विवाह मनूक्त सवर्णविवाह की भाँति मनोवैज्ञानिक नहीं है क्योंकि मनु के विधान में वर्णप्राप्ति स्वभाव तथा अन्तःकरण के निर्णय पर आधारित है। अतः विवाह के लिए सवर्ण स्त्री–पुरुष ही अनुकूल होते हैं। किन्तु याज्ञवल्क्य के विधान में वर्णप्राप्ति वंशपरम्परा से होती है, भले ही वंशानुगत वर्ण स्वभाव से भिन्न हो। अतः वंशपरम्परया सवर्ण स्त्री–पुरुष वास्तविकरूपेण असवर्ण भी हो सकते हैं। ऐसे स्त्री–पुरुष का विवाह न तो वैयक्तिकरूपेण कल्याणकारी हो सकता है और न ही सामाजिकरूपेण। असवर्ण विवाह दो प्रकार के होते हैं – अनुलोम तथा प्रतिलोम। अनुलोम विवाह में वर कन्या से उच्चवर्णीय तथा प्रतिलोम विवाह में कन्या से निम्नवर्णीय होता है। अस्तु, याज्ञवल्क्य ने असवर्ण विवाह के दोनों प्रकारों में से केवल अनुलोम विवाह के लिए ही स्वीकृति प्रदान की है और उसमें भी शूद्र स्त्री से होने वाले अनुलोम विवाह हेतु याज्ञवल्क्य ने स्वीकृति प्रदान नहीं की है। याज्ञवल्क्य कहता है – ''द्विजों के शूद्र स्त्री से विवाह की जो बात कही जाती है वह मुझे मान्य नहीं है क्योंकि इस (द्विज) का जन्म वहीं (द्विज स्त्री में ही) होता है।''[170] वाह रे याज्ञवल्क्य महाशय! आप तो वर्णपतन रोकने हेतु बड़े ही चिन्तित प्रतीत होते हैं किन्तु यदि आपने केवल सवर्ण विवाह के लिए ही स्वीकृति दी होती तो यह कार्य और भी सरल हो जाता। वस्तुतः अनुलोम विवाह तो उच्चवर्णीय पुरुष के जात्यभिमान तथा बहुविवाहेच्छा का मूर्त रूप ही है, अतः इसकी स्वीकृति देना याज्ञवल्क्य की विवशता ही है। प्रतिलोम विवाह से उच्चवर्णीय पुरुषों के जात्यभिमान तथा बहुविवाहेच्छा पर आघात ही होता है, अतः याज्ञवल्य इसकी अनुमति भला कैसे दे सकता है ? किन्तु वैश्यों ने याज्ञवल्क्य का क्या विगाड़ा था जो उसने उनसे अनुलोम विवाह का अधिकार छीन लिया। अरे! जो धनवान् वैश्य हैं, वे तो किसी निर्धन वैश्य की कन्या से दूसरा विवाह कर लेंगे किन्तु जो वैश्य धनवान् नहीं हैं, उन्हें दूसरी पत्नी के रूप में शूद्रा कन्या ही प्राप्त हो सकती थी किन्तु याज्ञवल्क्य ने द्विजत्व की रक्षा के बहाने इस सम्भावना को ही नष्ट कर दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि याज्ञवल्क्य केवल ब्राह्मणों और क्षत्रियों का ही पक्षपाती है। वस्तुतः यह कहना और भी उचित होगा कि वह केवल ब्राह्मणों का ही पक्षपाती है। क्षत्रियों का थोड़ा–बहुत पक्षपात इसलिए करना पड़ता है क्योंकि वे शक्तिशाली हैं और शक्तिशाली के हितों पर आघात करना अपनी जान पर आफत मोल लेने के बराबर है। अतः यदि क्षत्रिय ब्राह्मण के साथ हैं तो फिर उसे वैश्य अथवा शूद्र का क्या भय हो सकता है ? इस प्रकार याज्ञवल्क्य की व्यवस्था में ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने मिलकर शेष समाज का भली–भाँति शोषण किया तथा शेष समाज

---

170. यदुच्यते द्विजातीनां शूद्राद्दारोपसंग्रहः। नैतन्मम मतं यस्मात्तत्रायं जायते स्वयम्।। याज्ञ. 1–56

के उच्चजातीयों ने भी अपने से निम्नजातीयों का यथाशक्ति शोषण किया।

।। इति तृतीयाध्यायान्तर्गतं अष्टमप्रकरणम्।।

प्रमुख एवं गौण जातियाँ (श्रेणियाँ)

याज्ञवल्क्य वंशानुक्रम से वर्णप्राप्ति मानता है, अतः उसकी व्यवस्था में समस्त प्रमुख एवं गौण जातियों के कर्म वंशानुगत ही होते हैं। उसके अनुसार चारों वर्ण ही प्रमुख जातियाँ हैं तथा सवर्ण स्त्री–पुरुषों के विवाह से उत्पन्न सन्तान अपने माता–पिता की जाति को ही प्राप्त करती है।[171] याज्ञवल्क्य का यह विचार भी मनुस्मृति के प्रक्षिप्तांश से ही अनुप्रेरित है।[172]

याज्ञवल्क्य के अनुसार गौण (सान्तराल) जातियों की उत्पत्ति असवर्ण विवाह से होती है। क्षत्रिया तथा वैश्या में उत्पन्न अनुलोमज सन्तानों को याज्ञवल्क्य ने द्विज (उपनयन का अधिकारी) ही माना है किन्तु शूद्रा में उत्पन्न अनुलोमज सन्तान को याज्ञवल्क्य ने द्विज नहीं माना है।[173] याज्ञवल्क्य का यह विचार भी मनुस्मृति के प्रक्षिप्तांश से ही अनुप्रेरित है। वहाँ कहा गया है – "द्विजों से सजातीय स्त्रियों में उत्पन्न **तीन** प्रकार के, ब्राह्मण से क्रमशः क्षत्रिया व वैश्या में उत्पन्न **दो** प्रकार के तथा क्षत्रिय से वैश्या में उत्पन्न **एक** प्रकार के (कुल छः प्रकार के) सुत द्विजधर्मों वाले होते हैं (अर्थात् शूद्रा में उत्पन्न अनुलोमज सुत द्विज नहीं होता) किन्तु सभी अपध्वंसज अर्थात् प्रतिलोमज शूद्रों के सधर्मा ही माने गये हैं।[174] अतः याज्ञवल्क्य भी प्रतिलोमजों को शूद्रों के तुल्य अथवा उनसे भी निम्नजातीय ही मानता है क्योंकि उच्चवर्णीय पुरुषों के जात्यभिमान के कारण यह स्पष्ट मान्यता थी कि प्रतिलोमज सन्तान अपने पिता से भी निम्नजातीय तथा अद्विज होती है।

अनुलोम विवाह से उत्पन्न गौण (सान्तराल) जातियों का उल्लेख याज्ञवल्क्य ने इस प्रकार किया है – "ब्राह्मण से क्षत्रिया में उत्पन्न पुत्र **मूर्धावसिक्त**, वैश्या में उत्पन्न पुत्र **अम्बष्ठ** तथा शूद्रा में उत्पन्न पुत्र **निषाद** या **पाराशव** होता है। क्षत्रिय से वैश्या व शूद्रा में उत्पन्न पुत्र क्रमशः **माहिष्य** और **उग्र** होते

---

171. सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः। अनिन्द्येषु विवाहेषु पुत्राः सन्तानवर्धनाः।। याज्ञ. 1–90
172. सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु। आनुलोम्येन सम्भूता जात्या ज्ञेयास्त एव ते।। मनु. 10–5
173. यदुच्यते द्विजातीनां शूद्राद्दारोपसंग्रहः। नैतन्मम मतं यस्मात्तत्रायं जायते स्वयम्।। याज्ञ. 1–56
174. सजातिजानन्तरजाः षट् सुता द्विजधर्मिणः। शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजा स्मृताः।।मनु. 10–41

हैं। वैश्य से शूद्रा में उत्पन्न पुत्र **करण** होता है।"[175] याज्ञवल्क्य का यह विचार भी मनुस्मृति के प्रक्षिप्तांश से ही अनुप्रेरित है किन्तु मनुस्मृति का वह प्रक्षेपकर्ता ब्राह्मण से क्षत्रिया में उत्पन्न पुत्र (मूर्धावसिक्त), क्षत्रिय से वैश्या में उत्पन्न पुत्र (माहिष्य) तथा वैश्य से शूद्रा में उत्पन्न पुत्र (करण) का उल्लेख करना भूल गया।[176] इस न्यूनता को याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति में दूर कर दिया है। प्रतिलोमज विवाह से उत्पन्न गौण जातियों का उल्लेख याज्ञवल्क्य ने इस प्रकार किया है – "ब्राह्मणी में क्षत्रिय से उत्पन्न पुत्र **सूत**, वैश्य से उत्पन्न पुत्र **वैदेहक** तथा शूद्र से उत्पन्न पुत्र **चण्डाल** होता है जो सभी धर्मिक कार्यों से बहिष्कृत होता है। क्षत्रिया वैश्य से **मागध** को तथा शूद्र से **क्षत्ता** को उत्पन्न करती है। वैश्या शूद्र से **आयोगव** नामक पुत्र को उत्पन्न करती है।"[177] याज्ञवल्क्य का यह विचार भी मनुस्मृति के प्रक्षितांश से ही अनुप्रेरित है।[178] इन अनुलोमजों तथा प्रतिलोमजों को **वर्णसंकर** अथवा **संकीर्ण** कहा गया। याज्ञवल्क्य के अनुसार संकीर्ण पुरुष से सजातीय स्त्री में उत्पन्न सन्तान सजातीय ही होती है। संकीर्ण पुरुष से विजातीय स्त्री में उत्पन्न सन्तान को याज्ञवल्क्य ने **संकीर्णसंकर** कहा है। याज्ञवल्क्य के अनुसार ये संकीर्णसंकर भी अनुलोमज होने पर (पिता के माता से उच्चजातीय होने पर) प्रशस्त तथा प्रतिलोमज होने पर (पिता के माता से निम्नजातीय होने पर) निन्दित, पिता से निम्नजातीय तथा अद्विज होते हैं। याज्ञवल्क्य ने माहिष्य (क्षत्रिय से वैश्या में उत्पन्न) से करणी (वैश्य से शूद्रा में उत्पन्न) संकीर्णसंकर को **रथकार** कहा है।[179]

मनुस्मृति के दशमाध्याय के प्रक्षिप्तांश में वर्णसंकरों तथा अनेकों संकीर्णसंकरों का उल्लेख है। वस्तुतः कथित वर्णसंकर (अनुलोमज व प्रतिलोमज) व संकीर्णसंकर जातियों की उत्पत्ति अनुलोम

---

175. विप्रान्मूर्धावसिक्तो हि क्षत्रियायां विशः स्त्रियाम्। अम्बष्ठः शूद्र्यां निषादो जातः पाराशवोऽपि वा।।
वैश्याशूद्र्योस्तु राजन्यमाहिष्योग्रौ सुतौ स्मृतौ। वैश्यात्तु करणः शूद्र्यां विन्नास्वेष विधिः स्मृतः।।
याज्ञ. 10–91,92

176. ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामम्बष्ठो नाम जायते। निषादः शूद्रकन्यायां यः पाराशव उच्यते।।
क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां क्रूराचारविहारवान्। क्षत्रशूद्रवपुर्जन्तुरुग्रो नाम प्रजायते।।
विप्रस्य त्रिषु वर्णेषु नृपतेर्वणयोर्द्वयोः। वैश्यस्य वर्णे चैकस्मिन्षडेतेऽपसदाः स्मृताः।।मनु. 10–8,9,10

177. ब्राह्मण्यां क्षत्रियात्सूतो वैश्याद्वैदेहकस्तथा। शूद्राज्जातस्तु चण्डालः सर्वधर्मबहिष्कृतः।।
क्षत्रिया मागधं वैश्याच्छूद्रात्क्षत्तारमेव च। शूद्रादायोगवं वैश्या जनयामास वै सुतम्।। याज्ञ. 1–93,94

178. क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः। वैश्यान्मागधवैदेहौ राजविप्रांगनासुतौ।।
शूद्रादायोगवः क्षत्ता चण्डालश्चाधमो नृणाम्। वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसंकराः।। मनु. 10–11,12

179. माहिष्येण करण्यां तु रथकारः प्रजायते। असत्सन्तस्तु विज्ञेयाः प्रतिलोमानुलोमजाः।। याज्ञ. 1–95

व प्रतिलोम विवाहों से नहीं हुई है। वे तो पहले से ही अस्तित्व रखती थीं किन्तु जब समाज में अनुलोमजों व प्रतिलोमजों को पिता की जाति में स्थान मिलना बन्द हो गया तो ऐसे जातकों को उपर्युक्त जातियों में स्थान देने का विधान किया गया और इस हेतु इन जातियों की उत्पत्ति का कारण असवर्ण विवाह को बताया गया।

याज्ञवल्क्य ने जात्युत्कर्ष (उच्चतर जाति की प्राप्ति) तथा जात्यपकर्ष (निम्नतर जाति की प्राप्ति) का भी विधान किया है। याज्ञवल्क्य के अनुसार ब्राह्मण से शूद्रा मेचं उत्पन्न कन्या पुनः ब्राह्मण से विवाहित होकर किसी कन्या को जन्म दे, वह कन्या पुनः ब्राह्मण से विवाहित होकर किसी कन्या को जन्म दे, इस प्रकार छठवीं मातृक पीढ़ी की कन्या से उत्पन्न सभी सन्तानें ब्राह्मण जाति की होंगी। इस प्रकार सातवीं पीढ़ी में जात्युत्कर्ष होगा। ब्राह्मण व शूद्र के मध्य तीन वर्णों का अन्तर है, अतः सातवीं पीढ़ी में जात्युत्कर्ष होगा किन्तु पति–पत्नी के बीच दो अथवा एक वर्ण का अन्तर होने पर क्रमशः छठवीं अथवा पाँचवीं मातृक पीढ़ी में जात्युत्कर्ष होगा। यह जातयुत्कर्ष अनुलोम विवाह में तथा माता–पुत्री परम्परा में ही हो सकता है। जात्यपकर्ष के विषय में याज्ञवल्क्य का मत है कि आपत्तिकाल समाप्त हो जाने पर भी निम्नजाति का कर्म करते रहने पर तीन, दो अथवा एक वर्ण के अन्तर के अनुसार क्रमशः सातवीं, छठवीं अथवा पाँचवीं पीढ़ी में उत्पन्न सन्तानें उसी जाति की मानी जायेंगी अर्थात् जात्यपकर्ष हो जायेगा।[180] यह जात्यपकर्ष पिता–पुत्र परम्परा में ही हो सकता है। याज्ञवल्क्य का जत्युत्कर्ष तथा जात्यपकर्ष का विचार भी मनुस्मृति के प्रक्षितांश से ही अनुप्रेरित है।[181]

वस्तुतः याज्ञवल्क्य जातिवादी तो है किन्तु वह उच्चजातीय व्यक्तियों से स्वजातीय कर्म करने तथा श्रेष्ठ आचरण की अपेक्षा भी करता हैं। इसी कारण उसने जात्यपकर्ष का विधान किया है। किन्तु उसका जात्युत्कर्ष का विधान अनुलोम विवाह में तथा माता–पुत्री परम्परा में होने के कारण केवल स्त्री जातकों का ही उत्थान कर सकता है, पुरुष जातकों का नहीं। इस कारण यह विधान उच्चवर्णीय पुरुषों की बहुविवाहेच्छा की तृप्ति का साधनमात्र रह जाता है और अनुलोमज स्त्री जातकों का विवाह उच्चवर्णीय पुरुषों से कराने के कारण अनुलोमज पुरुष जातकों के लिए कन्याओं की न्यूनता भी कर देता है।

वस्तुतः जात्युत्कर्ष तथा जात्यपकर्ष के विधान का मुख्य आधार ज्योतिष का भ्रान्त ज्ञान ही है। ज्योतिष के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि यदि कोई शुभ ग्रहयोग पिता–पुत्र परम्परा से चला आ

---

180. जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः सप्तमे पंचमेऽपि वा। व्यत्यये कर्मणां साम्यं पूर्ववच्चाधरोत्तरम्।। याज्ञ. 1–96

181. शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्प्रजायते। अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद् युगात्।।

मनु. 10–64

रहा हो तो निरन्तर अशुभ कर्म करने पर वह सातवीं पीढ़ी से आगे नहीं जा सकता। इस ज्योतिषीय तथ्य के आधार पर ही जात्यपकर्ष का विधान किया गया है। शुभ अथवा अशुभ ग्रहयोग माता–पुत्री परम्परा से भी चलते देखे जाते हैं।

।। इति तृतीयाध्यायान्तर्गतं नवमप्रकरणम् ।।

।। इति तृतीयोऽध्यायः ।।

चतुर्थ अध्याय

मनु एवं याज्ञवल्क्य की वर्ण–व्यवस्थाओं की तुलना

याज्ञवल्क्य द्वारा वर्णोपदेश में मनु को सर्वोत्तम मानना

याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति के आरम्भ में ही उन धर्मशास्त्रप्रयोजकों (स्मृतिकारों) का नामोल्लेख किया है जो उसे मान्य हैं। स्मृतिकारों की गणना करते हुए उसने बीस स्मृतिकारों का उल्लेख किया है जिनमें मनु प्रथमस्थानीय हैं।[182] याज्ञवल्क्य द्वारा मनु को प्रथमतः स्मरण करने से यह स्पष्टतया सिद्ध होता है कि वह मनु को सर्वश्रेष्ठ स्मृतिकार मानता है। जिन अन्य स्मृतिकारों का उसने उल्लेख किया हैं उनमें से अधिकांश ने भी अपनी स्मृतियों में मनु की श्रेष्ठता को स्वीकार किया है तथा अपने वचनों की पुष्टि हेतु मनु का उल्लेख भी किया है। अतः याज्ञवल्क्य स्मृति के अन्तःसाक्ष्य से ही सिद्ध होता है कि याज्ञवल्क्य वर्णाश्रम धर्मों के उपदेश में मनु को सर्वोत्तम मानता है।

।। इति चतुर्थाध्यायान्तर्गतं प्रथमप्रकरणम्।।

याज्ञवल्क्य द्वारा स्वयं को मनु का पूरक मात्र मानना

याज्ञवल्क्य स्वयमेव मनु को सर्वश्रेष्ठ स्मृतिकार मानता है। उसने अपनी स्मृति मनुस्मृति के अनुकरण तथा संक्षिप्तीकरण के आधार पर ही लिखी है। याज्ञवल्क्य स्मृति के प्रकरणविभाजन में भी मनुस्मृति के प्रकरणों के साथ अभूतपूर्व साम्य दृष्टिगोचर होता है। सम्पूर्ण याज्ञवल्क्य स्मृति मनुस्मृति की प्रतिकृति ही प्रतीत होती है।

अब, यदि याज्ञवल्क्य को मनुस्मृति की प्रतिकृति करना ही इष्ट था तो उसकी स्मृति का केवल इतना मूल्य हो सकता है कि उसमें मनुस्मृति के समस्त प्रकरण संक्षिप्तरूपेण देखने को मिल जाते हैं जिसके कारण लगभग 1000 श्लोकों में ही धर्मजिज्ञासु का समाधान हो जाता है और उसे मनुस्मृति के 2685 श्लोक पढ़ने की झंझट से मुक्ति मिल जाती है। किन्तु याज्ञवल्क्य का उद्देश्य केवल मनुस्मृति की प्रतिकृति करना ही नहीं था। वस्तुतः वह एक जातिवादी ब्राह्मण था तथा जातितः वर्ण–व्यवस्था को सुव्यवस्थित व सुरक्षित रूप प्रदान करने हेतु ही उसने अपनी स्मृति की रचना की है। उससे पूर्व भी अनेकों जातिवादी ब्राह्मण हो चुके हैं किन्तु उनमें से अधिकांश ने अपनी पृथक् स्मृति न बनाकर मनुस्मृति

---

182. मन्वत्रिविष्णुहारीतयाज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिराः। यमापस्तम्बसंवर्ताः कात्यायनबृहस्पती।।

पराशरव्यासशंखलिखिता दक्षगौतमौ। शातातपो वसिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः।। याज्ञ. 1–4,5

में प्रक्षेप करने का ही कार्य किया। यह प्रक्षेपकार्य भी शताब्दियों तक चलता रहा। इन समस्त प्रक्षेपों में भी पर्याप्त तथा स्पष्ट मतभेद हैं। जिन जातिवादी ब्राह्मणों ने अपने आशय की पृथक् स्मृतियाँ बनायीं, उन्होंने अपनी स्मृतियों को स्वयं के स्थान पर महर्षियों द्वारा रचित ही प्रदर्शित किया ताकि उनकी स्मृतियों को सामाजिक मान्यता प्राप्त हो सके किन्तु इन स्मृतियों में भी पर्याप्त मतभेद हैं। इस जातिवाद के कारण भारतवर्ष ज्ञान–विज्ञान की दृष्टि से ही नहीं अपितु राजनैतिक व सामरिक दृष्टि से भी हीन हो गया। अतः सम्पन्न किन्तु दुर्बल भारत धनलोलुप आक्रान्ताओं के आकर्षण का केन्द्र बन गया। इन आक्रान्ताओं ने धन के साथ–साथ भारत के स्त्रीवर्ग, शास्त्रों तथा उपासना–पद्धतियों पर भी आघात करना प्रारम्भ कर दिया। अतः इस चौतरफा आक्रमण से रक्षा हेतु बालविवाह इत्यादि का भी विधान करना पड़ा। ऐसे आपत्कालीन विधानों में भी पर्याप्त मतभेद था। इस प्रकार समस्त प्रक्षेपों सहित मनुस्मृति तथा अन्य स्मृतियों में इतना मतवैभिन्न्य हो गया कि बात–बात में धर्मशंका उपस्थित होने लगी। इस समस्त मतवैभिन्न्य को समायोजित करने हेतु याज्ञवल्क्य ने महर्षि याज्ञवल्क्य के नाम पर अपनी स्मृति की रचना की। उसने इस कार्य में बहुत बड़ी सीमा तक सफलता प्राप्त की। इसी कारण उसकी स्मृति को जातिवादी भारतीय समाज में पर्याप्त आदर और प्रशंसा की प्राप्ति हुई।

याज्ञवल्क्य की स्मृति में मनुस्मृति के साथ जो साम्य दृष्टिगोचर होता है उसका मुख्य कारण यह है कि मनुस्मृति के समस्त विषयों का क्रम अत्यन्त सहज तथा वर्णन की रीति अत्यन्त सरल, सुबोध एवं वैज्ञानिक है। इतना ही नहीं, मनुस्मृति के समस्त विषय जीवन से पूर्णरूपेण सम्बद्ध हैं तथा मनु ने किसी भी विषय का जितना वर्णन किया है, उससे कम वर्णन में उस विषय को स्पष्ट नहीं किया जा सकता था। इसके साथ–साथ मनुस्मृति की शैली ऐसी है कि वह बुद्धि के साथ–साथ हृदय का भी जागरण करती है। वह कोई शुष्क बौद्धिक ग्रन्थ नहीं है अपितु सरसता व आध्यात्मिकता से ओत–प्रोत प्रेरणादायी धर्मशास्त्र है। मनुस्मृति की इन सब विशेषताओं के कारण याज्ञवल्क्य को मनुस्मृति के विषयों के अनुरूप ही अपनी स्मृति का प्रकरणविभाजन ही नहीं अपितु प्रायः यथावत् वर्णन भी करना पड़ा। उसने बड़ी ही कुशलतापूर्वक मनुस्मृति के मूलांश के साथ मनुस्मृति के प्रक्षिप्तांश की तथा अन्य जातिवादी स्मृतियों के मतवैभिन्न्य की सुसंगति स्थापित करने का प्रयास किया। इस प्रयास में वह बड़ी सीमा तक सफल भी हुआ किन्तु उसकी स्मृति में उस सरसता तथा सहजता के दर्शन नहीं होते जो मनुस्मृति में अत्यन्त सुलभ है। वस्तुतः अपने प्रक्षिप्तांशसहित मनुस्मृति एक ऐसा संविधान है जो परस्परविरोधी कथनों के कारण न तो स्पष्टतया रुचितः वर्ण–व्यवस्था का प्रतिपादक प्रतीक होता है और न ही जातितः वर्ण–व्यवस्था का। याज्ञवल्क्य ने इस खिचड़ी संविधान के आधार पर एक स्पष्ट व्यवस्था देने हेतु अपनी स्मृति की रचना

की तथा उसमें कालधर्म को भी स्थान दिया। इस गुरुतर कार्य को करने के कारण याज्ञवल्क्य अपनी स्मृति में सरसता का ध्यान नहीं रख पाया किन्तु जातिवादी दृष्टिकोण से देखने पर उसकी स्मृति पूर्णरूपेण सहज एवं न्यायसंगत ही प्रतीत होती है। इस प्रकार याज्ञवल्क्य स्मृति मनुस्मृति की अनुकृति मात्र न होकर उसका संशोधित एवं परिपूरक किन्तु शुद्ध जातिवादी रूप है। चूँकि याज्ञवल्क्य ने स्वयमेव मनु को सर्वश्रेष्ठ स्मृतिकार माना है तथा मनुस्मृति के अनुकरण व संक्षिप्तीकरण के आधार पर ही अपनी स्मृति को लिखा है। अतः वह स्वयं को मनु का पूरक मात्र ही मानता है।

।। इति चतुर्थाध्यायान्तर्गतं द्वितीयप्रकरणम्।।

याज्ञवल्क्य की मनु से सहमति

यदि मनुस्मृति के अनुकरण तथा संक्षिप्तीकरण के आधार पर याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति की रचना की है तो यह कैसे हो सकता है कि मनु से उसकी सहमति न हो !

वस्तुतः दो–चार अतिरिक्त विधानों के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य का प्रायः कोई विधान ऐसा नहीं है जो मनुस्मृति में न दिखाया जा सके। अतः इस दृष्टि से तो याज्ञवल्क्य की मनुस्मृति से पूर्ण सहमति है किन्तु वर्तमान मनुस्मृति का आधे से अधिक भाग मनूक्त न होकर प्रक्षिप्त है। यद्यपि कुछ प्रक्षेप ऐसे हैं जो मनु के समर्थन व प्रशंसा में किये गये तथा कुछ ऐसे भी हैं जिनका आशय श्रेष्ठ व न्यायंगत है किन्तु प्रक्षेप तो प्रक्षेप ही होता है। यदि किसी भी रूप में प्रक्षेप की प्रवृत्ति का समर्थन कर दिया जाये तो स्वार्थी और दुराशय जन भी अपने आशयों के प्रक्षेप कर ही देंगे और यही मनुस्मृति के साथ होता रहा। अतः प्रक्षेप की प्रवृत्ति सर्वथा अमान्य है। अस्तु, यदि प्रक्षिप्त भाग को छोड़कर शेष मनुस्मृति पर विचार किया जाय तो उसके भी एक बड़े भाग से याज्ञवल्क्य की सहमति है और इसका कारण यह है कि मनु का प्रवचन जीवन से इतना अधिक सम्बद्ध है कि उसकी उपेक्षा करना सम्भव नहीं है। जिन विषयों में याज्ञवल्क्य की मनु से सहमति है उनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं –

1. संस्कारविषयक सहमति – मनु के अनुसार द्विजत्व के सम्यक् विकास हेतु षोडश संस्कार न केवल अतिमहत्त्वपूर्ण हैं अपितु इनके द्वारा जातक के बैजिक दोष (माता–पिता के जननाणुओं में निहित आनुवांशिक दोष) तथा गार्भिक दोष (गर्भावस्था में माता–पिता से प्राप्त अथवा दुर्घटनाजन्य दोष) भी दूर हो जाते हैं।[183]

---

183. गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौलमौंजीनिबन्धनैः। बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते।। मनु. 2–27

याज्ञवल्क्य भी मनु के उपर्युक्त विधान से पूर्णतया सहमत है।[184] किन्तु याज्ञवल्क्य ने **निषेक** (गर्भाधान संस्कार) को उतना महत्त्व नही दिया जितना मनु ने दिया है। मनु के अनुसार तो विधिवत् गर्भाधान संस्कार किये बिना द्विजत्व की कोई गारण्टी नहीं है। वस्तुतः विवाहपूर्व संस्कारों में से उपनयन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है तथा उपनयन के पूर्ण साफल्य के लिए विधिवत् गर्भाधान संस्कार अनिवार्य है।

वस्तुतः गर्भाधान तथा उपनयन संस्कार गोत्र–व्यवस्था के आधार हैं। गोत्र–व्यवस्था के अनुसार किसी श्रेष्ठ व विद्वान् सगोत्र ब्राह्मण द्वारा बताये गये तिथि–मुहूर्त–नक्षत्रादि में हवनादिपूर्वक गर्भाधान संस्कार किया जाना चाहिए तथा जातक को विद्याध्ययन हेतु उसी ब्राह्मण के समीप ले जाना चाहिए। गोत्र–व्यवस्था में माता–पिता तथा आचार्य जातक के जन्म के पश्चात् नहीं अपितु गर्भाधान से पूर्व ही उसके विकास की योजना बनाते हैं। वस्तुतः गर्भाधान संस्कार के समय ही आचार्य जातक का गुरु बन जाता है। उपनयन संस्कार में वह औपचारिकरूपेण भी जातक का गुरु बन जाता है।[185] इसी कारण उपनयन संस्कार का सामान्य विधान करते हुए मनु ने गर्भाधानकाल से ही जातक की आयु का परिगणन किया है।[186] किन्तु याज्ञवल्क्य ने उपनयन संस्कार का सामान्य विधान करते हुए गर्भाधानकाल के साथ–साथ वैकल्पिकरूपेण जन्मकाल से भी जातक की आयु का परिगणन किया है।[187] जातिवादी होने के कारण ही याज्ञवल्क्य यह नहीं समझ सका कि गर्भाधान संस्कार के बिना द्विज स्वभाव के जातक की उत्पत्ति की कोई गारण्टी नहीं होती।

मनु ने केशान्त संस्कार का विधान करते हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य के लिए क्रमशः 16, 22 व 24 वर्ष की आयु का विधान किया हैं।[188] किन्तु याज्ञवल्क्य ने ''केशान्तश्चैव षोडशे'' (याज्ञ. 1–36) कहकर द्विजमात्र के लिए 16वें वर्ष में केशान्त संस्कार का सामान्य विधान किया है। वस्तुतः द्विजमात्र अनौपचारिकरूपेण ब्राह्मण ही होता है तथा ब्राह्मण का केन्द्रीय कर्म अध्यापन है, अतः अध्यापन ब्रह्मचर्य का अनिवार्य अंग है। इस हेतु ही केशान्त संस्कार किया जाता है। केशान्त संस्कार में सिर तथा

---

184. गर्भाधानमृतौ पुंसः सवनं स्पन्दनात्पुरा। षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तो मास्येते जातकर्म च।।
अहन्येकादशे नाम चतुर्थे मासि निष्क्रमः। षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि चूडा कार्या यथाकुलम्।।
एवमेनः शमं याति बीजगर्भसमुद्भवम्। याज्ञ. 1–11,12,13
185. निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि। सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते।।मनु. 2–142
186. गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्। गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः।। मनु. 2–36
187. गर्भाष्टमेऽष्टमे वाऽब्दे ब्राह्मणस्योपनायनम्। राज्ञामेकादशे सैके विशामेके यथाकुलम्।। याज्ञ. 1–14
188. केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते। राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः।। मनु. 2–65

दाढ़ी–मूँछ के बालों का क्षौर किया जाता है तथा संस्कृत ब्रह्मचारी आचार्यनिर्दिष्ट किसी नवीन ब्रह्मचारी को पढ़ाता है। इस संस्कार के होते ही प्रत्येक ब्रह्मचारी आचार्य के निर्देशानुसार प्रतिदिन अन्य कनिष्ठ ब्रह्मचारियों का अध्यापन करता है। जब ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य के उपनयनकाल में भेद है तो उनके केशान्तकाल में भी भेद होना स्वाभाविक ही है। किन्तु याज्ञवल्क्य ने इस संस्कार का अर्थ केवल बाल मुँडाना मात्र ही समझ लिया है। इसी कारण उसने द्विजमात्र के लिए 16वें वर्ष का सामान्य विधान कर दिया है।

इसी प्रकार विवाहादि अन्य संस्कारों के विषय में भी याज्ञवल्क्य की मनु से प्रायः पूर्ण सहमति है।

2. पंचमहायज्ञविषयक सहमति – वस्तुतः मनुष्य का अस्तित्व कभी भी हिंसामुक्त नहीं हो सकता। यदि वह साँस भी लेता है तो इससे भी सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है। अतः गृहस्थ जीवन में चूल्हा–चक्की, झाड़–पौंछ इत्यादि सभी कार्यों में सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती ही है। इस हिंसा के प्रायश्चित्तस्वरूप महर्षियों ने पंचमहायज्ञों का विधान किया है। मनु भी यही कहते हैं कि पंचमहायज्ञों को करने वाला इस सूक्ष्म और अनैच्छिक हिंसा के पाप से मुक्त हो जाता है।[189] याज्ञवल्क्य ने भी पंचमहायज्ञों से पूर्ण सहमति प्रदर्शित की है।[190] याज्ञवल्क्य के मनुष्ययज्ञ (अतिथियज्ञ) में ब्राह्मण अतिथि के सत्कार हेतु बड़े बैल या बड़े बकरे का मांस प्रस्तुत करने का विधान है।[191] अब, याज्ञवल्क्य का यह अतिरिक्त विधान तो पूर्णतया तामस तथा मनुविरुद्ध ही है।

3. विवाहविषयक सहमति – मनु ने विवाह के ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच ये आठ प्रकार बताये हैं। इनमें से प्रथम चार को उन्होंने सभी वर्णों के लिए श्रेष्ठ तथा शेष को उत्तरोत्तर गर्हित बताया है।[192] याज्ञवल्क्य ने भी इस विषय में मनु से सहमति प्रकट की है।[193]

4. रजोकाल तथा पर्वदिनों में अमैथुनविषयक सहमति तथा परस्त्रीगमननिषेधविषयक सहमति – मनु के अनुसार स्त्री के रजोकाल में गृहस्थ को उसके साथ नहीं सोना चाहिए क्योंकि इससे

---

189. अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्। होमो दैवो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्।।

पंचैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः। स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते।। मनु. 3–70,71

190. बलिकर्मस्वधाहोमस्वाध्यायातिथिसत्क्रियाः। भूतपित्रमरब्रह्ममनुष्याणां महामखाः।। याज्ञ. 1–102

191. महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्। सत्क्रियाऽन्वासनं स्वादु भोजनं सूनृतं वचः।। याज्ञ. 1–109

192. ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः। गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः।।

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः। ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्राः जायन्ते शिष्टसम्मताः।। मनु. 3–21,39

193. अनिन्द्येषु विवाहेषु पुत्राः सन्तानवर्धनाः। याज्ञ. 1–90

पुरुष की मनोशारीरिक हानि होती है।[194]

इसी प्रकार मनु ने चान्द्र पर्वों (कृष्ण चतुर्दशी–अमावस्या–शुक्ल प्रतिपदा, शुक्ल चतुर्दशी–पूर्णिमा, दोनों अष्टमी, उपभू व अपभू) तथा सौर पर्वों (दक्षिणायनारम्भ, उत्तरायणारम्भ, दोनों विषुव दिवस, उपसौरिका व अपसौरिका) में भी गृहस्थ के लिए ब्रह्मचारी रहने का निर्देश दिया है क्योंकि महर्षियों ने इन पर्वों को पवित्र दिनों (Holidays) के रूप में मनाने का विधान किया है। इन पर्वों में विशेष हवन, उपासना आदि धार्मिक कृत्य किये जाते हैं जो ब्रह्मचर्यपूर्वक किये जाने पर ही सफल होते हैं।[195] अन्य वैतानिक तथा विशेष यज्ञों में भी यजमान तथा पुरोहित को ब्रह्मचारी रहना चाहिए।

इसी प्रकार मनु ने स्वस्त्रीगमन को ही वैधानिक कहा है तथा परस्त्रीगमन को पाप तथा अपराध माना है।[196] याज्ञवल्क्य ने भी मनु के इन तीनों विधानों को पूर्णतया स्वीकार किया है।[197] वस्तुतः तीनों विधान परस्परपूरक ही हैं।

5. नियोगविषयक सहमति – सन्तानाभाव की दशा में घर के बड़े–बूढ़ों की अनुमति से स्नुषा (घर की बहू) द्वारा अपने मृत अथवा प्रजनन में असमर्थ पति के भ्राता के साथ ऋतुकाल में केवल एक बार विधिपूर्वक किया गया मैथुन **नियोग** कहलाता है। नियोग करने वाला पुरुष उस स्त्री का **नियुक्त पति** तथा सन्तान का **नियुक्त पिता** कहलाता है। मनु ने पूर्ववर्ती महर्षियों का विधान बताते हुए कहा है कि सन्तान वस्तुतः पति की होती है तथा उसी के गोत्र को प्राप्त करती है न कि स्त्री के गोत्र को किन्तु **क्षेत्री** (विवाहित पति) तथा **बीजी** (नियुक्त पति) में से एक ही उस सन्तान का अधिकारी होता है, न कि दोनों।[198] निम्नोक्त चार दशाओं में नियोग किया जा सकता है –

1. स्त्री के विधवा व सन्तानहीन होने पर – इस दशा में स्त्री के मृत पति का वंश चलाने हेतु नियोग किया जाता है। मृत पति का सगा छोटा भाई, सगा बड़ा भाई अथवा सपिण्ड भाई (मृतक

---

194. नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तवदर्शने। समानशयने चैव न शयीत तया सह।।

रजसाऽभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः। प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते।।

तां विवर्जयतस्तस्य रजसा समभिप्लुताम्। प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्धते।। मनु. 4–40,41,42

195. अमावस्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम्। ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः।। मनु. 4–128

196. ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा। पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया।। मनु. 3–45

197. षोडशर्तुनिशाः स्त्रीणां तस्मिन्युग्मासु संविशेत्। ब्रह्मचार्येव पर्वाण्याद्याश्चतस्रस्तु वर्जयेत्।।

यथाकामी भवेद्वापि स्त्रीणां वरमनुस्मरन्। स्वदारनिरतश्चैव स्त्रियो रक्ष्या यतः स्मृताः।। याज्ञ. 1–79,81

198. भर्तुः पुत्रं विजानन्ति श्रुतिद्वैधं तु भर्तरि। आहुरुत्पादकं केचिदपरे क्षेत्रिणं विदुः।। मनु. 9–32

के पितृव्य का पुत्र, मृतक के पिता के पितृव्य का पौत्र, मृतक के पितामह के पितृव्य का प्रपौत्र इत्यादि) क्रमशः नियोग के अधिकारी होते हैं अर्थात् पूर्ववर्ती के न होने पर उत्तरवर्ती नियोग का अधिकारी होता है।[199] यदि मृत पति का अनुज अविवाहित हो तो धर्मतः उसके साथ विधवा का पुनर्विवाह हो सकता है।[200]

2. पति सन्तानोत्पत्ति में अक्षम हो तो – इस दशा में भी स्त्री के पति का वंश चलाने हेतु उसके पति का अनुज, अग्रज अथवा सपिण्ड भाई नियोग करता है।

3. पुरुष के विधुर व सन्तानहीन होने पर – इस दशा में अपना वंश चलाने हेतु पुरुष क्रमशः अपने सगे बड़े भाई, सगे छोटे भाई अथवा सपिण्ड भाई की पत्नी से नियोग करने का अधिकारी होता है अर्थात् पूर्ववर्ती के न होने पर उत्तरवर्ती की पत्नी से नियोग होता है।

4. पत्नी सन्तानोत्पत्ति में अक्षम हो तो – इस दशा में अपना वंश चलाने हेतु पुरुष पूर्ववत् क्रमशः अपने सगे बड़े भाई, सगे छोटे भाई, अथवा सपिण्ड भाई की पत्नी से नियोग करने का अधिकारी होता है।

तृतीय व चतुर्थ दशा में सन्तानेच्छु पुरुष का सगा बड़ा भाई, सगा छोटा भाई अथवा सपिण्ड भाई यदि अपनी पत्नी को नियोग की अनुमति न दे अथवा उसकी पत्नी स्वयमेव नियोग की स्वीकृति न दे तो धर्मतः पुरुष अपनी पत्नी की कुमारी सगी छोटी बहिन से पुनर्विवाह भी कर सकता है। पत्नी की अविवाहित सगी छोटी बहिन के न होने पर वह किसी अन्य कन्या से भी पुनर्विवाह कर सकता है।

याज्ञवल्क्य ने भी नियोग के मनूक्त विधान से सहमति प्रकट की है किन्तु वह केवल **क्षेत्री** (विवाहित पति) को ही सन्तान का अधिकारी मानता है न कि **बीजी** (नियुक्त पति) को।[201] इस प्रकार याज्ञवल्क्य के अनुसार तृतीय व चतुर्थ दशा में नियोग के स्थान पर पुनर्विवाह ही वैधानिक है।[202] इस विषय में हमारी भी याज्ञवल्क्य से पूर्ण सहमति है। इतना ही नहीं, हमारे अनुसार प्रथम दशा में स्त्री को पुनर्विवाह कर लेना चाहिए। यदि स्त्री के सभी देवर विवाहित हों तो वह मनोवांछित देवर से पुनर्विवाह

199. देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया। प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये।। मनु. 9–59

200. यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः। तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः।। मनु. 9–69

201. अपुत्रां गुर्वनुज्ञातो देवरः पुत्रकाम्यया। सपिण्डो वा सगोत्रो वा घृताभ्यक्त ऋतावियात्।।

आ गर्भसंभवाद् गच्छेत्पतितस्त्वन्यथा भवेत्। अनेन विधिना जातः क्षेत्रजोऽस्य भवेत्सुतः।।

याज्ञ. 1–68,69

202. दाहयित्वाग्निहोत्रेण स्त्रियं वृत्तवतीं पतिः। आहरेद्विविधवद्दारानग्नींश्चैवाविलम्बयन्।। याज्ञ. 1–89

कर ले तो इसमें भी कोई दोष नहीं है क्योंकि अपने भाई की विधवा को आश्रय देना नैतिक कर्तव्य है। यदि द्वितीय दशा में भी स्त्री पुनर्विवाह करना चाहे तो हम उसका भी पूर्ण अनुमोदन करते हैं।

वैज्ञानिक उन्नति हो जाने के कारण अब तो नियोग के स्थान पर **बीजी** (नियुक्ति पति) का बीज (जननद्रव्य) लेकर स्त्री का कृत्रिम गर्भाधान ही किया जाता है। प्रजनन में असमर्थ पति प्रायः किसी वीर्य बैंक (Cemen Bank) से स्वपत्नी का कृत्रिम गर्भाधान करा लेते हैं। यह प्रवृत्ति अत्यन्त घातक तथा गोत्र–व्यवस्था की नाशक है क्योंकि इसमें वीर्यदाता के कुल, गोत्र आदि का कोई पता–ठिकाना नहीं होता।

6. कुटिलता तथा शठता से युक्त वृत्ति के निषेध में सहमति – मनु ने लोकाचार में धनप्राप्ति हेतु प्रायः कुटिलता तथा शठता से युक्त वृत्ति का निषेध किया है तथा सन्तोष को ही सुख का मूल कारण बताया है।[203] याज्ञवल्क्य ने भी मनु के इस विधान से पूर्ण सहमति प्रकट की है।[204]

7. सौम्यवेशभूषाविषयक सहमति – मनु ने गृहस्थ के लिए नख, केश, श्मश्रु कटवाते रहने तथा श्वेत वस्त्र धारण करने का विधान किया है क्योंकि सौम्यवेशभूषा शुचिता, संयम, स्वाध्याय तथा अध्यात्म में सहयोगी होती है।[205] याज्ञवल्क्य ने भी इस विषय में मनु से सहमति प्रकट की है।[206]

8. ब्राह्ममुहूर्त में जागरणविषयक सहमति – मनु ने गृहस्थ के लिए सूर्योदय से पूर्व ही स्नानादि से निवृत्त होकर दीर्घकाल तक सन्ध्योपासनादि करने का विधान किया है। मनु के अनुसार इस विधान का पालन करने के कारण ही ऋर्षियों ने दीर्घ आयु, प्रज्ञा, यश, कीर्ति तथा ब्रह्मज्ञान को प्राप्त किया।[207]

---

203. न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथंचन। अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद् ब्राह्मणजीविकाम्।।

सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्। सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः।। मनु. 4–11,12

204. वयोबुद्ध्यर्थवाग्वेषश्रुताभिजनकर्मणाम्। आचरेत्सदृशीं वृत्तिमजिह्मामशठां तथा।। याज्ञ. 1–123

205. क्लृप्तकेशनखश्मश्रुर्दान्तः शुक्लाम्बरः शुचिः। स्वाध्याये चैव युक्तः स्यान्नित्यमात्महितेषु च।।मनु. 4–35

206. शुक्लाम्बरधरो नीचकेशश्मश्रुनखः शुचिः। याज्ञ. 1–131

207. ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्। कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च।।

उत्थावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः। पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्स्वकाले चापरां चिरम्।।

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः। प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च।। मनु. 4–92,93,94

याज्ञवल्क्य ने भी मनु के उपर्युक्त विधान से पूर्ण सहमति प्रकट की है।[208]

9. सत्य एवं प्रियभाषण के विषय में सहमति – मनु ने ब्राह्मण के लिए ऐसे वचन ही बोलने का विधान किया है जो सत्य भी हों तथा प्रिय भी हों।[209] याज्ञवल्क्य ने भी इस विषय में मनु से सहमति प्रकट की है।[210]

10. मानार्हताविषयक सहमति – मनु ने धन, सम्बन्ध (कुटुम्ब, कुल आदि) आयु, श्रेष्ठ कर्म तथा अध्यात्मविद्या को क्रमशः मान्य के स्थान कहा है जो उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। मनु के अनुसार उक्त पाँचों गुणों में से उच्चतर गुण जिसमें अधिक हों वह न्यून गुणवालों के द्वारा सम्माननीय है तथा **दशमी** अवस्था को प्राप्त (नब्बे वर्ष से अधिक आयु वाला) शूद्र भी सभी के द्वारा सम्मानीय है।[211] याज्ञवल्क्य ने भी इस विषय में सहमति प्रकट की हैं।[212] मनु के अनुसार उक्त पाँच गुणों से रहित होने पर भी नब्बे वर्ष का शूद्र उन सभी के द्वारा सम्माननीय है जो नब्बे वर्ष से न्यून आयु के हैं किन्तु याज्ञवल्क्य ने उक्त पाँच गुणों के होने पर ही नब्बे वर्ष के शूद्र को सम्माननीय माना है। याज्ञवल्क्य की यह संकीर्णता जातिवाद पर ही आधारित है।

11. पन्थदानविषयक सहमति – मनु के अनुसार रथ या गाड़ी पर सवार नब्बे वर्ष से अधिक आयु वाला, रोगी, भार से युक्त, स्त्री, स्नातक ब्राह्मण, राजा तथा दूल्हे के लिए पहले रास्ता देना चाहिए। इन सभी के एक साथ होने पर स्नातक ब्राह्मण तथा राजा सबके द्वारा सम्माननीय हैं। इन दोनों में "स्नातक ब्राह्मण" राजा के द्वारा सम्माननीय है।[213] याज्ञवल्क्य ने भी इस विषय में सहमति प्रकट की

---

208. शरीरचिन्तां निर्वृत्य कृतशौचविधिर्द्विजः। प्रातः संध्यामुपासीत दन्तधावनपूर्वकम्।।

ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय चिन्तयेदात्मनो हितम्। धर्मार्थकामान्स्वे काले यथाशक्ति न हापयेत्।।

याज्ञ. 1–98,115

209. सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः।। मनु. 4–138

210. न संशयं प्रपद्येत नाकस्मादप्रियं वदेत्। नाहितं नानृतं चैव न स्तेनः स्यान्न वार्धुषी।। याज्ञ. 1–132

211. वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पंचमी। एतानि मान्यस्थानानि गरीय यद्यदुत्तरम्।।

पंचानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च। यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः शूद्रोऽपि दशमीं गतः।।

मनु. 2–136,137

212. विद्याकर्मवयोबन्धुवित्तैर्मान्या यथाक्रमम्। एतैः प्रभूतैः शूद्रोऽपि वार्धकि मानमर्हति।। याज्ञ. 1–116

213. चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः। स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च।।

तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ। राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक्।। मनु. 2–138,139

है।[214]

12. इन्द्रियचापल्यत्यागविषयक सहमति – मनु ने कहा है कि "हाथ, पैर, आँख, वाणी आदि से चपलता न करें। कुटिलता न करें तथा दूसरे की हानि या द्वेष में मन न लगावें।"[215] याज्ञवल्क्य ने भी मनु के इस विधान से सहमति प्रकट की है।[216]

13. विवादत्यागविषयक सहमति – मनु ने गृहस्थ के लिए किसी के भी साथ विवाद न करने का विधान किया है।[217] याज्ञवल्क्य ने भी इस विषय में मनु से पूर्ण सहमति प्रकट की है।[218]

14. गाय की पवित्रताविषयक सहमति – मनु ने गाय को अतिपवित्र माना है।[219] याज्ञवल्क्य ने भी इस विषय में मनु से पूर्ण सहमति प्रकट की है।[220]

15. प्रतिग्रह में अलोभविषयक सहमति – मनु के अनुसार प्रतिग्रह (दानग्रहण) का अधिकारी होने पर भी ब्राह्मण को प्रतिग्रह में आसक्ति नहीं रखनी चाहिए क्योंकि प्रतिग्रह से इसका ब्राह्म तेज शीघ्र ही क्षीण होने लगता है।[221] याज्ञवल्क्य ने भी मनु के इस विधान से सहमति प्रकट की है।[222]

16. ब्रह्मदान की सर्वश्रेष्ठता विषयक सहमति – मनु ने दान करना गृहस्थ का अनिवार्य कर्तव्य बताया है और सभी प्रकार के दानों में से ब्रह्मदान (वेदज्ञान अथवा ब्रह्मविद्या का दान) को

---

214. वृद्धभारिनृपस्नातस्त्रीरोगिवरचक्रिणाम्। पन्था देयो नृपस्तेषां मान्यः स्नातश्च भूपतेः।। याज्ञ. 1–117

215. न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलोऽनृजुः। न स्याद्वाक्चपलश्चैव न परद्रोहकर्मधीः।। मनु. 1–177

216. परपाकरुचिर्न स्यादनिमन्त्रणादृते। वाक्पाणिपादचापल्यं वर्जयेच्चातिभोजनम्।। याज्ञ. 1–112

217. ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः। बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः।।
मातापितृभ्यां जामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया। दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत्।। मनु. 4–179,180

218. मातृपित्रतिथिभ्रातृजामिसम्बन्धिमातुलैः। वृद्धबालातुराचार्यवैद्यसंश्रितबान्धवैः।।
ऋत्विक्पुरोहितापत्यभार्यादाससनाभिभिः। विवादं वर्जयित्वा तु सर्वाल्ँलोकांजयेद् गृही।।
याज्ञ. 1–157,158

219. आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम्। न हिंस्याद् ब्राह्मणान्गांश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः।।मनु. 1–162

220. गोब्राह्मणानलान्नानि नोच्छिष्टो न पदा स्पृशेत्। न निन्दाताडने कुर्यात्पुत्रं शिष्यं च ताडयेत्।।
याज्ञ. 1–155

221. प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसंगं तत्र वर्जयेत्। प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति।। मनु. 1–186

222. प्रतिग्रहसमर्थोऽपि नादत्ते यः प्रतिग्रहम्। ये लोका दानशीलानां स तानाप्नोति पुष्कलान्।।याज्ञ. 1–213

सर्वश्रेष्ठ कहा है।[223] याज्ञवल्क्य ने भी इस विषय में मनु से सहमति प्रकट की है।[224]

17. भक्ष्याभक्ष्यविषयक सहमति – मनु ने लहसुन, शलजम, प्याज, कवक, तथा अशुद्ध स्थान में उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थ द्विजों के लिए वर्जित किये हैं।[225] याज्ञवल्क्य भी इससे सहमत है।[226] किन्तु याज्ञवल्क्य ने बीच में ही ''विष्ठा खाने वाले सुअर तथा मुर्गे'' को भी अभक्ष्य कहा है क्योंकि वह कुछ अन्य प्राणियों के मांस को भक्ष्य मानता है। मनु ने किसी पशुविशेष की चर्चा न कर मांसमात्र को अभक्ष्य कहा है।[227]

मनु ने ब्याई हुई गाय का पहले दस दिन का दूध; ऊँटनी, घोड़ी, तथा भेड़ का दूध; साँड के संसर्ग को चाहने वाली गाय का तथा जिसका बछड़ा या बछिया मर गई हो उस गाय के दूध को भी वर्जित किया है। इसी प्रकार ''भैंस को छोड़कर सभी जंगली पशुओं का दूध'', ''स्त्री का दूध'' तथा ''दही को छोड़कर सभी खट्टे पदार्थ'' भी वर्जित हैं।[228] याज्ञवल्क्य भी इससे सहमत है।[229]

मनु ने कहा है कि ''अगर्हित अर्थात् अण्डा, मांस, मद्यादि से रहित जो कुछ भी खाद्य घृतादि स्नेह से मिलाकर बनाया गया हो वह बासा होने पर भी खा लेना चाहिए। जो यज्ञ की हवि से बचा खाद्य हो वह भी खा लेना चाहिए। द्विजों को जौ व गेहूँ से बने सभी खाद्य तथा दूध के विकार से बने खोया, मिठाई आदि सभी खाद्य पदार्थ घृतादि स्नेह से रहित होने पर भी तथा देर से बने होने पर भी खा लेने

---

223. सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते। वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकांचनसर्पिषाम्।। मनु. 4–233

224. गृहधान्याभयोपानच्छत्रमाल्यानुलेपनम्। यानं वृक्षं प्रियं शय्यां दत्वाऽत्यन्तं सुखी भवेत्।।
सर्वधर्ममयं ब्रह्म प्रदानेभ्यधिकं यतः। तद् ददत्समवाप्नोति ब्रह्मलोकमविच्युतम्।। याज्ञ. 1–211,212

225. लशुनं गुंजनं चैव पलाण्डुं कवकानि च। अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च।। मनु. 5–5

226. पलाण्डुं विड्वराहं च छत्राकं ग्रामकुक्कुटम्। लशुनं गुंजनं चैव जग्ध्वा चान्द्रायणं चरेत्।।
याज्ञ. 1–176

227. समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्। प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात्।। मनु. 5–49

228. अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा। आविकं सन्धिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः।।
आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं बिना। स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि।।
दधि भक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वं च दधिसंभवम्। यानि चैवाभिषूयन्ते पुष्पमूलफलै शुभैः।। मनु. 5–8,9,10

229. सन्धिन्यनिर्दशावत्सागोपयः परिवर्जयेत्। औष्ट्रमैकशफं स्त्रैणामारण्यकमथाविकम्।। याज्ञ. 1–170

चाहिए।[230] याज्ञवल्क्य भी इस विधान से सहमत है।[231]

इसी प्रकार प्राणियों तथा पदार्थों के शुद्धिविषयक मनूक्त विधान से भी याज्ञवल्क्य की प्रायः पूर्ण सहमति है।

18. आत्मज्ञानविषयक सहमति – मनु ने समस्त श्रेष्ठ कर्मों में से आत्मज्ञान (अहंता–ममता की हेयता का ज्ञान) की साधना को सर्वश्रेष्ठ तथा मोक्षदायी बताया है।[232] याज्ञवल्क्य ने भी इस विषय में मनु से सहमति प्रकट की है तथा आत्मज्ञानी के विधान को सर्वश्रेष्ठ कहा है।[233]

इसी प्रकार राजा आदि समस्त क्षत्रिय वर्ण के कर्तव्यों, वैश्य व शूद्र वर्णों के कर्तव्यों, विविध पापों के प्रायश्चित्तों, निःश्रेयसकर कर्मों आदि के विषय में मनु ने जो विधान किया है उससे याज्ञवल्क्य की भी प्रायः पूर्ण सहमति है।

।। इति चतुर्थाध्यायान्तर्गतं तृतीयप्रकरणम्।।

याज्ञवल्क्य का मनु से मतवैभिन्न्य

हम पहले से ही कह चुके हैं कि याज्ञवल्क्य एक जातिवादी ब्राह्मण है तथा प्रक्षिप्त भाग सहित मनुस्मृति के अनुकरण व संक्षिप्तीकरण के आधार पर ही उसने अपनी स्मृति को लिखा है जबकि मनुस्मृति अपने मौलिक स्वरूप में रुचितः वर्ण–व्यवस्था की प्रतिपादक है न कि जातितः वर्ण–व्यवस्था की । अतः यह स्वाभाविक ही है कि याज्ञवल्क्य के कई विधान वर्तमान मनुस्मृति के अनुकूल होते हुए भी मनु के मौलिक विधान के प्रतिकूल हैं। ऐसे समस्त विषयों में से प्रमुख इस प्रकार हैं –

1. वर्णप्राप्तिविषयक मतवैभिन्न्य – जिस विषय में याज्ञवल्क्य का मनु से सर्वप्रमुख तथा आधारभूत मतवैभिन्न्य है, वह है – वर्णप्राप्ति। मनु के अनुसार वर्ण–व्यवस्था एक ईश्वरीय व्यवस्था है और

---

230. यत्किंचित्स्नेहसंयुक्तं भोज्यं भोज्यमगर्हितम्। यत्पर्युषितमप्याद्यं हविःशेषं च यद्भवेत्।।
चिरस्थितमपि त्वाद्यमस्नेहाक्तं द्विजातिभिः। यवगोधूमजं सर्वं पयसश्चैव विक्रिया।। मनु. 5–24,25

231. अन्नं पर्युषितं भोज्यं स्नेहाक्तं चिरसंस्थितिम्। अस्नेहा अपि गोधूमयवगोरसविक्रियाः।। याज्ञ. 1–169

232. वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः। धर्मक्रियाऽत्मचिन्ता च निःश्रेयसकरं परम्।।
सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्। तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः।। मनु. 12–83,85

233. इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्। अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।।
चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत्त्रैविद्यमेव वा। सा ब्रूते यं स धर्मः स्यादेको वाऽध्यात्मवित्तमः।। याज्ञ. 1–8,9

सभी मनुष्य चाहें अथवा न चाहें, चार वर्णों में विभक्त हैं।[234] अपने स्वभाव तथा अन्तःकरण के निर्णय के आधार पर प्रत्येक जातक अपने वर्ण का वर्ण करता है। वर्ण वंशानुगत नहीं होता, अतः किसी भी वर्ण के माता–पिता के यहाँ किसी भी अन्य वर्ण का जातक उत्पन्न हो सकता है।[235] किसी भी द्विज जातक के सर्वांगीण विकास हेतु यह संयोग अतिलाभदायक है कि उसके वर्ण तथा उसके माता–पिता के वर्ण में समानता हो। इस संयोग को नियन्त्रित करने हेतु विधिवत् गर्भाधान संस्कार की पूर्ण अनिवार्यता है।[236] किन्तु विधिवत् गर्भाधान होने पर भी वर्णप्राप्ति के सम्बन्ध में जातक के स्वभाव का निरीक्षण–परीक्षण तथा उसके अन्तःकरण का निर्णय ही अन्तिम हेतु है क्योंकि वर्ण तो वरण का विषय है। यदि कोई द्विजत्व में उपनीत जातक स्ववर्णगत नियमों का पालन न कर सके तो वह शूद्र ही माना जायेगा।[237] इसी प्रकार श्रेष्ठ गुणों का विकास कर लेने पर शूद्र भी द्विजत्व में उपनीत होने का अधिकारी हो जाता है।[238] वर्णप्राप्तिविषयक मनु के इस विधान से याज्ञवल्क्य का पूर्ण मतवैभिन्न्य है। उसके अनुसार समान वर्ण के पति–पत्नी के यहाँ उत्पन्न जातक अपने ही माता–पिता के वर्ण वाला होता है।[239] असवर्ण पति–पत्नी के यहाँ उत्पन्न जातक वर्णसंकर होता है। प्रतिलोम विवाह होने पर उत्पन्न जातक शूद्र ही होता है। क्षत्रिया अथवा वैश्या से अनुलोम विवाह करने पर उत्पन्न जातक द्विज होता और वह माता के वर्ण में स्थान प्राप्त करता है। अतः शूद्रा से अनुलोम विवाह करने पर उत्पन्न जातक शूद्र ही होता है।[240] याज्ञवल्क्य का यह सम्पूर्ण विधान जातिवाद पर आधारित है जिसमें उच्चवर्णीयों के यहाँ उत्पन्न जातकों को अधिकाधिक लाभ तथा विशेषाधिकार दिलाने का प्रयास किया गया है, भले ही वे वस्तुतः निम्नवर्णीय ही क्यों न हों। जातितः वर्ण–व्यवस्था में ब्राह्मण व क्षत्रिय शेष समाज के मार्गदर्शक तथा रक्षक न होकर शोषक की भूमिका निभाते हैं। शेष समाज की उच्च जातियाँ भी निम्नतर जातियों का शोषण करती हैं। जातितः वर्ण–व्यवस्था ईश्वरीय योजना के विरुद्ध एक अन्यायकारी तथा अमानवीय व्यवस्था है।

---

234. ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः। चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पंचमः।। मनु. 10–4

235. शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्। क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च।। मनु. 10–65

236. वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्। कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च।। मनु. 2–26

237. न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्। स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः।।
मनु. 2–103

238. शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनहंकृतः। ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते।। मनु. 9–335

239. सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः। अनिन्द्येषु विवाहेषु पुत्राः सन्तानवर्धनाः।। याज्ञ. 1–90

240. यदुच्यते द्विजातीनां शूद्राद्दारोपसंग्रहः। नैतन्मम मतं यस्मात्तत्रायं जायते स्वयम्।। याज्ञ. 1–56

सन्ततिमूढ, स्वार्थी, असत्यवादी, प्रक्षेपकर्ता और नीच ब्राह्मणों द्वारा जातितः वर्ण–व्यवस्था का प्रतिपादन किया गया तथा ऐसे ही राजाओं द्वारा इसका अनुमोदन व संरक्षण किया गया। एक महर्षि के नाम पर अपनी स्मृति लिखने के कारण याज्ञवल्क्य भी एक असत्यवादी और जातिवादी ब्राह्मण ही है।

2. शूद्र व स्त्री के संस्कारों व अध्ययन के विषय में मतवैभिन्न्य – मनु के अनुसार प्रत्येक संस्कार हवन और वेदमन्त्रपूर्वक होता है, भले ही वह किसी के लिए भी किया जाय किन्तु याज्ञवल्क्य ने अपने जातिवादी तथा पुरुषोच्चतावादी दृष्टिकोण के कारण ही शूद्रों के सभी संस्कार तथा द्विज स्त्रियों के विवाह के अतिरिक्त सभी संस्कार हवन तथा वेदमन्त्रों के बिना ही करने का विधान किया है।[241] जब याज्ञवल्क्य ने शूद्र व स्त्री के संस्कारों को भी हवन व वेदमन्त्रों के बिना करने का विधान किया है तब भला वह उन्हें वेदाध्ययन का अधिकारी कैसे मान सकता है ? किन्तु मनु के अनुसार शूद्र विकसित होकर उपनीत हो सकता है तथा द्विज कन्याओं का भी द्विज कुमारों की भाँति उपनयन अवश्य होना चाहिए।

3. पत्नियों की संख्या के विषय में मतवैभिन्न्य – मनु ने सर्वत्र केवल एक ही सवर्णा व सुलक्षणा कन्या से विवाह करने का विधान किया है।[242] किन्तु याज्ञवल्क्य के अनुसार ब्राह्मण "ब्राह्मणी, क्षत्रिया तथा वैश्या से", क्षत्रिय "क्षत्रिया तथा वैश्या से" तथा वैश्य केवल वैश्या से विवाह कर सकता है। शूद्र तो सर्वथा शूद्रा से ही विवाह कर सकता है। इस प्रकार ब्राह्मण एकसाथ तीन वर्णों की तथा क्षत्रिय एकसाथ दो वर्णों की पत्नियाँ रख सकता है।[243] इतना ही नहीं, प्रत्येक पुरुष एक ही वर्ण की एकाधिक पत्नियाँ रख सकता है।[244]

याज्ञवल्क्य ने स्त्री के व्यक्तित्व को यथोचित सम्मान नहीं दिया है। इसी कारण उसने बहुविवाह को स्वीकृति प्रदान की है जबकि मनु स्त्री के व्यक्तित्व को पूर्ण सम्मान देते हैं।[245] वे जिस प्रकार स्त्री के लिए **पतिव्रता** होने का विधान करते हैं उसी प्रकार "तद्व्रतः" कहकर पुरुष के लिए **पत्नीव्रत** होने

---

241. ब्रह्मक्षत्रविट्शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः। निषेकाद्याः श्मशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः।।
 एवमेनः शमं याति बीजगर्भसमुद्भवम्। तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः।।याज्ञ. 1–10,13

242. गुरुणाऽनुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि। उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्।। मनु. 3–4
 तदध्यास्योद्वहेद्भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्। कुले महति संभूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम्।। मनु. 7–77

243. तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण द्वे तथैका यथाक्रमम्। ब्राह्मणक्षत्रियविशां भार्या स्वा शूद्रजन्मनः।। याज्ञ. 1–57

244. सत्यामन्यां सवर्णायां धर्मकार्यं न कारयेत्। सवर्णासु विधौ धर्म्ये ज्येष्ठया न बिनेतरा।। याज्ञ. 1–88

245. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।। मनु. 3–56

का विधान करते हैं।[246]

4. दण्डविषयक मतवैभिन्न्य – मनु के अनुसार शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण उत्तरोत्तर अधिक सम्मानीय हैं किन्तु इसके साथ ही मनु ने समान अपराध में उन्हें उत्तरोत्तर अधिक दण्डनीय, राज्याधिकारियों को और भी अधिक दण्डनीय तथा राजा को सर्वाधिक दण्डनीय माना है।[247] किन्तु याज्ञवल्क्य के दण्डविधान में समान अपराध के लिए निम्नवर्णीय के लिए अतिरिक्त दण्ड तथा उच्चवर्णीय के लिए अतिन्यून दण्ड की व्यवस्था है। ब्राह्मण को तो प्रायः अदण्ड्य ही कह दिया गया है।[248] याज्ञवल्क्य जन्म के आधार पर वर्णप्राप्ति मानता है, अतः अपने जातिवादी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर ही उसने ऐसा दण्डविधान किया है।

5. द्यूतविषयक मतवैभिन्न्य – मनु कहते हैं कि "द्यूत तथा समाह्वय प्रकट तस्करी अथवा चोरी हैं। राजा इनको समाप्त करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहे। निर्जीव वस्तुओं (ताश, पासे, कौड़ी, गोटी आदि) के द्वारा बाजी लगाकर जो खेला जाता है, उसे **द्यूत** (जुआ) कहते हैं। सजीवों (पहलवान, भेड़ा, भैंसा, मुर्गा, तीतर, बटेर, घोड़ा आदि) के द्वारा बाजी लगाकर जो खेला जाता है, उसे **समाह्वय** कहते हैं। जो मनुष्य द्यूत और समाह्वय स्वयं खेले या दूसरों से खिलाये उन सबको तथा कपटपूर्वक द्विजों के वेश धारण करने वाले शूद्रों को राजा शारीरिक दण्ड प्रदान करे।"[249] किन्तु याज्ञवल्क्य ने द्यूत तथा समाह्वय को तस्करी न मानकर व्यापार माना है तथा राजा को इस पर नियन्त्रण रखते हुए जीत

---

246. ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा। पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया।। मनु. 3–45

247. अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्विषम्। षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य च।।
ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वाऽपि शतं भवेत्। द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः।।
कार्षापणं भवेद् दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः। तत्र राजा भवेद् दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा।।
मनु. 8–337,338,336

248. प्रातिलोम्यापवादेषु द्विगुणत्रिगुणा दमाः। वर्णानामानुलोम्येन तस्मादर्धार्धहानितः।। याज्ञ. 2–207

249. प्रकाशमेतत्तास्कर्यं यद् देवनसमाह्वयौ। तयोर्नित्यं प्रतीघाते नृपतिर्यत्नवान्भवेत्।।
अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते। प्राणिभिः क्रियते यस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः।।
द्यूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात्कारयेत वा। तान्सर्वान्घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिंगिनः।।
मनु. 9–222,223,224

का लाभांश कररूपेण ग्रहण करने का विधान किया है।[250] वस्तुतः याज्ञवल्क्य का अर्थसम्बन्धी दृष्टिकोण भी गर्हित ही है। यथाकथंचिदपि प्राप्त धन न तो राज्य के लिए और न ही राजा के लिए कदापि कल्याणकारी हो सकता है। मनु ने सभी प्रकार की शुचिताओं में से अर्थशुचिता को सर्वोपरि बताया है। मनु के अनुसार स्नानादि से होने वाली शुचिता शुचिता नहीं है, वास्तविक शुचिता तो अर्थशुचिता ही है।[251]

इसी प्रकार अन्य अनेकों विषयों में भी याज्ञवल्क्य का मनु से मतवैभिन्न्य है। कहाँ तो स्वार्थ तथा परार्थ दोनों की ही सिद्धि करने वाला मनु का विधान और कहाँ इस मूढ याज्ञवल्क्य का जातिवादी, अन्यायवादी, अमानवीय तथा गर्हित विधान ! इस याज्ञवल्क्य के विधान में जो कुछ कल्याणकारी है वह सब मनु के विधान में पहले से ही उपस्थित है तथा जो कुछ अकल्याणकारी है वह सब इसका अपना ही है, अतः याज्ञवल्क्य स्मृति कदापि प्रशस्त तथा मान्य नहीं हो सकती ।

।। इति चतुर्थाध्यायान्तर्गतं चतुर्थप्रकरणम्।।

याज्ञवल्क्य द्वारा मनु से स्वमतवैभिन्न्य को कालधर्म बताना

हम पूर्व ही कह चुके हैं कि याज्ञवल्क्य ने जातिवादी स्मृतियों तथा मनुस्मृति के प्रक्षिप्तांश की मौलिक मनुस्मृति से सुसंगति स्थापित करने हेतु मनुस्मृति के अनुकरण तथा संक्षिप्तीकरण के आधार पर ही अपनी जातिवादी स्मृति को लिखा है। अब, यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि मनुस्मृति के आधार पर याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति को लिखा है तो उसने वे विधान कैसे कर दिये जो स्पष्टतः मनुविरुद्ध हैं ? याज्ञवल्क्य ने इस प्रश्न का कोई स्पष्ट उत्तर अपनी स्मृति में नहीं दिया है। वस्तुतः सम्पूर्ण याज्ञवल्क्य स्मृति में ऐसे किसी भी प्रश्न को उपस्थित ही नहीं होने दिया गया है। किन्तु याज्ञवल्क्य स्मृति के अन्तःसाक्ष्य से प्रकट होता है कि कालधर्म को ही याज्ञवल्क्य ने मनु से स्वमतवैभिन्न्य का कारण बताया है अर्थात् याज्ञवल्क्य के अनुसार जहाँ–जहाँ मनु से उसका मतवैभिन्न्य है वहाँ–वहाँ सापेक्ष धर्म के कारण ही याज्ञवल्क्य ने वैसा विधान किया है। इस तथ्य को हम निम्नोक्त चरणों में देख सकते हैं –

---

250. ग्लहे शतिकवृद्धेस्तु सभिकः पंचकं शतम्। गृह्णीयाद्धूर्तकितवादितराद्दशकं शतम्।।
स सम्यक्पालितो दद्याद्राज्ञे भागं यथाक्रतम्। जितमुद्ग्राहयेज्जेत्रे दद्यात्सत्यं वचः क्षमी।।
प्राप्ते नृपतिना भागे प्रसिद्धे धूर्तमण्डले। जितं ससभिके स्थाने दापयेदन्यथा न तु।।
याज्ञ. 2–199,200,201

251. सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्। योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः।। मनु. 5–106

1. याज्ञवल्क्य ने बीस स्मृतिकारों का परिगणन करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य का भी परिगणन किया है जिनके नाम पर उसने अपनी स्मृति को रचा है।[252]

2. इसके ठीक पश्चात् उसने कहा है कि विशेष देश व काल में विधिपूर्वक जो द्रव्य श्रद्धा के साथ पात्र को दिया जाता है, वह धर्म का पूर्ण लक्षण है।[253]

मनु के अनुसार यज्ञ कराने पर ब्राह्मण को जो पूर्वनिश्चित दक्षिणा प्राप्त होती है वह उसे अकारण ही प्राप्त होने वाले दान से अधिक पवित्र होती है। अध्यापन तथा तप को भली–भाँति करता हुआ विद्वान् ब्राह्मण ही दानग्रहण का अधिकारी होता है और जो ब्राह्मण ऐसा नही हैं उसे दानग्रहण नहीं करना चाहिए और जो ब्राह्मण दान का पात्र है उसे भी दानग्रहण से बचना चाहिए क्योंकि इससे उसका ब्राह्म तेज क्षीण हो जाता है।[254] इस प्रकार समाज में कुमारों के अध्यापन तथा तप में रत ब्राह्मणों को ही दान देने की परम्परा थी किन्तु जातितः वर्ण–व्यवस्था में विद्वत्ता, अध्यापन तथा तप से रहित होने पर भी वंशपरम्परा से ही ब्राह्मणत्व प्राप्त होने लगा। ऐसे में ब्राह्मणों की उदरपूर्ति होना कठिन हो गयी। तब ऐसे अनेक विधानों की सृष्टि की गयी जिनके अनुसार विशेष देश अथवा काल में अकारण ही केवल ब्राह्मणकुलोत्पन्न होने मात्र से ही भोजन तथा दान की प्राप्ति हो सके। विशेष पर्वों पर, किसी के मरने पर तथा इच्छामात्र से किये जाने वाले श्राद्ध के विधान; देवपूजन, व्रतकथा, ग्रहशान्ति आदि द्वारा अनिष्टनिवारण तथा इष्टप्राप्ति के विधान इत्यादि इसी हेतु से किये गये। इसी कारण याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मणों के **पेट व पोटली** दोनों की पूर्ति हेतु आचाराध्याय में क्रमशः दानप्रकरण, श्राद्धप्रकरण, गणपतिकल्पप्रकरण तथा ग्रहशान्तिप्रकरण का विधान किया। इस विधान पर कोई शंका न कर सके इस हेतु ही उसने विशेष देश व काल में विधिपूर्वक पात्र को श्रद्धासहित दान देना ही धर्म का पूर्ण लक्षण बताया है। इसमें पात्र है – ब्राह्मणकुलोत्पन्न, विधि वही है जो याज्ञवल्क्य ने अपने उक्त चारों प्रकरणों में लिखी है तथा विशेष देश व काल की कोई गिनती ही नहीं है। जो भी काल हो श्राद्ध तथा दान के लिए उचित ही है।

वस्तुतः दान देना तो द्विजमात्र का धर्म है। ब्राह्मण विद्यादान करता है तथा क्षत्रिय व वैश्य द्रव्य का दान करते हैं। याज्ञवल्क्य के इस कथन में द्रव्यदान का प्रसंग होने से यह सकल धर्मलक्षण नहीं

---

252. मन्वत्रिविष्णुहारीतयाज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिराः। यमापस्तम्बसंवर्ताः कात्यायनबृहस्पती।।
पराशरव्यासशंखलिखिता दक्षगौतमौ। शातातपो वसिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः।। याज्ञ. 1–4,5

253. देशे काल उपायेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितम्। पात्रे प्रदीयते यत्तत्सकलं धर्मलक्षणम्।। याज्ञ. 1–6

254. प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसंगं तत्र वर्जयेत्। प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति।।
न द्रव्याणामविज्ञाय विधिं धर्म्यं प्रतिग्रहे। प्राज्ञः प्रतिग्रहं कुर्यादवसीदन्नपि क्षुधा।। मनु. 4–186,187

हो सकता क्योंकि ब्राह्मण इसकी परिधि से बाहर ही रह जायेगा। द्रव्यदान न करने पर भी ब्राह्मण धार्मिक हो सकता है यदि वह यथाशक्ति विद्यादान करे। वस्तुतः यह कथन ब्राह्मणेतरों को प्रेरित करने हेतु ही कहा गया है ताकि वे ब्राह्मणों के लिए द्रव्यदान करना ही सकल धर्मलक्षण समझें। अब, प्रश्न यह है कि ब्राह्मणेतरों का सकल धर्मलक्षण तो द्रव्यदान करना है किन्तु ब्राह्मणों का सकल धर्मलक्षण क्या केवल इस द्रव्यदान को ग्रहण कर लेना ही है ?

3. इसके पश्चात् याज्ञवल्क्य ने समस्त श्रेष्ठ कर्मों में से आत्मज्ञान हेतु की जाने वाली योगसाधना को सर्वश्रेष्ठ कर्म बताया है।[255]

4. इसके पश्चात् याज्ञवल्क्य कहता है कि वेद तथा धर्मशास्त्र के ज्ञाता चार अथवा तीन विद्याओं (ऋक्, यजुष् व साम) के ज्ञाता तीन ब्राह्मणों की जो **परिषद्** होती है, वह जो कहे वह **धर्म** (कानून) या विधान होता है अथवा अध्यात्मविद्या में निपुणतम एक ब्राह्मण भी जो कहे वह **धर्म** होता है।[256]

5. इसके पश्चात् याज्ञवल्क्य ने प्रायश्चित्ताध्याय के यतिधर्मप्रकरण में यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया कि वह बृहदारण्यक तथा योगशास्त्र का प्रणेता है।[257] इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने भली–भाँति प्रदर्शित किया कि वह कोई और नहीं अपितु महर्षि याज्ञवल्क्य ही है। वह आत्मज्ञानी तथा योगशास्त्र का प्रणेता है। एक योगी होने से वह कालधर्म को जानने में समर्थ है। अतः उसके द्वारा लिखित स्मृति मान्य ही है। इसी कारण याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति के प्रथम श्लोक में ही स्वयं को **योगीश्वर** कहा है।[258]

इस प्रकार कालधर्म के बहाने याज्ञवल्क्य ने मनुविरुद्ध विधानों का प्रणयन किया जिनका मूल उद्देश्य ब्राह्मणकुलोत्पन्नों को भोजन, दान, विशेषाधिकार तथा अदण्ड्यता की उपलब्धि कराना था।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि यद्यपि याज्ञवल्क्य ब्राह्मणकुलोत्पन्नों का घोर पक्षपाती था किन्तु वह उनसे श्रेष्ठ आचरण तथा विद्वत्ता की अपेक्षा भी करता था। इसी कारण उसने समस्त ब्राह्मणकुलोत्पन्नों में से उन्हीं को अधिक लाभान्वित कराने का प्रयास किया जो आचरण तथा विद्वत्ता में श्रेष्ठ हों। किन्तु याज्ञवल्क्य जन्मना वर्णप्राप्ति का आग्रह नहीं छोड़ सका। यदि उसके विधानों में से जन्मना वर्णप्राप्ति की बात हटा दी जाय तो सम्पूर्ण स्मृति अतिव्यावहारिक तथा पर्याप्त तर्कसंगतरूप ले लेती है। दानप्रकरण, श्राद्धप्रकरण, गणपतिप्रकरण, ग्रहशान्तिप्रकरण आदि समस्त प्रकरण वस्तुतः पूर्ण सार्थक हैं किन्तु इन्हें

---

255. इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्। अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।। याज्ञ. 1–8

256. चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत्त्रैविद्यमेव वा। सा ब्रूते यं स धर्मः स्यादेको वाऽध्यात्मवित्तमः।। याज्ञ. 1–9

257. ज्ञेयं चारण्यकमहं यदादित्यादवाप्तवान्। योगशास्त्रं च मत्प्रोक्तं ज्ञेयं योगमभीप्सता।। याज्ञ. 3–110

258. योगीश्वरं याज्ञवल्क्यं संपूज्य मुनयोब्रुवन्। वर्णाश्रमेतराणां नो ब्रूहि धर्मानशेषतः।। याज्ञ. 1–1

कराने की योग्यता केवल ब्राह्मणकुलोत्पन्नता ही नहीं है। आचरण व विद्वत्ता से हीन ब्राह्मणकुलोत्पन्न व्यक्ति इन्हें कराने का अधिकारी नहीं है अन्यथा ये समस्त कार्य अभीष्ट फल की प्राप्ति नहीं करा सकेंगे। तथाकथितरूपेण अब्राह्मणकुलोत्पन्न किन्तु आचरण व विद्वत्ता से श्रेष्ठ व्यक्ति इन्हें कराने का सर्वथा पात्र है।

।। इति चतुर्थाध्यायान्तर्गतं पंचमप्रकरणम्।।

याज्ञवल्क्य स्मृति और मनु द्वारा भविष्य में नवीन स्मृतियों के उदय की घोषणा

मनु कहते हैं कि "जो स्मृतियाँ वेदविरुद्ध हैं तथा कुत्सित पुरुषों द्वारा रचित हैं, वे सभी निष्फल हैं तथा परलोक में पतित करने वाली है। इनसे (वेदों से) विरुद्ध जो भी शास्त्र हैं वे उत्पन्न और नष्ट होते ही रहते हैं। वे सब नवीनकालिक होने से निष्फल (अकल्याणकारी) और झूठे होते हैं।"[259] मनु के इन वचनों के आधार पर यदि याज्ञवल्क्य स्मृति की समीक्षा की जाय तो हम देखते हैं कि उसमें वेदविरुद्ध अनेकों विधान हैं। यथा, वरणेन नहीं अपितु जन्मना (वंशपरम्परया) वर्णप्राप्ति का विधान, द्यूत व समाह्वय को व्यापार मानकर उनसे करप्राप्ति का विधान इत्यादि। इसी प्रकार जैसे–तैसे यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि जातितः वर्ण–व्यवस्था कभी कालधर्म थी तो अब भी उसकी वाचिक अथवा मानसिक वकालत करना स्वप्नलोक में विचरण करने के तुल्य ही है। वर्तमान भारत में जातिवाद केवल ऐसे विवाहों तक ही सीमित रह गया है जो जातिवादी माता–पिता द्वारा तय किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त प्रायः सर्वत्र जातिवाद दुर्बल होता जा रहा है। पढ़े–लिखे और धन कमाने वाले युवक–यवतियों में स्वयंवर की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। यह मनुसम्मत ही है क्योंकि मनु तो स्वयमेव यह कहते हैं कि रजस्वला होने के तीन वर्ष पश्चात् कन्या को स्वयंवर करने का अधिकार है। मनु केवल एक शर्त रखते हैं कि वह ऐसे युवक का ही वरण कर सकती है जो सवर्ण, स्नातक तथा अविवाहित हो।

अतः याज्ञवल्क्य स्मृति का जातिवादी विधान नितान्त अप्रासंगिक हो चुका है। मनु ने भी स्पष्ट घोषणा की है कि वेदविरुद्ध विधानों वाली स्मृतियाँ उत्पन्न और नष्ट होती ही रहती हैं क्योंकि नवीनकालिक होने से वे निष्फल और झूठी होती हैं जबकि महर्षियों द्वारा दृष्ट ज्ञान होने से वेद के विधान सनातन (सर्वदा प्रासंगिक) हैं। वेदविरुद्ध स्मृतियाँ तो शरीर में उत्पन्न होने वाले फोड़े–फुंसी आदि के

259. या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः। सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः।।

उत्पद्यन्ते च्वयन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्। तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च।।

मनु. 12–95,96

समान हैं जो शरीर द्वारा स्वयमेव ठीक कर लिये जाते हैं अथवा उपचार द्वारा ठीक किये जाते हैं। इसी प्रकार वेदविरुद्ध स्मृतियाँ भी परिस्थितियों में परिवर्तन होने पर स्वयमेव अप्रासंगिक हो जाती हैं अथवा वैदिकों, चिन्तकों आदि को इनसे संघर्ष कर इन्हें पराजित करना पड़ता है। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य स्मृति भी स्वयमेव अप्रासंगिक हो चुकी हैं। यह इस योग्य भी नहीं है कि इसका विरोध किया जाय।

।। इति चतुर्थाध्यायान्तर्गतं षष्ठप्रकरणम्।।

याज्ञवल्क्य एवं तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति

इतिहासकार के.पी. जायसवाल ने याज्ञवल्क्य स्मृति का रचनाकाल द्वितीय शताब्दी का उत्तरार्ध ठहराया है और महामहोपाध्याय काणे के अनुसार इस स्मृति की रचना ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी से ईसा पश्चात् तृतीय शताब्दी के मध्य हुई थी। यह समस्त कालखण्ड ही भारतीय इतिहास के उन पृष्ठों का स्मरण कराता है जब भारतीय समाज जातितः वर्ण–व्यवस्था की दलदल में बुरी तरह फँसा हुआ था। यहाँ तक कि महाभारतकालीन समाज भी जातितः वर्ण–व्यवस्था की चपेट में आ चुका था। इसी कारण कर्ण को घोषणा करनी पड़ी – "दैवाधीनं कुले जन्म ममाधीनं तु पौरुषम्"। महाभारत युद्ध की भयंकरता का पूर्वानुमान कर अर्जुन ने युद्ध में अपने अस्त्र–शस्त्र डाल दिये थे क्योंकि उसे भय था कि बड़ी संख्या में पुरुषों के मारे जाने पर स्त्रियाँ पतित हो जायेंगी तथा इन पतित स्त्रियों के कारण वर्णसंकरता फैलने लगेगी जिससे **जातिधर्म** और **कुलधर्म** नष्ट हो जायेंगे। अर्जुन द्वारा प्रयुक्त "अनुशुश्रुम" पद से यह स्पष्ट होता है कि तब तक जातिवादी विधान मनुस्मृति में पर्याप्तरूपेण प्रक्षिप्त हो चुके थे तथा जातिवादी स्मृतियों की रचना भी हो चुकी थी।[260]

---

260. यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः। कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्।।
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्। कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन।।
कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनः। धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत।।
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः। स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः।।
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च। पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।।
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः। उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः।।
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन। नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।।
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्। यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः।।
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः। धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्।।
एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्। विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः।। गीता 1–38से47

हम पूर्व ही कह चुके हैं कि किसी भी वर्ण के माता–पिता के यहाँ किसी भी अन्य वर्ण का जातक जन्म ले सकता है किन्तु यदि जातक सवर्ण माता–पिता के यहाँ जन्म ले तो उसका विकास द्रुतगति से होता है। अतः महर्षियों ने वे नियम बताये जिनके द्वारा सवर्ण जातक के जन्म लेने की सम्भावना बढ़ जाये। इन नियमों में से प्रधानतम नियम था – स्त्री द्वारा विवाह के पूर्व किसी भी पुरुष के साथ यौन सम्बन्ध स्थापित न करना तथा केवल सवर्ण पुरुष का ही वरण करना।

इस नियम के उल्लंघनस्वरूप उत्पन्न जातक माता–पिता के वर्ण वाला ही होगा इस बात की कोई गारण्टी नहीं थी। अतः इस नियम का उल्लंघन समाजद्रोह माना जाता था। इस समस्त आयोजन में यह भावना थी कि समस्त नियमों का पालन करने पर प्रत्येक माता–पिता के यहाँ सवर्ण जातक ही जन्म लेगा और यदि अपवादस्वरूप किसी माता–पिता के यहाँ असवर्ण जातक जन्म लेता है तो उसे उसके वर्ण में दी दीक्षित किया जायेगा। इस व्यवस्था को "नियोजित वर्ण–व्यवस्था" भी कहा जा सकता है। किन्तु देवों के कारण यह नियोजित वर्ण–व्यवस्था नदी की भाँति गतिमान न रहकर तालाब की भाँति गतिहीन हो गयी, तब जातिविशेष को वर्णविशेष प्रदान किया जाने लगा। इतना ही नहीं, माता–पिता के वर्ण से इतर वर्ण की इच्छामात्र को पाप बताया गया और माता–पिता के वर्ण से इतर वर्ण का कार्य दण्डनीय हो गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस विधान को बनाने वाले सन्ततिमूढ स्वार्थान्ध ब्राह्मण ही थे तथा ऐसे ही राजाओं ने इस विधान को लागू किया।

मनु की वर्ण–व्यवस्था जातक पर केन्द्रित थी किन्तु जातितः वर्ण–व्यवस्था जातक पर केन्द्रित न होकर उसके माता–पिता के वर्ण पर केन्द्रित हो गयी। वस्तुतः पराधीनता का काल इस व्यवस्था पर पड़ने वाला प्रथम आघात था तथा लोकतन्त्र इस व्यवस्था पर द्वितीय आघात सिद्ध हुआ। यदि जातियाँ गणगोत्रों में तथा उनकी उपजातियाँ पक्षगोत्रों में परिणत हो जायें तो यह जातितः वर्ण–व्यवस्था पर ऐसा आघात होगा जिससे यह विषवृक्ष समूल उखड़ जायेगा।

अस्तु, याज्ञवल्क्यकालीन समाज में जातितः वर्ण–व्यवस्था अपनी पूर्ण विकराल अवस्था में थी। उच्चवर्णीय पुरुषों के जात्यभिमान के कारण निम्नवर्णीय जन तथा सम्पूर्ण स्त्रीवर्ग बुरी तरह पीडित और दुःखी था। विद्वत्ता का लोप हो जाने के कारण ब्राह्मणजन भोजन, दान तथा विशेषाधिकारों की प्राप्ति हेतु नये–नये विधानों की सृष्टि कर रहे थे। राजा–महाराजा विलासी, अभिमानी, करलोलुप तथा राष्ट्रीय भावना से शून्य थे। ब्राह्मण व क्षत्रिय शेष समाज का शोषण कर रहे थे, शेष समाज के उच्चवर्णीय भी निम्नवर्णीयों का शोषण कर रहे थे तथा समस्त पुरुष वर्ग स्त्री वर्ग का शोषण कर रहा था।

।। इति चतुर्थाध्यायान्तर्गतं सप्तमप्रकरणम्।।

याज्ञवल्क्य की दूरदर्शिता

याज्ञवल्क्यकालीन समाज में वर्णप्राप्ति, वर्णसंकरता, उपनयनाधिकार, वेदाध्ययनाधिकार, विवाह, दायभाग आदि अनेक विषयों में बड़ा ही विवाद चल रहा था। ऐसी परिस्थितियों में याज्ञवल्क्य ने तत्कालीन समाज में व्याप्त अधिकांश विवादों को समाप्त कर एक सर्वमान्य, तर्कसंगत तथा मनोवैज्ञानिक व्यवस्था प्रदान की जिसने शताब्दियों तक भारतीय समाज का मार्गदर्शन किया और किसी न किसी रूप में अभी भी कर रही है।

याज्ञवल्क्य एक घोर जातिवादी ब्राह्मण था। अतः उसने एक ऐसी स्मृति की रचना की जो प्रत्येक उच्चजातीय को उससे निम्नजातीय की तुलना में अधिक अधिकार प्रदान करती है। स्वाभाविकरूपेण ही इस व्यवस्था में ब्राह्मणों को सर्वाधिक लाभ प्राप्त हुआ। यही वह आधारभूत व्यवस्था थी जिसने अधिकांश विवादों का अन्त कर दिया। जिस प्रकार संसद में सांसदों की वेतनवृद्धि का विधेयक बिना किसी विरोध के सफल हो जाता है उसी प्रकार याज्ञवल्क्य की यह आधारभूत व्यवस्था भी बिना किसी विरोध के मान्य हो गयी। अतः याज्ञवल्क्य की दूरदर्शिता का प्रथम दर्शन हम उसके इस विधान में कर सकते हैं जिसके अनुसार उच्चजातीय व्यक्ति अपने से निम्नजातीय की तुलना में अधिक अधिकार व सम्मान तथा न्यून दण्ड का पात्र होता है तथा ब्राह्मण तो अदण्डनीय ही होता है।[261]

याज्ञवल्क्य की दूरदर्शिता का द्वितीय दर्शन हम उसके वर्णप्राप्तिविषयक विधान में कर सकते हैं जिसके तीन रूप हैं –

1. सजातीय स्त्री के साथ विवाह करने पर उत्पन्न सन्तान सजातीय ही होती है।
2. अनुलोम विवाह करने पर उत्पन्न सन्तान माता की सजातीय होती है।
3. प्रतिलोम विवाह करने पर उत्पन्न सन्तान शूद्र तथा पिता से निम्नजातीय होती है।

कोई भी उच्चजातीय पुरुष यह सहन नहीं कर सकता था कि कोई निम्नजातीय पुरुष उसकी कन्या से विवाह कर ले। अतः उच्चजातीय पुरुषों के जात्यभिमान को पुष्ट करने के कारण याज्ञवल्क्य का यह विधान भी सर्वमान्य हो गया।[262]

याज्ञवल्क्य की दूरदर्शिता का तृतीय दर्शन हम उसके विवाहविषयक विधान में कर सकते हैं जिसके अनुसार ब्राह्मण ''ब्राह्मणी के अतिरिक्त क्षत्रिया व वैश्या'' के साथ भी विवाह कर सकता है तथा क्षत्रिय ''क्षत्रिया के अतिरिक्त वैश्या'' के साथ भी विवाह कर सकता है। इस प्रकार ब्राह्मण तीन वर्णों की

---

261. प्रातिलोम्यापवादेषु द्विगुणत्रिगुणा दमाः। वर्णानामानुलोम्येन तस्मादर्धार्धहानितः।। याज्ञ. 2–207

262. यदुच्यते द्विजातीनां शूद्राद्दारोपसंग्रहः। नैतन्मम मतं यस्मात्तत्रायं जायते स्वयम्।। याज्ञ.1–56

तथा क्षत्रिय दो वर्णों की स्त्रियों के साथ विवाह कर सकते हैं। वैश्य व शूद्र केवल अपने वर्ण की स्त्री से ही विवाह कर सकते हैं। इतना ही नहीं, प्रत्येक पुरुष एक ही वर्ण की एकाधिक स्त्रियों से विवाह कर सकता है।[263] उच्चजातीय पुरुषों के जात्यभिमान तथा बहुविवाहेच्छा को एकसाथ पुष्ट करने के कारण यह विधान भी सर्वमान्य हो गया।

याज्ञवल्क्य की दूरदर्शिता का तृतीय दर्शन हम उसके उस विधान में कर सकते हैं जिसके अनुसार उसने शूद्र को अध्ययनाधिकार से वंचित कर दिया। इस विधान को बहुसंख्यक उच्चजातीयों की स्वीकृति मिलनी ही थी क्योंकि शूद्रकुलोत्पन्न यदि अध्ययन कर लेगा तो वह अन्याय, अत्याचार और दासता को स्वीकार नहीं करेगा। अतः कई पीढ़ियों तक अविच्छिन्नरूपेण उनसे सेवा प्राप्त करने हेतु यह विधान उपयोगी ही नहीं अनिवार्य भी था।

याज्ञवल्क्य की दूरदर्शिता का चतुर्थ दर्शन हम उसके उस विधान में कर सकते हैं जिसके अनुसार रजस्वला होने से पूर्व ही कन्या का विवाह हो जाना चाहिए अन्यथा कन्यादान न करने वाले पिता आदि को कन्या के प्रत्येक रजोस्राव में भ्रूणहत्या का पाप लगता है।[264] ''अनाघ्रातं पुष्पम्'', ''अनाविद्धं रत्नम्'' आदि की चिन्ता से ग्रस्त पुरुषों को अक्षतयोनि कन्या प्राप्त कराने वाले इस विधान को सम्पूर्ण पुरुष वर्ग ने एकस्वर से सहमति प्रदान की। स्त्रियाँ इस विधान का विरोध न कर सकें एतदर्थ शूद्रों की भाँति उन्हें भी अध्ययनाधिकार से वंचित रखना आवश्यक ही था।

याज्ञवल्क्य की दूरदर्शिता का पंचम दर्शन हम उसके उस विधान में कर सकते हैं जिसके अनुसार दान का महत्त्व ग्रहीता से अधिक होता है। पूर्वकाल में विद्यार्थियों का अध्यापन करने वाले विद्वान् शिक्षकों की सहायता हेतु दान दिया जाता था किन्तु याज्ञवल्क्य ने दान का प्रयोजन अध्यापन में सहयोग के स्थान पर दाता का पुण्यलाभ बताया। अतः दाता को केवल दान की चिन्ता करनी चाहिए, ग्रहीता के कर्म तथा विद्वत्ता की नहीं। याज्ञवल्क्य ने प्रायः प्रत्येक अवसर पर ब्राह्मण के लिए भोजन तथा दान का विधान किया। इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने विशेष देश व काल में ब्राह्मण के लिए दानप्राप्ति का विधान बनाया, भले ही वह अध्यापन तथा विद्वत्ता से रहित ही क्यों न हो। ब्राह्मणों को द्रव्यलाभ कराने वाला और अशिक्षित व अज्ञानी समाज को पुण्यलाभ कराने वाला यह विधान भी सर्वसम्मति से स्वीकृत हो गया।

याज्ञवल्क्य ने मनुस्मृति के अनुकरण तथा संक्षिप्तीकरण के आधार पर अपनी स्मृति की रचना की,

---

263. तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण द्वे तथैका यथाक्रमम्। ब्राह्मणक्षत्रियविशां भार्या स्वा शूद्रजन्मनः।। याज्ञ. 1—57

सत्यामन्यां सवर्णायां धर्मकार्यं न कारयेत्। सवर्णासु विधौ धर्म्ये ज्येष्ठया न विनेतरा।। याज्ञ. 1—88

264. अप्रयच्छन्समाप्नोति भ्रूणहत्यामृतावृतौ। याज्ञ. 1—63

इसमें हम उसकी दूरदर्शिता का पंचम दर्शन कर सकते हैं क्योंकि मनुस्मृति को पारम्परिकरूपेण ही अन्य ग्रन्थों तथा समाज में अतिआदर प्राप्त था। इसी कारण सन्ततिमूढ तथा स्वार्थान्ध ब्राह्मणों ने मनुस्मृति में एक बड़ी मात्रा में निरन्तर प्रक्षेप भी किये ताकि वे अपने विचारों को मनुसम्मत कहकर सामाजिक स्वीकृति दिला सकें। इन समस्त प्रक्षेपों में से उन प्रक्षेपों को लेकर जो जातिवाद के समर्थन में हैं तथा मनुस्मृति के मौलिक भाग में से वह अंश छोड़कर जो जातितः वर्ण–व्यवस्था के प्रतिकूल है, याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति की रचना की। फलतः एक ऐसी स्मृति तैयार हुई जो जातिवादी होने के साथ–साथ एक प्रकार से मनुसम्मत भी कही जा सकती है।

याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति में मुकदमों, दायभाग, प्रायश्चित्त आदि से सम्बन्धित कुछ अतिरिक्त विधान किये तथा धर्मसूत्रों, अन्य स्मृतियों, पुराणों, वैद्यक ग्रन्थों आदि से अनेक विचार ग्रहण कर उन्हें अपनी स्मृति में स्थान दिया ताकि उसकी स्मृति विशद, साारगर्भित, समृद्ध तथा उच्चज्ञानयुक्त प्रतीत हो। उसके इस कृत्य में हम उसकी दूरदर्शिता के षष्ठ दर्शन कर सकते हैं।

याज्ञवल्क्य ने धर्मशास्त्रकारों का परिगणन करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य का नाम लिया है तथा उन्हीं के नाम पर उसने अपनी स्मृति की रचना की तथा इस बात की पुष्टि हेतु अन्तःसाक्ष्य भी प्रस्तुत किया।[265] याज्ञवल्क्य के इस कृत्य में भी हम उसकी दूरदर्शिता के दर्शन कर सकते हैं क्योंकि एक महर्षि द्वारा रचित प्रतीत होने के कारण याज्ञवल्क्य की स्मृति को ब्राह्मणों में तथा शेष समाज में सरलतापूर्वक सम्मान प्राप्त हो गया।

याज्ञवल्क्य की दूरदर्शिता के विषय में जितना भी कहा जाये न्यून ही है। उसने एक ऐसी व्यवस्था दी जिसने शताब्दियों तक ब्राह्मणकुलोत्पन्नों को लाभ पहुँचाया और आज भी पहुँचा रही है। उसके जातिवादी विधानों के समर्थन में मनुस्मृति के श्लोकों को उद्घृत किया जा सकता है। यद्यपि ऐसे श्लोक प्रक्षिप्त हैं तथापि शताब्दियों तक उन्होंने याज्ञवल्क्य स्मृति के लिए कवच का कार्य किया। याज्ञवल्क्य स्मृति के विधान उच्चजातीयों के लिए अतिलाभदायी थे, अतः वे भारतीय समाज की अन्तःचेतना में गहरे उतरते चले गये। आज भी एक सामान्य भारतीय व्यक्ति अपने विचारों तथा व्यवहारों में किसी न किसी रूप में याज्ञवल्क्य से प्रभावित दिखाई देता है, भले ही उसने अपने जीवन में याज्ञवल्क्य का नाम कभी न सुना हो। यह सब याज्ञवल्क्य की दूरदर्शिता का ही परिणाम है क्योंकि वह भली भाँति–समझ चुका था कि सभी उच्चजातीयों को उनसे निम्नजातियों की तुलना में विशेषाधिकार देकर ही ब्राह्मणकुलोत्पन्नों के लिए एक स्थायी लाभदायी व्यवस्था का निर्माण किया जा सकता है।

---

265. योगीश्वरं याज्ञवल्क्यं संपूज्य मुनयोऽब्रुवन्। वर्णाश्रमेतराणां नो ब्रूहि धर्मानशेषतः।। याज्ञ. 1–1

कैसी विडम्बना है कि रुचितः वर्ण–व्यवस्था के प्रथम व्याख्याता मनु की ख्याति जातितः वर्ण–व्यवस्था के संस्थापक के रूप में है जबकि याज्ञवल्क्य स्मृति का नाम कुछ गिने–चुने लोग ही जानते हैं जो जातितः वर्ण–व्यवस्था का प्रतिपादन करने वाली प्रमुखतम स्मृति है। इसका कारण यह है कि एक सामान्य व्यक्ति मनुस्मृति में प्रक्षेपों के होने से पूर्णतया अनभिज्ञ है। इतना ही नहीं, वह रुचितः वर्ण–व्यवस्था और जातितः वर्ण–व्यवस्था के भेद से भी अनभिज्ञ है। वह या तो दोनों को समान ही समझता है अथवा वह मानता है कि आदिकाल से ही जातितः वर्ण–व्यवस्था चली आ रही है। अस्तु कभी–कभी समाज में यह बात भी सुनाई पड़ती है कि "पूर्वकाल में वर्ण रुचि के आधार पर बनाये गये थे जो बाद में वंशानुगत हो गये" किन्तु इनका स्वर अतिमन्द ही होता है क्योंकि वर्ण शब्द के साथ जाति शब्द का साहचर्य हो चुका है, अतः वर्णसम्बन्धी किसी भी चर्चा में अधिक उत्साह प्रदर्शित नहीं किया जाता।

।। इति चतुर्थाध्यायान्तर्गतं अष्टमप्रकरणम्।।

।। इति चतुर्थोऽध्यायः।।

पंचम अध्याय

मनु एवं याज्ञवल्क्य के पश्चात् समाज की वर्णात्मक दशा

उपनिषदों में वर्ण

वेदों में निहित अनुष्ठानात्मक विषयवस्तु की विशेष व्याख्या के लिए ब्राह्म संस्कृति के प्रवक्ताओं ने **ब्राह्मण** ग्रन्थों की रचना की। **आरण्यक** ग्रन्थ ब्राह्मणों के अन्तिम भाग हैं। वानप्रस्थियों के लिए अनिवार्यरूपेण अध्ययनीय होने के कारण इन्हें आरण्यक कहा गया क्योंकि वानप्रस्थी का अर्थ ''वनस्थ, वनी या वनवासी'' ही होता है। वेदों में निहित **ब्रह्मविद्या** के प्रवचनार्थ ब्राह्मों ने **उपनिषद्** ग्रन्थों की रचना की। वेदों में निहित कथित उच्चतम ज्ञान होने के कारण ब्रह्मविद्या को **वेदान्त** भी कहा जाता है। अतः उपनिषद् ग्रन्थों को ''वेदान्त ग्रन्थ'' भी कहते हैं किन्तु उनका उपनिषद् नाम ही अधिक प्रचलित हुआ। इसका कारण यह है कि उपनिषद् शब्द में उपनिषद् ग्रन्थों को समझ सकने का सूत्र दिया गया है। उप+नि+सद् से उपनिषद् शब्द निष्पन्न होता है, जहाँ उप=समीप, नि=निष्ठापूर्वक तथा सद्=बैठना। अतः गुरु के समीप निष्ठापूर्वक बैठने पर ही उपनिषदों में दी गयी ब्रह्मविद्या को जाना जा सकता है। जो व्यक्ति उपनिषद् ग्रन्थों को पढ़ लेने में ही कृतकृत्यता समझता है, वह मूढ ही माना जाता है। उपनिषद् ग्रन्थों का केवल इतना ही प्रयोजन माना जाता है कि वे व्यक्ति में ब्रह्मजिज्ञासा की अग्नि को उत्पन्न करते हैं तथा उसे भड़काते हैं। जब ब्रह्मजिज्ञासारूपी अग्नि असहनीय हो जाये तो व्यक्ति को किसी ब्रह्मज्ञानी की खोज करनी चाहिए। जो भी ब्रह्मज्ञानी प्रतीत हो उसके समीप अवश्य जाना चाहिए। ब्रह्मज्ञान अनिवर्चनीय होता है, अतः गुरु उसे अपने मुख द्वारा शिष्य को नहीं दे सकता। वह तो शिष्य को चैतन्य के विकास का उपाय बताता है। इन्हीं उपायों का ज्ञान ब्रह्मविद्या कहलाता है। चैतन्य के पूर्ण विकसित हो जाने पर शिष्य को स्वयमेव ब्रह्मज्ञान हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्मविद्या व ब्रह्मज्ञान में साधन–साध्य सम्बन्ध है। ब्रह्मज्ञान अतिरहस्यात्मक होता है, अतः ब्रह्मजिज्ञासु यदि गुरु के प्रति और अपने ब्रह्मज्ञानरूपी लक्ष्य के प्रति पूर्ण निष्ठावान् नहीं होगा तो वह गुरु के मार्गदर्शन से लाभान्वित नहीं हो सकेगा। इस प्रकार उपनिषद् ग्रन्थों का वास्तविक अर्थ गुरु ही बता सकता है। स्वयं पढ़कर उनका गूढार्थ नहीं जाना जा सकता। ब्रह्मविद्या, रहस्यविद्या, अध्यात्मविद्या, वेदान्त, उपनिषद् आदि सभी शब्द समानार्थक हैं। मुक्तिकोपनिषद् में 108 उपनिषदों का उल्लेख मिलता है। शंकराचार्य ने केवल 10 उपनिषदों पर ही अपना भाष्य लिखा है। वे ही प्राचीनतम माने जाते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं – ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक। इनके अतिरिक्त

कौषीतकि, श्वेताश्वतर तथा मैत्रायणी उपनिषद् भी प्राचीन हैं।

समाज में तीन प्रकार के पाप विद्यमान होते हैं – स्पष्ट पाप, प्रच्छन्न पाप तथा धर्मों का असामंजस्य। चोरी, डाका, हिंसा, बलात्कार आदि स्पष्ट पाप हैं। कुस्मृतियों, कुशास्त्रों के बहाने अपात्र होकर भी दान स्वीकार करना अथवा दान माँगना; अनुष्ठानों में मनुष्य, पशु आदि की बलि देना; शूद्रों व स्त्रियों आदि को उनके सम्मान व अधिकारों से वंचित करना; असवर्णा अथवा सगोत्रा कन्या से विवाह करना; परस्त्री के साथ मैथुन करना इत्यादि प्रच्छन्न पाप हैं। स्पष्ट पाप तो स्पष्टतया दृष्टिगोचर होते ही हैं किन्तु चिन्तन–मनन तथा सच्छास्त्रों के अध्ययन आदि द्वारा प्रच्छन्न पापों से भी बचा जा सकता हैं किन्तु तृतीय प्रकार के पाप अर्थात् धर्मों के असामंजस्य से बचने के लिए अतिसूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता होती है। बहुत–से लोग ऐसे हैं जो शास्त्रचर्चा और अनुष्ठानादि से ही मोहित हो गये हैं। वे जीवनपर्यन्त शास्त्रचर्चा तथा अनुष्ठानादि करते रहते हैं किन्तु उनके चैतन्य का कोई विकास नहीं होता जबकि शास्त्रों तथा अनुष्ठानों का मूल उद्‌देश्य चैतन्य का विकास ही है। जिस प्रकार प्राणरक्षक अन्न का अतिसेवन भी प्राणहानि का कारण हो जाता उसी प्रकार शास्त्रचर्चा, अनुष्ठानादि भी एक सीमा तक ही लाभदायी होते हैं, उसके पश्चात् यदि साधना न की जाय तो ये शास्त्र तथा अनुष्ठानादि साधना से बचने का बहाना बन जाते हैं जिसका फल आध्यात्मिक हानि होता है।[266] उपनिषदों में मनुष्य को तीनों प्रकार के पापों से सावधान करने का प्रयास किया गया है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि जलप्लावन के आदिकाल में ही राजर्षि मनु ने जन्म ग्रहण किया था जबकि याज्ञवल्क्य स्मृति के लेखक का जन्म शाक्यमुनि बुद्ध के पश्चात् हुआ था और उपनिषद् ग्रन्थों की रचना जलप्लावन के आदिकाल से लेकर शाक्यमुनि बुद्ध के पश्चात् तक होती रही। प्रायः अधिकांश उपनिषदों ने तत्कालीन समाज में व्याप्त तीनों प्रकार के पापों पर आघात किया है। उपनिषद् में सत्यकाम जाबाल की कथा है जो जातिवाद पर अतितीव्र आघात करती है। सत्यकाम विद्याप्राप्ति की कामना से महर्षि जाबालि के आश्रम जा पहुँचा। महर्षि जाबालि ने उसके पिता के विषय में पूछा तो उसने कहा कि मेरी माता कई घरों में काम करती थी और मेरे जन्म के पूर्व वह कई पुरुषों के सम्पर्क में आयी, अतः वह स्वयं भी नहीं जानती कि मेरा पिता कौन है। यह सुनकर महर्षि जाबालि अत्यन्त गम्भीर होकर बोले कि स्वयं के सम्बन्ध में इतनी निन्दनीय बात भी तुमने सत्यपूर्वक कही है। यह अतिवीरता का कार्य है। सत्यभाषण ब्राह्मणत्व का हेतु है, अतः मैं तुम्हें अपना शिष्य स्वीकार करते हुए ब्राह्मणत्व में दीक्षित करता हूँ। तुम्हारे सत्यभाषण के गुण के कारण मैं तुम्हारा नाम सत्यकाम रखता हूँ तथा तुम्हें अपने पुत्ररूप में

266. अन्धतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूय इव भूय य उ विद्यायां रताः।। ईशोपनिषद्

भी स्वीकार करता हूँ। इस प्रकार तुम मेरे गोत्र को प्राप्त करोगे और सत्यकाम जाबाल कहलाओगे।

जिसकी माता शूद्रा थी और पिता का कोई पता ही नहीं था, ऐसा व्यक्ति भी यदि विनम्रता, जिज्ञासा, सत्यभाषण आदि गुणों के कारण सीधे ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर सकता है तो अन्यों की तो कथा ही क्या है ! यह कथा जातिवादी मानसिकता पर तीव्र आघात करते हुए स्वभाव के आधार पर वर्णप्राप्ति की बात दर्शाती है। इस प्रकार कथित उच्चतम विद्या के ग्रन्थ उपनिषद् भी जातिवाद के विरोधी हैं और स्वभाव के आधार पर वर्णप्राप्ति के पक्षधर हैं।

।। इति पंचमाध्यायान्तर्गतं प्रथमप्रकरणम्।।

रामायण काल के वर्ण

अधिकांश इतिहासकार महाभारत युद्ध को ईसा पूर्व 1400–1000 के मध्य की अर्थात् आज से प्रायः 3400 वर्ष पूर्व की घटना मानते हैं। महाभारत महाकाव्य में रामायण महाकाव्य के रचयिता वाल्मीकि का न केवल उल्लेख है अपितु रामायण का संक्षिप्त वर्णन भी मिलता है। इससे यही प्रतिपादित होता है कि महाभारत ग्रन्थ के वर्तमान स्वरूप में आने के पूर्व ही रामकथा प्रसिद्ध हो चुकी थी। अधिकांश विद्वान् रामायण ग्रन्थ को महाभारत ग्रन्थ से परवर्ती रचना ही मानते हैं।

रामायण ग्रन्थ के अनुशीलन से इस बात का स्पष्ट पता नहीं चलता कि तत्कालीन समाज में जातक को माता–पिता के वर्ण से इतर वर्ण की प्राप्ति का अधिकार था अथवा नहीं क्योंकि रामायण में जिन पात्रों का उल्लेख है, उनके माता–पिता उन्हीं के वर्ण के थे। श्रवण कुमार की कथा दी गयी है जिसके पिता वैश्यवर्णीय तथा माता शूद्रवर्णीय थी किन्तु स्वयं श्रवण कुमार को कौनसा वर्ण प्राप्त हुआ, इसका उल्लेख नहीं है। उत्तरकाण्ड में शम्बूक की कथा है जिसे राम ने मृत्युदण्ड दिया था क्योंकि शूद्र होकर भी उसने तपस्यारूपी अनधिकृत कार्य किया था। शम्बूक की कथा तो स्पष्टतया जातिवाद की पोषक है। किन्तु न तो श्रवणकुमार की और न ही शम्बूक की कथा प्रामाणिक मानी जा सकती है क्योंकि श्रवणकुमार की कथा राम के वनवास का हेतु बताने के लिए प्रक्षेपित की गयी प्रतीत होती है तथा शम्बूक की कथा उत्तरकाण्ड में आती है जिसके विषय में अधिकांश विद्वान् एकमत से स्वीकार करते हैं कि वह वाल्मीकिरचित नहीं है अपितु परवर्तीकाल में उसे रामायण में जोड़ा गया। उत्तरकाण्ड का नाम स्वयमेव इसके उत्तरवर्ती काल में जोड़े जाने का संकेत करता है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि रामायण काल में राजा निरंकुश और प्रजा शोषित नहीं थी क्योंकि राम को वनवास दिये जाने पर प्रजा ने राजमहल के सामने "धिक् त्वां दशरथ!" के नारे लगाये थे। इससे स्पष्ट होता है कि प्रत्येक नागरिक को अपनी

बात कहने का अधिकार था।

स्त्रियों के उपनयन के विषय में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता किन्तु इतना स्पष्ट पता चलता है कि वे वेदाध्ययन भी करती थीं। कौशल्या और तारा को वेदज्ञान से युक्त होने के कारण ''मन्त्रविद्'' कहा गया है। आत्रेयी वेदान्त का अध्ययन करती हुई तथा सीता सन्ध्या करती हुई दिखाई गई हैं। क्षत्रियों की कन्याओं को स्वयंवर का अधिकार प्राप्त था किन्तु वर को कन्या के पिता द्वारा आयोजित सामूहिक परीक्षा में उत्तीर्ण होना पड़ता था। समाज में बहुविवाह तथा असवर्ण विवाह भी होते थे। स्वयं दशरथ की तीन पत्नियाँ थीं।

।। इति पंचमाध्यायान्तर्गतं द्वितीयप्रकरणम्।।

महाभारत काल में वर्ण

हम यह पूर्व ही प्रदर्शित कर चुके हैं कि महाभारतकालीन समाज में जातितः वर्ण–व्यवस्था थी तथा जातक को अपने माता–पिता के वर्ण के आधार पर ही वर्णप्राप्ति होती थी। किन्तु एक बात महाभारत में स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है कि भले ही तत्कालीन समाज में वर्णप्राप्ति माता–पिता के वर्ण के आधार पर होती थी किन्तु गुणवान् और योग्य व्यक्ति को सम्मान प्राप्त होता था। मन्त्रिपरिषद् में शूद्र प्रतिनिधि भी रखे जाते थे। युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ के अवसर पर शूद्र प्रतिनिधियों को भी आमन्त्रित किया था। शान्तिपर्व में स्पष्टरूपेण कहा गया है कि चारों वर्णों को वेदाध्ययन का अधिकार है तथा शूद्र से भी ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। विदुर, मातंग, कायव्य आदि ऐसे व्यक्ति थे जो माता–पिता के वर्ण के आधार पर शूद्र माने गये किन्तु समाज में उन्हें उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। शूद्रों को सेवावृत्ति के अतिरिक्त ''वार्ता'' (कृषि, वाणिज्य, कौसीदकर्म) का भी अधिकार था।

स्त्रियों को भी अध्ययनाधिकार प्राप्त था। महाभारत में द्रौपदी को ''पण्डिता'' कहा गया है। वह युधिष्ठिर तथा भीष्म से धर्म व नैतिकता के विषय में वार्तालाप करती हुई दिखायी गयी है। रामायणकालीन समाज की भाँति इस काल में भी क्षत्रिय कन्याओं को स्वयंवर का अधिकार प्राप्त था किन्तु वर को कन्या के पिता द्वारा आयोजित सामूहिक परीक्षा में उत्तीर्ण भी होना पड़ता था। समाज में बहुविवाह तथा असवर्ण विवाह स्पष्टतया दृष्टिगोचर होते हैं। पाण्डु की दो पत्नियाँ थीं। धृतराष्ट्र की तेरह पत्नियाँ थी जिनमें से एक वैश्यवर्णीया भी थी। महाभारत में सती–प्रथा के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं। यथा, माद्री अपने पति पाण्डु के साथ सती हो गयी थी किन्तु अभिमन्यु, घटोत्कच तथा द्रोण की पत्नियाँ सती नहीं हुईं। सहस्रों यादव विधवाओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है जो अर्जुन के साथ हस्तिनापुर तक गयी थीं। महाभारत

में वेश्याओं के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं।

।। इति पंचमाध्यायान्तर्गतं तृतीयप्रकरणम्।।

पुराणों में वर्णो की स्थिति

"पुराणों" का अर्थ है – प्राचीन आख्यान। अमरकोश में पुराणों के पाँच लक्षण बताये गये हैं।[267]

1. सर्ग अर्थात् सृष्टि का उत्पत्तिक्रम
2. प्रतिसर्ग अर्थात् सृष्टि का प्रलयक्रम
3. वंश अर्थात् रक्तवंश तथा विद्यावंश
4. मन्वन्तर
5. वंशानुचरित अर्थात् प्राचीन राजवंशों का इतिहास।

मुख्य पुराण 18 माने जाते हैं – मत्स्य, मार्कण्डेय, भविष्य, भागवत, ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, ब्रह्म, वामन, विष्णु, वायु, अग्नि, नारद, पद्म, लिंग, गरुड, कूर्म तथा स्कन्द। इन्हें महापुराण भी कहा जाता है। इनके अतिरिक्त 18 उपपुराण भी हैं – सनत्कुमार, नृसिंह, स्कन्द, शिवधर्म, आश्चर्य, नारदीय, कापिल, वामन, औशनस, ब्रह्माण्ड, वारुण, कालिका, माहेश्वर, साम्ब, सौर, पराशर, मारीच तथा भार्गव। सभी इतिहासकार समानरूपेण सहमत हैं कि वर्तमान पुराणों की रचना महाभारत युद्ध के पश्चात् ही हुई। यद्यपि महाभारत युद्ध से पूर्ववर्ती काल में भी पुराण ग्रन्थ थे किन्तु वे अब उपलब्ध नहीं हैं। इस बात की पर्याप्त सम्भावना है कि वर्तमान पुराणों का अल्प अथवा अधिक अंश पूर्ववर्ती पुराण ग्रन्थों से लिया गया हो। वर्तमान पुराणों में उपर्युक्त पाँचों विषय अति मिले–जुले रूप में आये हैं, अतः अनेक स्थानों पर पाठक अथवा श्रोता यह निश्चित नहीं कर पाता कि आकाशीय पदार्थों का प्रसंग चल रहा है अथवा ऐतिहासिक व्यक्तियों का। यथा, शान्तनु तथा गंगा आकाशीय पदार्थ हैं जिनके विवाह का अलंकार वेद में वर्णित है। दूसरी ओर शान्तनु के पुत्र भीष्म थे, जो ऐतिहासिक घटना है। महाभारत में दोनों को मिला दिया गया है जिससे यह प्रतीत होता है कि भीष्म गंगा नदी के पुत्र थे। वस्तुतः पौराणिक प्रभावों से ही महाभारत तथा अन्य ग्रन्थों में भी ऐसे वर्णन जोड़े गये।

वर्तमान महाभारत में एक लाख से भी अधिक श्लोक हैं किन्तु आरम्भिक काल में इसमें दस सहस्र से भी न्यून श्लोक थे और इसका नाम "जय" था। सैकड़ों वर्षों तक महाभारत में श्लोकों को बढ़ाया जाता रहा। इन बढ़ाये गये श्लोकों में से अधिकांश श्लोक पुराणकर्ताओं द्वारा रचित हैं।

---

267. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितश्चैनं पुराणं पंचलक्षणम्।। अमरकोश

भागवत (1–4–28) में कहा गया है – ''भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः'' अर्थात् पुराणों में भरतवंशियों के इतिहास के बहाने वेदों के रहस्य प्रदर्शित किये गये हैं। इसी कारण महाभारत में भी कहा गया है – ''इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'' अर्थात् इतिहास व पुराण से वेदों का मर्म जाना जाता है। पुराणों में नामावलियों को वंशावलियों के रूप में प्रकट किया गया है जिससे कई पीढ़ियों के अन्तर पर स्थित व्यक्ति भी पिता–पुत्र प्रतीत होते हैं। केवल महाभारत युद्ध से परवर्ती राजाओं की वंशावलियाँ ही कुछ विश्वसनीय मानी जा सकती हैं। इस प्रकार पुराणों की खिचड़ी शैली के कारण उनके द्वारा किसी बात को स्पष्टरूपेण जान पाना अतिदुस्तर कार्य है। प्रायः समस्त पुराण परस्परविरोधी मान्यताओं से युक्त हैं किन्तु वर्णप्राप्ति प्रायः सभी पुराणों में माता–पिता के वर्ण के आधार पर ही वर्णित की गयी है। अधिक से अधिक निम्नवर्णीय माता–पिता वाले विद्वान् व योग्य व्यक्ति को विशेष सम्मान दिया गया है किन्तु उसे उच्च वर्ण में स्वीकृत नहीं किया गया है। महाभारत से परवर्ती होने के कारण प्रायः सभी पुराण जातिवादी मानसिकता से बद्ध ही प्रतीत होते हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति का लेखक भी इसी काल की प्रवृत्तियों से युक्त है।

।। इति पंचमाध्यायान्तर्गतं चतुर्थप्रकरणम्।।

मुस्लिम शासनकाल में वर्णों की दशा

इस्लाम के उद्भव के लगभग 150 वर्ष बाद 711 ई. में अरबी आक्रान्ता मुहम्मद बिन कासिम ने सिन्ध प्रान्त पर आक्रमण किया और इसके साथ ही भारत में मुस्लिम शासन का बीजारोपण हो गया। इसके पूर्व भी भारत पर विदेशी आक्रमण हुए किन्तु सभी आक्रान्ताओं ने कुछ पीढ़ियों के बाद ही भारतीय संस्कृति की उच्चता व भव्यता के सम्मुख नतमस्तक होकर उसे स्वीकार कर लिया। ब्राह्मणों ने भी उन्हें क्षत्रिय वर्ण में स्थान दिया। इस प्रकार बिना किसी अपवाद के समस्त आक्रान्ता हिन्दू समाज का अभिन्न अंग बनते चले गये। किन्तु मुस्लिम आक्रान्ताओं के विषय में कथा कुछ और ही है। उन्होंने न केवल अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखा अपितु एक बड़ी संख्या में हिन्दुओं को बलपूर्वक मुस्लिम बनाया जिसका सबसे बड़ा राजनैतिक फल हम भारत–विभाजन के रूप में देख चुके हैं। आखिर! भारतीय समाज का वह कौनसा गुण था जिसमें न्यूनता आ जाने के कारण वह मुस्लिमों को स्वयं में आत्मसात नहीं कर सका ? इस बात का ठीक–ठीक उत्तर जानने के लिए यह आवश्यक है कि हम इस बात पर भी ध्यान दें कि अन्य आक्रान्ताओं की तुलना में मुस्लिमों में वह कौनसा अतिरिक्त गुण था जिसके कारण भारतीय समाज उन्हें आत्मसात नहीं कर सका। वे अतिरिक्त गुण निम्नवत् हैं –

"निराकार व एक ईश्वर" की कट्टर अवधारणा तथा साम्प्रदायिक भ्रातृत्व – मुस्लिमों से पूर्ववर्ती सभी आक्रान्ता प्राकृतिक शक्तियों के मानवीकृत रूपों (Personified forms) की मूर्तियों का पूजन करते थे। इसके अतिरिक्त उनमें पूर्वजों की मूर्तियों का पूजन भी प्रचलित था। किन्तु मुस्लिम आक्रान्ता जब अरब से अपने राजनैतिक–आर्थिक–साम्प्रदायिक अभियान पर निकले तो उनके पास केवल तलवार की ही शक्ति नहीं थी अपितु "निराकार व एक ईश्वर" की कट्टर अवधारणा भी थी जिसके द्वारा उन्होंने अपनी कई दुर्बलताओं को दूर कर लिया था।

इस्लामिक उपासना का केन्द्र काबा इस्लाम के उद्भव के सैकड़ों वर्ष पूर्व ही अरब प्रायद्वीप का केन्द्रीय उपासना–स्थल था। इस्लाम के उद्भव के पूर्व अरब प्रायद्वीप बहुत ही छोटे–छोटे असंख्य कबीलों में बँटा हुआ था जिनमें छोटी–छोटी बातों पर निरन्तर युद्ध चला करते थे। इन कबीलों में केवल एक ही विधान (कानून) सर्वमान्य था और वह था – शक्ति। यदि एक कबीला दूसरे कबीले पर आक्रमण कर उसके धन, खाद्य, पशु, स्त्रीवर्ग आदि को छीनकर अपने यहाँ ले आता था तो उन सब पर जीतने वालों का अधिकार माना जाता था। यदि दूसरे कबीले वाले उन्हें पुनः प्राप्त करना चाहें तो युद्ध ही एकमात्र विकल्प था। प्रत्येक कबीले की कन्या का विवाह कबीले के अन्दर ही होता था। इस कारण प्रायः चाचा, बुआ, मामा, मौसी आदि की कन्याओं से ही विवाह होता था। इसके अतिरिक्त प्रत्येक कबीले का एक पूज्य होता था जिसकी मूर्ति का पूजन सम्पूर्ण कबीला अत्यन्त श्रद्धा के साथ करता था और उसे सर्वश्रेष्ठ मानता था। लूटपाट और वैमनस्य के इस वातावरण में प्रत्येक कबीला दूसरे कबीले का अपमान करने का प्रयास करता रहता था और इसके सर्वश्रेष्ठ रूप माने जाते थे – दूसरे कबीले की कुमारी कन्याओं का अपहरण तथा उनके पूज्य की मूर्ति का भंजन। इस प्रकार इस्लाम के उद्भव के सैकड़ों वर्ष पूर्व ही सम्पूर्ण अरब प्रायद्वीप अत्यन्त अराजकतापूर्ण स्थिति में था।

कुछ विद्वानों की मान्यता है कि जिस स्थान पर आज काबा बना हुआ है उसी स्थान पर इस्लाम के उद्भव के पूर्व ही सम्राट् विक्रमादित्य के सहयोग से एक भव्य और विशाल शिवालय का निर्माण कराया गया था ताकि मातृसत्तात्मक अरबी समाज में पैतृक वंश–परम्परा का सूत्रपात किया जा सके। इस शिवालय में जिस शिवलिंग की स्थापना की गयी, वह इस भूमि का पत्थर नहीं था अपितु एक उल्कापिण्ड था जो उल्कापात के कारण भूमि पर गिरा था। वह शिवलिंग आज भी काबे की दीवार में लगा हुआ है। उसे **संगे अस्मद** कहते हैं। संगे अस्मद का चुम्बन किये बिना **हजयात्रा** पूर्ण नहीं मानी जाती। सम्राट् विक्रमादित्य ने अपने राजकोष से इस शिवालय का निर्माण कराया तथा यहाँ पर नियुक्त पुरोहितों के लिए आजीवन धन–धान्य का प्रबन्ध किया। आज भी काबे का पुरोहित वर्ग वही प्राचीन

पारम्परिक पुरोहितवेश धारण करता है। वे कमर के नीचे एक धोती पहनते हैं तथा बायें कन्धे के ऊपर तथा दायें कन्धे के नीचे लपेटकर एक अन्य वस्त्र कमर के ऊपर पहनते हैं। इसके अतिरिक्त सम्राट् विक्रमादित्य ने इस शिवालाय के निकट ही पाठशालाएं भी खुलवायीं जिनमें प्रविष्ट होकर अरबवासी सुशिक्षित होने लगे। किन्तु अरबी कबीलों में स्वपूज्यविषयक अभिमान इतना अधिक था कि इस शिवालय पर भी आक्रमण किये गये। इस समस्या से निपटने के लिए शिवालय की दीवार पर भीतर की ओर अरब प्रायद्वीप के सभी कबीलों के पूज्यों की मूर्तियाँ स्थापित की गयीं तथा प्रत्येक पूज्य के लिए वर्ष का एक दिन निश्चित कर दिया गया। उस निश्चित दिन पर शिवालय का पुरोहित वर्ग सबसे पहले उसी पूज्य का पूजन करता था और इसके उपरान्त शिवलिंग का पूजन करता था। अरब का प्रत्येक कबीला अपने पूज्य के लिए निश्चित किये गये दिन शिवालय पहुँचकर अपने पूज्य के पूजन में सम्मिलित होने लगा। **शबेरात**, जिसका **शिवरात्रि** से स्पष्ट साम्य है, के अवसर पर केवल शिवलिंग का ही पूजन होता था।

वर्तमान हजयात्रा इस्लाम के उद्‌भव के पूर्व अपने पूज्य के पूजन में सम्मिलित होने हेतु की जाने वाली यात्रा का ही नया रूप है। अपने पूज्य के पूजन के उपरान्त सभी कबीलेवासी शिवलिंग के पूजन में भी सम्मिलित होते थे। इस हेतु वे शिवालय की परिक्रमा करते थे तथा अपने मस्तक से शिवलिंग का स्पर्श भी करते थे। आज भी हजयात्री पूर्ववत् परिक्रमा करते हैं किन्तु शिवलिंग को मस्तक से स्पर्श करने की बजाय उसका **बोसा** (चुम्बनरूपी अरबी कृत्य) करते हैं। शनैः शनैः सभी कबीले अपने–अपने पूज्य के अतिरिक्त शिवलिंग में भी श्रद्धा रखने लगे। इस प्रकार यह शिवालय सम्पूर्ण अरब प्रायद्वीप के लिए सामूहिक श्रद्धा, सर्वपूज्यसमभाव तथा ज्ञान का केन्द्र बन गया। कुछ सौ वर्षों तक यही स्थिति बनी रही किन्तु बाद में शिवालय में अग्रपूजा का विवाद खड़ा हो गया। जो कबीले शक्तिसम्पन्न बन गये थे उन्होंने यह आग्रह किया कि प्रतिदिन उनके पूज्य की अग्रपूजा होनी चाहिए। अन्य कबीलों ने इसका विरोध किया। परिणामस्वरूप इस बात पर युद्ध होने लगे। पैगम्बर मुहम्मद ने जब यह स्थिति देखी तो वे बड़े ही चिन्तित हुए। उन्होंने सोचा कि यद्यपि "बहुपूज्यवादी और परपूज्यद्वेषी" अरबी कबीले शिवलिंग के कारण एक दृष्टि से "एकपूज्यवादी" तो बन गये हैं किन्तु "स्वपूज्यमोह" के कारण उनमें सदा ही युद्ध और रक्तपात होता रहेगा। इससे बचने का केवल एक उपाय है – "निराकार व एक ईश्वर" में आस्था तथा मूर्तिपूजन का विरोध। अपने उपाय को क्रियान्वित करने हेतु वे योजना बनाने में लग गये।

शनैः शनैः शिवालय के निकट एक बड़ा नगर बस चुका था जिसमें रहने वाले लोगों में से कुछ ऐसे भी थे जो किसी भी कबीले के पूज्य में श्रद्धा नहीं रखते थे किन्तु शिवलिंग में पूर्ण श्रद्धा रखते थे। ऐसे लोग प्रायः अरब के निकटवर्ती भूभागों से पाठशालाओं में अध्ययन करने हेतु अथवा दुकान लगाने

हेतु आये थे। पैगम्बर मोहम्मद के उदात्त और सौम्य व्यक्तित्व से वे लोग अतिप्रभावित थे। पैगम्बर मोहम्मद ने इन लोगों को समझाया कि ''सम्पूर्ण सृष्टि का कर्ता–धर्ता एक ही ईश्वर है और वह निराकार है। अतः कोई भी मूर्ति ईश्वर का स्थान नहीं ले सकती। जो मूर्तिपूजक हैं वे वस्तुतः **काफिर** (नास्तिक तथा ईश्वरविरोधी) हैं। मूर्तिपूजन की यह प्रवृत्ति अरब की अशान्ति का मूल कारण है। अतः अरब की शान्ति हेतु हमें काफिरों का तथा मूर्तियों का नाश करना होगा।''

इस पर उन लोगों ने पूछा कि ''क्या शिवलिंग भी ईश्वर का प्रतीक नहीं माना जा सकता ?'' इस पर पैगम्बर मोहम्मद ने कहा कि ''यदि कोई भी साकार वस्तु ईश्वर का स्थान नहीं ले सकती तो शिवलिंग कैसे ले सकता है ? किन्तु यह शिवलिंग सम्पूर्ण अरब की एकता व श्रद्धा का केन्द्र होने के कारण आपसी झगड़ों का कारण नहीं है, अतः हम इसे कदापि नष्ट नहीं करेंगे किन्तु लोगों को निराकारवाद की शिक्षा देते रहेंगे।''

अब, पैगम्बर मुहम्मद ने अपने समर्थकों का एक संगठन बनाया और उसका नाम **इस्लाम** रखा। इस्लाम का अर्थ है – शान्ति में प्रवेश। पैगम्बर मोहम्मद ने कहा कि ''इस्लाम का प्रत्येक सदस्य दूसरे सदस्य के लिए भाई के समान है तथा इस्लाम का लक्ष्य अरब में शान्ति और भ्रातृत्व की स्थापना करना है।'' एक दिन पैगम्बर मोहम्मद ने अपने समर्थकों को एकत्रित किया और तलवारों के साथ शिवालय में प्रवेश कर शिवालय की दीवारों पर स्थापित पूज्यों की मूर्तियों को तोड़ डाला। इसके साथ ही पैगम्बर मुहम्मद ने अपना सशस्त्र अभियान प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने कहा कि ''अरब **दार उल हरब** (काफिरों की भूमि) है और इसे **दार उल इस्लाम** (इस्लाम की भूमि) बनाना हमारा लक्ष्य है।'' इसके पश्चात् पैगम्बर मुहम्मद ने अपने समर्थकों के साथ मिलकर निकटवर्ती कबीलों पर विजय प्राप्त की और उनके पूज्यों की प्रतिमाओं को तोड़ डाला। जिन्होंने इस्लाम स्वीकार कर लिया, उन्हें अभयदान दिया गया, शेष का वध कर दिया गया। पैगम्बर मोहम्मद ने इस्लाम के सदस्यों को नैतिक शिक्षा भी दी। यथा, माता–पिता का सम्मान करना, विधवाओं को आश्रय देना, चार से अधिक विवाह न करना, लड़कियों के जन्म लेते ही मानहानि के भय से उन्हें भूमि में गाड़ने का कार्य न करना, इस्लाम के किसी भी सदस्य को किसी भी प्रकार की हानि न पहुँचाना इत्यादि। शीघ्र ही सम्पूर्ण अरब पर इस्लाम का हरा झण्डा लहराने लगा। पैगम्बर मुहम्मद के पश्चात् इस्लाम ने एक संगठित सम्प्रदाय का रूप ले लिया। इसके सदस्य **मुसलमान** अथवा **मुस्लिम** तथा इसका साम्प्रदायिक गुरु **खलीफा** कहलाने लगा। पैगम्बर मुहम्मद की नैतिक शिक्षाओं के बावजूद अरबवासी अपनी लूटमार, परस्त्रीहरण आदि प्रवृत्तियों को न छोड़ सके। अतः खलीफा ने निम्नोक्त विधान बनाये –

1. कोई मुसलमान दूसरे मुसलमान को हानि नहीं पहुँचा सकता।

2. मुसलमान चाहें तो काफिरों को लूट सकते हैं किन्तु इस लूट का सोलहवाँ हिस्सा खलीफा को देने पर ही वह लूट वैधानिक मानी जायेगी। लूट में मिली स्त्रियाँ लूटने वालों को ही प्राप्त होंगी।

3. यदि मुसलमान तलवार के बल पर काफिरों को भी मुसलमान बनाते हैं तो यह एक ईश्वरीय कार्य होगा। ऐसा करने वाले मुसलमान को **गाजी** की उपाधि प्रदान की जायेगी और मरणोपरान्त उसे स्वर्ग प्राप्त होगा।

वैसे भी अरब की मरुभूमि में खेती इत्यादि हो नहीं सकती थी, अतः धन, भोजन तथा स्त्रियों के लोलुप अरबवासियों को खलीफा के उपर्युक्त विधान अतिप्रिय प्रतीत हुए और उन्होंने **दारुल हरब** (काफिरों की भूमि) को **दारुल इस्लाम** (इस्लाम की भूमि) बनाने के पुण्यलाभ हेतु तथा लूट के लोभ से अरब के बाहर पदार्पण किया। ईश्वरीय लुटेरों के लिए भारतवर्ष निश्चितरूपेण ही आकर्षण का केन्द्र था क्योंकि भारतीय समृद्धि, सौन्दर्य तथा मूर्तिपूजन विश्वविख्यात थे। इस प्रकार उपर्युक्त तीन विधान ही **इस्लाम की आक्रामक तीव्रता** का मूल कारण थे जो "निराकार व एक ईश्वर" की कट्टर अवधारणा तथा साम्प्रदायिक भ्रातृत्व पर आधारित थे। यही वह अतिरिक्त गुण है जो पूर्ववर्ती आक्रान्ताओं में नहीं था। उनके मन में भारत की छवि एक समृद्ध देश के साथ–साथ एक सुसंस्कृत देश की भी थी जबकि मुस्लिम आक्रान्ताओं के मन में भारत की छवि एक समृद्ध किन्तु **काफिर** (ईश्वरविरोधी) देश की थी और वे स्वयं को **मोमिन** (ईश्वरवादी) समझते थे। अतः अन्य आक्रान्ता भारत को लूटने आये और यहाँ की संस्कृति को उच्च मानकर इसमें सम्मिलित हो गये किन्तु मुस्लिम यहाँ आये, बसे भी किन्तु वे भारत के इन घृणित काफिरों के साथ सम्मिलित होने के स्थान पर उन्हें पवित्र मोमिन बनाने का प्रयास निरन्तर करते रहे और थोड़ा–बहुत अब भी कर रहे हैं। आखिरकार भारतीय **दारुल हरब** का एक भाग वे **दारुल इस्लाम** (पाकिस्तान) बना ही चुके हैं। यद्यपि भारत में साकार उपासना के साथ–साथ निराकार उपासना का भी प्रचलन है किन्तु वह समाज की मुख्यधारा नहीं है। वैसे तो साकार उपासनाओं के एक निश्चित चरण पूर्ण हो जाने के उपरान्त साधक को निराकार उपासना ही करनी पड़ती है। यथा, गणेश उत्सव के समय दस दिनों तक साधक मूर्तिपूजन करता है किन्तु इसके पश्चात् मूर्ति का विसर्जन कर दिया जाता है। इसका तात्पर्य है कि उत्सव का मूल उद्देश्य **लोकसंग्रह** पूर्ण हो चुका है, अतः अब साधकों को ध्यान में चित्त लगाना चाहिए तथा उत्सव में निश्चित की गयी योजनाओं को क्रियान्वित करना चाहिए। किन्तु **ईश्वरीय आक्रामकता** का हरा चश्मा पहने हुए मुस्लिमों के पास न तो यह सब देखने का समय था और न ही योग्यता क्योंकि यह योग्यता यदि उनमें होती तो वे काबे की ओर मुँह करके

नमाज अदा करना, काबे की परिक्रमा करना, संगे अस्मद को चूमना इत्यादि कार्यों को भी मूर्तिपूजन का ही एक रूप समझते। भारतीय मनीषी तो ईश्वर को रूपातीत ही नहीं नामातीत भी बताते हैं। इस प्रकार **कुर्आन** में लिखे ईश्वर के 99 नाम भी ईश्वर के नाम नहीं हैं। इसी कारण भारत में **मौन** को **जप** से श्रेष्ठ माना जाता है। यदि मुस्लिम जन काबे की ओर मुँह करना, काबे की परिक्रमा करना, संगे अस्मद को चूमना तथा ईश्वर को **अल्लः** आदि नामों से पुकारना मानवीय दुर्बलता मानकर स्वीकार कर सकते हैं तो भारतीय भी मूर्तिपूजन को स्वीकार कर सकते हैं। सत्य तो ''नामरूप'' से परे ही है। वैसे भी, **अल्लः** सम्बोधन मातृवाचक है जो मातृसत्तात्मक प्राचीन अरबी समाज का पारम्परिक सम्बोधन है।

अस्तु, ''निराकार व एक ईश्वर'' की कट्टर अवधारणा तथा साम्प्रादायिक भ्रातृत्व पर आधारित इस्लाम की इस आक्रामक तीव्रता का उत्तर भारतीय शास्त्रों और मनीषियों के पास उपलब्ध था किन्तु समाज की मुख्य धारा मूर्तिपूजन होने के कारण यथासमय यह उत्तर दिया न जा सका। गुरु नानक की शिक्षाएं ''निराकार व एक ईश्वर'' की अवधारणा तथा भ्रातृत्व पर आधारित थीं किन्तु उनमें किसी प्रकार की कट्टरता अथवा इस्लाम के प्रतिकार की भावना नहीं थी। वे सब गुरु नानक की अपनी प्रज्ञा पर आधारित थीं। गुरु नानक के **शिष्य** ही बाद में ''सिख'' कहलाये। गुरु नानक के पश्चात् क्रमशः गुरु अंगद, गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अर्जुन, गुरु हरगोविन्द, गुरु हरराय, गुरु हरकिशन, गुरु तेगबहादुर व गुरु गोविन्दराय सिखों के गुरु बने। गुरु तेगबहादुर मुगल बादशाह औरंगजेब के अत्याचारों को सहन न कर सके और उन्होंने जनता को शिक्षा दी कि वह अपने धर्म का पालन करे और अत्याचार न सहे। इसे विद्रोह मानकर औरंगजेब ने सन् 1675 ई. में उन्हें कैद कर लिया। औरंगजेब ने गुरु तेगबहादुर से इस्लाम कुबूल करने के लिए कहा किन्तु गुरु तेगबहादुर ने ऐसा करना स्वीकार नहीं किया। इस पर उसने उन्हें पाँच दिनों तक घोर यातनाएं देने के पश्चात् विद्रोही कहकर उनका सिर काट लिया। इसके पूर्व गुरु अर्जुन (पंचम गुरु) को भी जहाँगीर ने सन् 1606 ई. में यातनाएं देकर मार डाला था। जब मुगल बादशाह जहाँगीर सिंहासन पर बैठा तब उसके पुत्र खुसरो ने विद्रोह कर दिया। वह भागकर पंजाब गया और उसने गुरु अर्जुन के दर्शन भी किये सिख गुरु हिन्दु–मुसलमान भेद को महत्त्व नहीं देते थे, अतः गुरु अर्जुन ने खुसरो को आशीर्वाद दिया। हिन्दुओं के साथ–साथ मुसलमान भी बड़ी संख्या में गुरु अर्जुन के शिष्य बन रहे थे। इस बात से जहाँगीर पहले ही रुष्ट था किन्तु अब तो वह अतिक्रुद्ध हो गया और एक विद्रोही का सहयोग करने का आरोप लगाते हुए उसने गुरु अर्जुन पर 2 लाख का जुर्माना किया। गुरु अर्जुन ने इसे देने से इन्कार कर दिया और कहा कि ''मेरा अपना कुछ भी नहीं है, यह धन तो निर्धनों और असहायों का है।'' गुरु अर्जुन के वध के कारण सिख विक्षुब्ध हो गये थे और

तभी से वे सशस्त्र होने की कामना करने लगे थे। गुरु गोविन्दराय (दशम एवं अन्तिम गुरु) गुरु तेगबहादुर के पुत्र थे और उनके शिरच्छेद के समय केवल 9 वर्ष के थे। पिता की मृत्यु होने पर उन्हें सिखों का गुरु घोषित किया गया।

अभी तक सिख गुरुओं का उद्देश्य अध्यात्म का प्रचार व रक्षण ही था किन्तु गुरु गोविन्दराय ने "सभी अत्याचारियों का दमन" अपना मुख्य उद्देश्य बनाया जो शस्त्रपूर्वक ही पूर्ण हो सकता था। गुरु अमरदास (तृतीय गुरु) ने वैशाख व माघ माह के प्रथम दिनों के अवसर पर सिखों के सम्मेलन का नियम बनाया था। गुरु गोविन्दराय ने एक बार वैशाख माह के प्रथम दिन के सम्मेलन में देश के कोने–कोने से आये अपने शिष्यों से कहा कि "उन्हें पाँच शिष्यों की बलि चाहिए।" इस हेतु जो पाँच शिष्य आगे आये उन्हें गुरु गोविन्दराय ने **पंच प्यारे** कहा और उनके नेतृत्व में **खालसा** नामक एक सशस्त्र संगठन बनाया। संयोगवश इन पंच प्यारों में से कोई भी क्षत्रिय या राजपूत नहीं था। गुरु गोविन्दराय स्वयं खालसा के प्रधान सेनापति बने। उन्होंने राजपूतों का अनुकरण करते हुए अपने नाम के **राय** शब्द को हटाकर उसके स्थान पर **सिंह** शब्द को लगाया और ऐसा ही करने के लिए अपने शिष्यों से भी कहा। गुरु गोविन्दसिंह ने अत्याचारियों को **सियार** और अपने शिष्यों को **सिंह** बताकर सिखों में वीरता की भावना भर दी। उन्होंने अपने शिष्यों के लिए, केश, कंघा, कड़ा, कच्छ (कौपीन) और कृपाण इन **पंच ककारों** की अनिवार्यता बतायी। कुछ ही समय में लगभग सभी सिख खालसा में सम्मिलित हो गये। इस प्रकार सिख सम्प्रदाय में इस्लाम की आक्रामक तीव्रता का पूर्ण उत्तर था। इसे हम निम्नवत् प्रकट कर सकते हैं –

इस्लाम	**सिख**
1. ईश्वर एक है और निराकार है अतः उसकी कोई मूर्ति नहीं हो सकती, ऐसा पैगम्बर मोहम्मद ने बताया है जो परमज्ञानी थे।	1. ईश्वर एक है और निराकार है, अतः उसकी कोई मूर्ति नहीं हो सकती, ऐसा गुरु नानक ने बताया जो परमज्ञानी थे।
2. सभी मुसलमान भाई–भाई हैं, अतः वे लंगर में एकसाथ भोजन करें।	2. सभी सिख भाई–भाई हैं, अतः वे जातीय उच्चता–निम्नता को भुलाकर लंगर में एकसाथ भोजन करें और अन्तर्जातीय विवाह भी करें।
3. काफिरों को मोमिन बनाने के लिए शस्त्र का प्रयोग किया जाना चाहिए।	3. दूसरे की आध्यात्मिक स्वतन्त्रता में बाधा डालने वाले के दमन हेतु शस्त्र का प्रयोग

अनिवार्य है।

4. पैगम्बर मोहम्मद ने जिस ढंग से दाढ़ी–मूँछ रखी और जैसा वेश धारण किया वैसा ही सभी मुस्लिमों को करना चाहिए, यही सुन्नत है।

4. गुरु गोविन्दसिंह ने सिखों के लिए पंचककार युक्त जैसा वेश बतलाया, उसे सभी सिख धारण करें।

5. पैगम्बर मोहम्मद ईश्वर नहीं हैं किन्तु उनके संदेशवाहक हैं।

5. गुरु ईश्वर से युक्त हैं और उनके मार्गदर्शन से ही ईश्वरप्राप्ति सम्भव है।

6. कुर्आन ईश्वरीय वाणी है जो पैगम्बर मोहम्मद के माध्यम से प्रकट हुई।

6. गुरु ग्रन्थ में गुरुओं की और दूसरे सन्तों के वचन हैं। सन्तों में अहंकार नहीं होता, अतः वे जो कुछ भी कहते हैं, वह ईश्वरीय वाणी ही है।

इस प्रकार सिख सम्प्रदाय ने इस्लाम की आक्रामक तीव्रता के लिए जैसे को तैसा उत्तर दिया किन्तु यह उत्तर अतिविलम्ब से दिया गया। भारत में इस्लाम के बीजारोपण के लगभग 1000 वर्ष पश्चात् यह उत्तर दिया गया। तब तक इस्लाम भारत में अपनी जड़ें जमा चुका था और इतनी बड़ी शक्ति बन चुका था जिसे थोड़ा–बहुत रोकना तो सम्भव था किन्तु नष्ट करना प्रायः असम्भव था। गुरु गोविन्दसिंह के चारों पुत्र इस्लामी आक्रामकता के विरुद्ध संघर्ष करते हुए वीरगति को प्राप्त हो गये। गुरु गोविन्दसिंह ने अपनी मृत्यु के पूर्व गुरु की गद्दी को समाप्त कर दिया और कहा कि "अब गुरुवाणी ही सिखों के लिए गुरु होगी।" तब से सिखों ने गुरुवाणी को **गुरु ग्रन्थ** कहना आरम्भ कर दिया। सिख सम्प्रदाय के सैनिकीकरण के लगभग 150 वर्ष पश्चात् स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना करके इस्लाम की आक्रामक तीव्रता का यथावत् उत्तर दिया किन्तु यह उत्तर "निराकार व एक ईश्वर" की मान्यता की वेदमूलकता, स्थूलतार्किकता तथा भारतीय राष्ट्रवाद पर आधारित था। अतः यह सिख सम्प्रदाय की भाँति सीमित होकर नहीं रह गया अपितु जंगल की आग की भाँति सुशिक्षित वर्ग में तेजी से फैलता चला गया। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का प्रायः पूर्ण क्रान्तिकरी वर्ग आर्य समाजी विचारधारा से अतिप्रभावित था। यद्यपि अपने मूर्तिपूजनविरोध के कारण हिन्दुओं के अन्य मूर्तिपूजक सम्प्रदाय आर्य समाज से अप्रसन्न और भयभीत थे किन्तु आर्य समाज उन सभी सम्प्रदायों के लिए सुरक्षाकवच का कार्य कर रहा था जो किसी न किसी रूपेण वेदानुयायी थे। आर्य समाज ने न केवल मतान्तरित हिन्दुओं की शुद्धि कर उन्हें पुनः हिन्दु बनाया अपितु उन्होंने मुस्लिमों को मतान्तरित कर हिन्दू बनाने का कार्य भी किया। एक समय ऐसा आया जब प्रतीत हुआ कि आर्य समाज समस्त मुस्लिमों को हिन्दू बना लेगा किन्तु

तभी आर्य समाज अपने भीतरी कलहों और पारस्परिक द्वेष के चलते अपनी शक्ति गँवा बैठा और शास्त्रीय चर्चा का एक मंच बनकर रह गया।

हम विचार कर रहे थे कि आखिर! भारतीय समाज का वह कौनसा गुण था जिसमें न्यूनता आ जाने के कारण वह मुस्लिमों को स्वयं में आत्मसात नहीं कर सका जबकि शक, यवन, हूण, कुषाण आदि पूर्ववर्ती आक्रान्ताओं को वह स्वयं में पूर्णतया आत्मसात कर चुका था ? हम बीच में ही पूर्ववर्ती आक्रान्ताओं की तुलना में मुस्लिम आक्रान्ताओं की विशेषता पर विचार करने लगे थे। अब हम पुनः अपने पूर्वप्रश्न पर लौटते हैं। वस्तुतः भारतीय संस्कृति की मूल शक्ति उसकी उपासना पद्धतियों में निहित नहीं है। लोगों का निराकारवादी अथवा साकारवादी होना संस्कृति की दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। उपासना पद्धति के विषय में भारतीय संस्कृति पूर्णतया निरपेक्ष है। सम्प्रदायनिरपेक्षता भारतीय संस्कृति के लिए कोई आदर्श नहीं है जिसे प्राप्त करना है अपितु यह तो भारतीय संस्कृति के स्वरूप में ही निहित है।

भारतीय संस्कृति का मूल है – शैव विचार। शाक्त विचार ने भारत की पारिवारिक एकता को क्षीण किया, प्राजापत्य व ब्राह्म विचारों ने भारत की सामाजिक एकता को क्षीण किया तथा जैन व बौद्ध विचारों ने भारत की राजनैतिक एकता को क्षीण किया।

अस्तु, मुसलमानों के भारत में आने से पूर्व ही भारतीय समाज विभिन्न जातियों व उपजातियों में विभक्त था। मुसलमानों के आने के पश्चात् हिन्दुओं ने अपने सामाजिक स्वरूप की सुरक्षा के लिए जातीय बन्धन और अधिक कठोर कर दिये जिसके कारण विभिन्न नवीन उपजातियों का निर्माण हुआ। ऊँच–नीच की भावना, व्यवसायपरिवर्तन तथा निवासस्थान के आधार पर प्रायः प्रत्येक जाति अनेकों उपजातियों में बँट गयी। ब्राह्मणों में ही शनाढ्य, कान्यकुब्ज, सरयूपारीण आदि अनेकों उपजातियाँ बन गयीं। अपनी उपजाति के बाहर रोटी–बेटी (खानपान तथा विवाह) का सम्बन्ध स्थापित करना असम्भव था। अन्तर्जातीय विवाह अपवादस्वरूप ही होते थे। प्रारम्भ में कोई हिन्दू यदि एक बार हिन्दुत्व को छोड़ देता था अथवा विवशता में मुसलमानों के साथ उनके बन्दी के रूप में भी रह लेता था तो उसे पुनः हिन्दुत्व में प्रवेश नहीं मिल पाता था। किन्तु इसे हिन्दुत्व के लिए हानिकारक जानकर यह बन्धन कुछ शिथिल कर दिया गया। फीरोज तुगलक तथा सिकन्दर लोदी ने कुछ ब्राह्मणों को केवल इसलिए दण्डित किया क्योंकि वे मतान्तरित मुसलमानों को पुनः हिन्दु बनने के लिए प्रोत्साहित करते थे। किन्तु विजयनगर राज्य के संस्थापक हरिहर व बुक्का को पुनः हिन्दु बना लिया गया था।

मुसलमान भी दो वर्गों में बँटे हुए थे – विदेशी तथा भारतीय। विदेशी मुसलमानों का वर्ग समाज

में सर्वाधिक सम्मानित था। यह भारत का शासक वर्ग था। इस कारण यह वर्ग सर्वाधिक प्रभावशाली तथा विशेषाधिकारों से युक्त था। राज्य के सभी बड़े–बड़े पद इसी वर्ग के व्यक्तियों के लिए सुरक्षित रखे जाते थे। इन्हें बड़ी–बड़ी जागीरें प्राप्त होती थीं तथा शासन और समाज में उनका स्थान सर्वोपरि था। किन्तु विदेशी मुसलमान भी तुर्क, ईरानी, अरब, अफगान, अबीसीनियन आदि उपवर्गों में विभक्त थे। 13वीं शताब्दी तक तुर्कों ने अपनी श्रेष्ठता स्थापित रखी और उन्होंने अन्य विदेशी मुसलमानों को समानता का दावा नहीं करने दिया। भारत में इस्लाम की स्थापना का श्रेय तुर्कों को ही प्राप्त है। 14वीं शताब्दी के आरम्भ में स्थिति परिवर्तित हुई। खिलजियों द्वारा सत्ता प्राप्त करते ही तुर्कों की श्रेष्ठता समाप्त हो गयी तथा पारस्परिक विवाहों एवं परिस्थितियों के परिवर्तन के कारण सभी विदेशी मुसलमानों का स्तर समान हो गया।

मुसलमानों का दूसरा वर्ग भारतीय मुसलमानों का था। इसमें वे मुसलमान थे जो मतान्तरित होकर हिन्दु से मुसलमान बने थे अथवा ऐसे ही मतान्तरित मुसलमानों की सन्तान थे। विदेशी मुसलमानों ने भारतीय मुसलमानों को अपने समान नहीं समझा क्योंकि वे न तो भारत के विजेता थे और न ही श्रेष्ठ व सुन्दर नस्ल वाले। अधिकांश भारतीय मुसलमान निम्नजातीय हिन्दुओं के मतान्तरण से मुसलमान बनाये गये थे, इस कारण विदेशी मुसलमान उन्हें हेय दृष्टि से देखते थे। मतान्तरित होकर मुसलमान बने हिन्दुओं ने अपने जातिविभेद तथा कुलगोत्र आदि का संरक्षण किया। इसका कारण यह था कि विदेशी मुसलमानों ने भारतीय मुसलमानों को शासन और समाज में समानता का स्थान नहीं दिया, अतः वे सोचते थे कि यदि हम अपनी जाति तथा कुलगोत्र को बचाये रहेंगे तो एक न एक दिन हम अपनी जाति में पुनः स्वीकृत हो सकेंगे। किन्तु मतान्तरितों का यह स्वप्न मूढ ब्राह्मणों के कारण पूरा न हो सका। यद्यपि बाद में मतान्तरितों को पुनः हिन्दू बनने की अनुमति मिल गयी किन्तु तब तक मतान्तरित होकर मुसलमान बनने वालों के वंशज एक करोड़ का आँकड़ा पार कर चुके थे। सभी मुसलमान हिन्दुओं की स्त्रियाँ प्राप्त करने का अवसर ढूँढते रहते थे। हिन्दुओं पर कर का भार अत्यधिक था और उन्हें सर्वदा अपने मान–सम्मान की रक्षा के लिए जागरूक रहना पड़ता था। किन्तु कुछ पदों से, विशेषरूपेण लगान विभाग से, हिन्दुओं को हटाना कठिन था। इसी प्रकार हिन्दू व्यापारी, कारीगर, कृषक आदि भी मुस्लिम शासकों के लिए महत्त्वपूर्ण बने रहे। आवश्यकतानुरूप हिन्दुओं को सैनिकों के रूप में भी भर्ती किया गया किन्तु हिन्दू समाज की स्थिति ब्राह्मों व प्राजापत्यों के कारण तथा मुसलमानों के दुर्व्यवहार के कारण अतिशोचनीय थी। जो कुछ भी हिन्दू सुरक्षित रख सके वह अपने चातुर्य तथा शक्ति के आधार पर ही रख सके। इस युग में कभी–कभी ऐसा प्रतीत होता था कि हिन्दू होना जैसे कोई अभिशाप है। राजाओं

का जीवन भी गौरवविहीन था। वे कायर और विलासी थे। यद्यपि कोई–कोई राजा स्वाभिमानी और वीर भी थे किन्तु उनमें भी राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना की न्यूनता थी। केवल छत्रपति शिवाजी महाराज ही एकमात्र अपवाद थे। वे राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक चेतना से ओत–प्रोत थे। अपने बाहुबल और राजनैतिक प्रतिभा द्वारा स्थापित अपने छोटे–से राज्य को उन्होंने **हिन्दवी स्वराज्य** कहा और राज्याधिकारियों के नाम भी संस्कृत में रखे। यथा, **वजीर** के स्थान पर **अमात्य** शब्द का प्रयोग किया गया। छत्रपति शिवाजी महाराज तत्कालीन राजाओं की भाँति विलासी नहीं थे अपितु उनमें अभूतपूर्व चारित्रक दृढता थी।

हिन्दू स्त्रियों की स्थिति पहले से भी निम्नतर हो गयी थी। साधारणतः एकविवाह की परम्परा थी किन्तु धनाढ्य लोग बहुविवाह करते थे। राजाओं के पास अनेकों पत्नियाँ होती थीं। राजा मानसिंह के रनिवास में 1500 स्त्रियाँ थीं। विधवाओं को पुर्नविवाह का अधिकार नहीं था। उन्हें पति के साथ चिता में जलकर सती होना पड़ता था अथवा मृत्युपर्यन्त संन्यासिनीवत् त्यागमय जीवन जीना पड़ता था। ऐसे में सतीप्रथा को प्रश्रय मिलना स्वाभाविक ही था। देवर से विधवा के पुर्नविवाह की परम्परा को तो भुला ही दिया गया था। मुसलमान हिन्दू स्त्रियों को पाने के लिए लालायित रहते थे। इस कारण हिन्दुओं में बालविवाह तथा पर्दाप्रथा बढ़ती चली गयी। स्त्रियों की शिक्षा पर भी इसका प्रभाव पड़ा। वे स्वतन्त्रतापूर्वक अपने घरों से बाहर नहीं जा सकती थीं। इस कारण उनकी शिक्षा का प्रबन्ध घर में ही किया जाता था और यह सुविधा भी धनवान् व्यक्तियों की पुत्रियों को ही प्राप्त हो सकती थी। उस समय घर में पुत्री का जन्म जैसे शोक का विषय हो गया था। जिसके परिणामस्वरूप बालहत्याएं भी की जाती थीं। परन्तु अनेकों निम्न जातियाँ इन कुप्रथाओं से पर्याप्त मात्रा में बची रहीं। उनमें पर्दाप्रथा नहीं थी तथा विधवाविवाह व पुनर्विवाह भी सम्भव थे। इस युग में स्त्री सहधर्मिणी के स्थान पर भोग्या मात्र रह गयी थी।

।। इति पंचमाध्यायान्तर्गतं पंचमप्रकरणम्।।

अंग्रेजी शासनकाल में वर्णों की दशा

यूरोपीय देश अतिप्राचीन काल से ही भारत से रेशम, जवाहरात, जड़ी–बूटी आदि विभिन्न वस्तुएं आयात करते थे परन्तु उनमें सबसे प्रमुख वस्तु थी – मसाले, जो उनके मांसाहार को स्वादिष्ट बनाने हेतु अनिवार्य थे। प्रायः भारतीय व्यापारी अपना माल लेकर भारत के पश्चिमी समुद्रतट से चलकर पश्चिमी हिन्द सागर (West Indian Sea) अथवा अरब सागर (Arabian Sea) पार कर लाल सागर (Red Sea) होते

हुए स्वेज (Suez) की थलसन्धि पर पहुँचते थे जो ईजिप्ट (अफ्रीका) तथा पश्चिमी एशिया को जोड़ती थी। स्वेज की थलसन्धि के दक्षिण में लाल सागर तथा उत्तर में भूमध्य सागर (Mediterranean Sea) था। उस समय लाल सागर तथा भूमध्य सागर को जोड़ने हेतु स्वेज नहर का निर्माण नहीं हुआ था, अतः यूरोपीय व्यापारी भी भूमध्यसागर से होते हुए स्वेज की थलसन्धि पर पहुँचते थे। यहीं पर भारतीय व यूरोपीय व्यापारी अपने–अपने मालों का आदान–प्रदान कर अपने–अपने देश लौट जाते थे। इस प्रकार उस समय स्वेज की थलसन्धि सार्वदेशिक थोक बाजार (International wholesale market) बनी हुई थी। किन्तु जब तुर्कों ने सम्पूर्ण दक्षिणपूर्वी यूरोप तक अपना अधिकार कर लिया तो स्वेज की थलसन्धि भी उनके अधिकार क्षेत्र में आ गयी। अब यूरोपीय देश भारत से अपने व्यापार हेतु तुर्कों की दया पर आश्रित हो गये और उन्होंने भारत से व्यापार हेतु प्रत्यक्ष समुद्री मार्ग की आवश्यकता अनुभव की। इस कार्य में सफलता प्राप्त करने वाला प्रथम व्यक्ति था – वास्को डी गामा, जो एक पुर्तगाली था। उसने सोचा कि अफ्रीका महाद्वीप का चक्कर लगाकर भी भारत पहुँचा जा सकता है। अतः उसने पुर्तगाल के राजा हेनरी दी नेवीगेटर की सहायता लेकर भारत के लिए प्रत्यक्ष समुद्री मार्ग की खोज हेतु अपनी समुद्री यात्रा आरम्भ की। उसने अफ्रीका महाद्वीप के पश्चिमी तट का अनुसरण किया। किन्तु यह लम्बी यात्रा बड़ी ही उबाऊ, कष्टदायक तथा प्राणघातक थी। जब वास्को डी गामा अफ्रीका महाद्वीप के दक्षिणी सिरे पर पहुँचा तो उसे आशा हुई कि अब वह भारत पहुँच सकता है। अतः उसने अफ्रीका महाद्वीप के दक्षिणी सिरे का नाम उत्तमाशा अन्तरीप (Cape of good hope) रखा। उत्तमाशा अन्तरीप से चलकर हिन्द महासागर (Indian Ocean) पार कर 1498 ई. में वास्को डी गामा कालीकट के समुद्रतट पर हेनरी दी नेवीनेटर के प्रतिनिधि के रूप में उतरा और उसने कालीकट के शासक से पुर्तगाल हेतु व्यापार की सुविधा माँगी। उसे यह सुविधा प्राप्त हो गयी। इस घटना के साथ ही भारतीय इतिहास का एक नवीन अध्याय प्रारम्भ हो गया।

उस समय तक समस्त यूरोपीय देश ईसाई बन चुके थे। 1492 ई. में ईसाइयों के तत्कालीन साम्प्रदायिक गुरु पोप एलेक्जेण्डर षष्ठ ने पूर्वी समुद्रों में व्यापार करने का एकाधिकार पुर्तगाल को एक आज्ञापत्र द्वारा दे दिया था जिसका विरोध करने का साहस किसी भी कैथोलिक देश ने नहीं किया। फलतः सम्पूर्ण 16वीं शताब्दी में पुर्तगालियों ने भारत और दक्षिणपूर्व एशिया के यूरोप से होने वाले व्यापार पर अपना एकाधिकार रखा। बाद में 1506 ई. में पोप जूलियस द्वितीय ने और 1514 ई. में पोप लुई दशम ने इस आज्ञापत्र की पुनरावृत्ति की। किन्तु मतसुधार के शक्तिशाली हो जाने के कारण पोप की आज्ञा का उल्लंघन हुआ और डच (नीदरलैण्डवासी), अंग्रेज तथा फ्रांसीसियों ने भारत एवं दक्षिणपूर्व एशिया के

देशों से व्यापार करने के लिए पुर्तगाल के साथ ही नहीं अपितु आपस में भी प्रतिद्वन्द्विता की। पुर्तगालियों ने व्यापार में कम और राजनीति में अधिक रुचि दिखायी जो तत्कालीन परिस्थितियों में उनके लिए अनुकूल नहीं थी। उस समय भारत में मुगल साम्राज्य दृढ अवस्था में था।

भारत से व्यापार करने हेतु प्रथम डच कम्पनी 1602 ई. में स्थापित हुई। डच नौसेना पुर्तगाली नौसेना से श्रेष्ठ थी, अतः उन्होंने पुर्तगालियों के सम्पूर्ण व्यापार पर अपना अधिकार कर लिया। 17वीं शताब्दी में अंग्रेज तथा फ्रांसीसी भी भारत और दक्षिणपूर्वी देशों से व्यापार करने हेतु आ गये किन्तु वे विलम्ब से आये थे। 17वीं शताब्दी में भारत का डचों से व्यापार अंग्रेजों और फ्रांसीसियों की तुलना में अधिक था और उन्होंने पुलीकट, सूरत, चिनसुरा, कासिमबाजार, पटना, बालामोर, अमापट्टम, कोचीन आदि स्थानों पर व्यापारिक केन्द्र बना रखे थे। अपनी दुर्बल स्थिति के कारण डचों ने अपना ध्यान मसालों तक ही केन्द्रित रखा और भारत में राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने का प्रयास नहीं किया।

प्रथम अंग्रेज व्यापारिक कम्पनी की स्थापना 1600 ई. में हुई। 1615 ई. में इसी कम्पनी ने विलियम हॉकिन्स और सर टामस रो को व्यापारिक अनुमति माँगने के लिए जहाँगीर के दरबार में भेजा। मुगल दरबार में पुर्तगालियों के प्रभावशाली होने के कारण उन्हें अधिक सुविधाएं नहीं मिल सकीं किन्तु तब भी सर टामस रो ने जहाँगीर से सूरत में अंग्रेज फैक्टरी स्थापित करने की आज्ञा प्राप्त कर ही ली। धीरे–धीरे अंग्रेजों ने सूरत, आगरा, अहमदाबाद, मुम्बई, पटना, कासिम बाजार, राजमहल, कलकत्ता आदि में अपनी व्यापारिक कोठियाँ स्थापित कर लीं। 1698 ई. में एक अन्य अंग्रेज व्यापारिक कम्पनी की स्थापना हुई परन्तु पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता को समाप्त करने हेतु 1702 ई. में दोनों कम्पनियों को मिला दिया गया और नई कम्पनी **ईस्ट इण्डिया कम्पनी** कहलायी। 1717 ई. में इस कम्पनी ने मुगल बादशाह फर्रूखसियर से एक व्यापारिक अधिकारपत्र प्राप्त किया जिसके अनुसार मुगल बादशाह को प्रतिवर्ष 3000 रुपये देने के बदले में कम्पनी को हैदराबाद, गुजरात और बंगाल में बिना कर दिये व्यापार करने का अधिकार प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त, दीवान की आज्ञा प्राप्त करके कम्पनी को बंगाल में 38 गाँव खरीदने और साम्राज्य के लिए हितकारी प्रतीत होने पर वहाँ के शाही टकसाल का उपयोग करने का अधिकार भी दिया गया। कम्पनी ने इस फर्मान को बंगाल में अंग्रेजी व्यापार का **मैग्नाकार्टा** बताया। अंग्रेज व्यापार के साथ–साथ भारतीय राजनीति में भी रुचि ले रहे थे।

फ्रांस के शासक लुई चतुर्दश के मन्त्री कोलबर्ट के प्रोत्साहन और सरकारी सहायता से 1664 ई. में भारत से व्यापार करने के लिए प्रथम फ्रांसीसी कम्पनी की स्थापना हुई। फ्रांसीसियों ने पूर्वी समुद्रतट पर पाण्डिचेरी, बंगाल में चन्द्रनगर तथा मॉरीशस द्वीप में अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित किये।

परन्तु फ्रांसीसियों ने व्यापार में कम और राजनीति में अधिक रुचि प्रकट की।

यूरोपवासियों में से अंग्रेज ही भारत में राजसत्ता प्राप्त करने में सफल हुए। भारतीय राजनीति में उनका हस्तक्षेप दक्षिणभारत में कर्नाटक से आरम्भ हुआ। परन्तु वहाँ उनका हस्तक्षेप और संघर्ष मूलतः फ्रांसीसियों से प्रतिस्पर्धा के कारण था जो स्वयं भारत में राज्य स्थापित करने के लिए उत्सुक थे। आंग्ल–फ्रांसीसी युद्ध भारतीय राजनीति की दुर्बलता का प्रमाण थे। उस समय तक कोई भी भारतीय राज्य और राजनीतिज्ञ यह नहीं समझ सका कि ये दो यूरोपीय शक्तियाँ वस्तुतः भारतीय साम्राज्य की प्राप्ति हेतु आपस में लड़ रहीं थीं। इसके अतिरिक्त उनमें से किसी के भी पास इनको रोकने की और इनसे अपने मनोनुकूल कार्य कराने की शक्ति नहीं रह गयी थी। अंग्रेज फ्रांसीसियों से संघर्ष करने में सफल हुए किन्तु इसके पूर्व ही उन्होंने बंगाल के सूबे में, जिसमें उस समय बिहार व उड़ीसा भी सम्मिलित थे, अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। भारत में अंग्रेजी सत्ता का आरम्भ बंगाल से हुआ जहाँ प्लासी के युद्ध (1757 ई.) को जीतकर उन्होंने उस व्यक्ति को नवाब बनाने में सफलता प्राप्त की जो पूर्णतया अंग्रेज कम्पनी पर आश्रित हो गया।

प्लासी के युद्ध में विजयी होकर कम्पनी और उसके कर्मचारियों ने नवाब से प्रचुर धन प्राप्त किया। उनका व्यापार करमुक्त हो गया। अंग्रेज कम्पनी को 24 परगने की जागीर तथा कलकत्ता में अपनी टकसाल स्थापित करने का अधिकार मिला। इस युद्ध से अंग्रेजों की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई किन्तु सर्वाधिक लाभ कम्पनी को राजनैतिक दृष्टि से हुआ। बंगाल का नवाब कम्पनी पर आश्रित हो गया। कम्पनी ने उसकी सुरक्षा के लिए 6000 सैनिकों की अपनी सेना रखी। वस्तुतः अंग्रेज कम्पनी ही बंगाल, बिहार और उड़ीसा के सूबे की मालिक हो गयी और उसने इस सूबे की धनशक्ति व जनशक्ति का प्रयोग करके शनैः शनैः सम्पूर्ण भारत में अपना राज्य विस्तृत करने में सफलता प्राप्त की। इस प्रकार लगभग 1000 वर्षों का मुस्लिम शासनकाल समाप्त हो गया।

इस प्रकार यूरोपीय शक्तियों ने व्यापार की कामना से भारत में प्रवेश किया किन्तु भारतीय राजनैतिक दुर्बलता को देखकर उन्होंने राजनीति में सक्रिय भाग लिया। इसके कारण उनमें पारस्परिक संघर्ष हुआ जिसमें अंग्रेज विजयी हुए। 1857 ई. के प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के पश्चात् भारतीय साम्राज्य की बागडोर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों से निकलकर इंग्लैण्ड की महारानी विक्टोरिया के हाथों में चली गयी। सन् 1947 ई. में भारत ने राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त की किन्तु वह अपनी प्राकृतिक और परम्परागत सीमाओं से वंचित हो चुका था। 200 वर्षों के अंग्रेजी शासनकाल में भारत पर कई सकारात्मक व नकारात्मक प्रभाव पड़े। अस्तु, अंग्रेजी शासन की स्थापना के पूर्व ही पारम्परिक भारतीयों

(वेदानुयायी, जैन, बौद्ध तथा सिख़) में से वेदानुयायी वर्ग (शैव, शाक्त व वैष्णव) बहुसंख्यक था और अनेकों जातियों व उपजातियों में विभक्त था। अंग्रेजों ने अपने शासनकाल के प्रारम्भ में सभी भारतीयों को एक ही दृष्टि से देखा। उनके लिए समस्त भारतीय उच्चजातीय अथवा निम्नजातीय न होकर समानरूपेण शासित थे। किन्तु शीघ्र ही उन्होंने अनुभव किया कि भारतीय इतनी बड़ी संख्या में होकर भी पहले मुस्लिमों द्वारा तथा बाद में अंग्रेजों द्वारा इसलिए परास्त हुए क्योंकि जातीय भेदभाव के कारण उनमें एकता तथा राष्ट्रीय चेतना का पूर्ण अभाव था। यद्यपि भारतीय ग्रन्थों में, स्नानादि नित्यक्रियाओं में तथा तीर्थयात्राओं में राष्ट्रीय चेतना का पूर्ण समावेश था।[268]

इस रहस्य को समझते ही उन्होंने भारतीय जाति–पंक्ति, उच्चता–निम्नता और अन्य सभी भेदभावों को और भी बढ़ावा देना शुरू किया। जिन जातियों ने अंग्रेजों की सेवा स्वीकार की उन्हें **योद्धा जातियाँ** (Martial Races) कहा गया। उन्होंने प्रायः प्रत्येक जाति के लिए एक पृथक् रेजीमेण्ट की स्थापना की जिसमें अन्य जाति के सैनिकों को भर्ती नहीं किया जाता था। सभी रेजीमेण्टों में उच्चाधिकारी अंग्रेज होते थे और निम्नाधिकारी तथा साधारण सैनिक एक ही जाति के होते थे। जाट रेजीमेण्ट, अहीर रेजीमेण्ट, राजपूत रेजीमेण्ट, डोगरा रेजीमेण्ट, गोरखा रेजीमेण्ट इत्यादि अंग्रेजों द्वारा ही बनायी गयी थीं। उन्होंने मुस्लिमों में भी पृथक्ता की भावना भरी और उन्हें समझाया कि मुस्लिम हिन्दुओं से श्रेष्ठ हैं क्योंकि उन्होंने हिन्दुओं पर शासन किया है। अंग्रेजों का उद्देश्य था कि मुस्लिम यदि स्वयं को विदेशी मानते रहेंगे तो वे अंग्रेजी शासन के विरुद्ध हिन्दुओं का सहयोग नहीं करेंगे। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने इतिहासकारों से इस आशय का इतिहास लिखने को कहा कि ''कथित शूद्र तथा दक्षिणभारतीय ही भारत के मूल निवासी हैं और आर्य विदेशी हैं। आर्यों ने भारत के मूल निवासियों पर आक्रमण कर उन्हें अपना दास बना लिया और शेष लोगों को खदेड़कर दक्षिणभारत में ही सीमित कर दिया। आर्यों ने स्वयं को ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य में विभक्त कर लिया और जिन मूल निवासियों ने आर्यों की दासता स्वीकार की उन्हें शूद्र कहा गया किन्तु दासता स्वीकार न करने वालों को म्लेच्छ कहकर दक्षिणभारत तक खदेड़ दिया गया।'' इस बात की पुष्टि हेतु उन्होंने निम्नोक्त दो प्रमाण प्रस्तुत किये –

1. उत्तर भारत के उच्चजातीय लोगों की विदेशियों से समानता है किन्तु निम्नजातीय लोगों का रूपरंग तथा शरीराकृति दक्षिणभारतीयों के समान है।

---

268. उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्। वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः।।

गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति। नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु।।

अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवन्तिका। पुरी द्वारवती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः।।

2. आर्यावर्त की अवधारणा में दक्षिणभारत सम्मिलित नहीं है क्योंकि शास्त्रों में कहा गया है –

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु वै पश्चिमात्। तयोरेवान्तरं गिर्योरायावर्तं विदुर्बुधाः।। मनु. 2–22

अर्थात् पूर्व समुद्र (बंगाल की खाड़ी) से लेकर पश्चिम समुद्र (अरब सागर) तक तथा उत्तर में हिमालय पर्वत से लेकर दक्षिण में विन्ध्य पर्वत तक के भूभाग को विद्वज्जन आर्यावर्त कहते हैं।

ऐसा इतिहास लिखाने के पीछे अंग्रेजों का यही उद्देश्य था कि यदि लोग स्वयं को विदेशी मानेंगे तो वे भी मुस्लिमों की ही भाँति अंग्रेजी शासन का विरोध नहीं करेंगे और निम्नजातीय लोग आर्थिक व शैक्षिक रूप से इतने असमर्थ हैं कि ये अंग्रेजी शासन का विरोध कदापि नहीं कर सकेंगे। उपर्युक्त इतिहास को सिद्ध करने हेतु अंग्रेजों ने जो प्रमाण प्रस्तुत किये उनका खण्डन इस प्रकार है –

1. वस्तुतः प्राचीन काल से ही उत्तरभारत की उच्च जातियों में सुन्दर विदेशी आक्रान्ताओं का मिश्रण होते रहने के कारण उनका रूपरंग शेष भारतीयों से भिन्न प्रतीत होता है। इस भिन्नता के निवारण हेतु कथित निम्न जातियों के पुरुषों को अपनी पत्नियों के लिए सुन्दर यूरोपियन स्त्रियों के अण्डाणु क्रय करने चाहिए।

2. आर्यावर्त की संकल्पना वैष्णव संस्कृति की देन है जो देवों के अधीन थी किन्तु शैव संस्कृति में जम्बूद्वीप की संकल्पना है जिसमें **कश्यप** झील व चीन के मध्य स्थित समस्त भूभाग अन्तर्निहित है।

अस्तु, आज भी दुराशयपूर्ण आंग्लोक्त भारतीय इतिहास पाठ्यपुस्तकों में पढ़ाया जा रहा है जो जातीय भेद को नवीन दृढता प्रदान कर रहा है। इस जातीय भेदभाव के कारण वर्तमान भारत का सामाजिक जीवन और राजनीति विषाक्त हो गयी है।

अंग्रेजों ने नवीन शिक्षा व्यवस्था लागू की जिसका उद्देश्य था – "अंग्रेजी पढ़ा–लिखा ऐसा भारतीय युवा वर्ग तैयार करना जो शरीरेण भारतीय होकर भी मनसा अंग्रेज हो। वह भारतीय पूर्वजों को असभ्य, अशिक्षित तथा अन्धविश्वासी मानता हो तथा अंग्रेजी राज्य को भारत के लिए ईश्वरीय वरदान मानता हो जिसने भारत को ज्ञान–विज्ञान, शिक्षा, स्वास्थ्य, सभ्यता और संस्कृति प्रदान की। यह युवा वर्ग भारत में अंग्रेजी शासन हेतु न केवल अंग्रेजों का साथ दे अपितु भारत में अंग्रेजी राज्य अक्षुण्ण बनाये रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका भी निवाहे।" इस शिक्षा पद्धति ने एक बड़ी सीमा तक अंग्रेजों की उद्देश्यपूर्ति की किन्तु उसने भारतीय युवाओं को स्वराज्य, स्वदेश, वैचारिक स्वातन्त्र्य, लोकतन्त्र, आदि विचार भी प्रदान किये जो भारत में अंग्रेजी शासन के विरोध का कारण बने। जो भारतीय युवक पढ़ने के लिए इंग्लैण्ड या अमेरिका गये उनमें से बहुत सारे युवकों ने इंग्लैण्ड, अमेरिका, फ्रांस तथा रसिया की क्रान्तियों का अध्ययन किया तथा वे भारतीय युवक क्रान्ति, स्वतन्त्रता व लोकतन्त्र के विचार लेकर भारत लौटे।

पत्र, सरकारी धन, सैनिक आदि शीघ्र भेजने तथा यात्रा की सुविधा हेतु अंग्रेजों ने रेलगाड़ियाँ चलायीं जिन्होंने जातीय भेदभाव पर गहरा आघात किया। एक सीट पर बैठा उच्चजातीय व्यक्ति निम्नजातीय व्यक्ति को अपने साथ सीट पर बैठने से नहीं रोक सकता था क्योंकि टिकट खरीदने के कारण व्यक्ति सीट पर बैठने का अधिकारी होता था जबकि इसके पूर्व निम्नजातीय व्यक्ति उच्चजातीय व्यक्ति के साथ एक आसन पर कदापि बैठ नहीं सकता था। इसके अतिरिक्त क्रान्तिकारियों ने अंग्रेजों के विरुद्ध अपनी गतिविधियाँ शीघ्रता से सम्पादित करने हेतु रेलगाड़ियों का ही सहारा लिया।

अंग्रेजी शासनकाल में ही भारत में नवजागरण हुआ जिसने भारतीय समाज की कुरीतियों को दूर करना आरम्भ कर दिया। इस नवजागरण की दो धाराएं थीं –

यूरोपप्रभावित धारा – इसमें लॉर्ड विलियम बैंटिक, राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन आदि यूरोपीय ज्ञान से प्रभावित लोग थे। राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज की तथा केशवचन्द्र सेन ने प्रार्थना समाज की स्थापना कर जनता को अपने विचारों से अवगत कराया। उन्होंने बालविवाह, सतीप्रथा, पर्दाप्रथा, ऊँच–नीच, छुआछूत आदि को समाप्त करने में एक बड़े अंश तक सफलता प्राप्त की। ये लोग किसी न किसी रूप में भारत में अंग्रेजी शासन के पक्षधर थे। इनका प्रभाव प्रायः केवल अंग्रेजी पढ़े–लिखे अथवा धनाढ्य वर्ग तक ही सीमित था।

देशी धारा – इस धारा के लोग भी भारतीय समाज में व्याप्त कुरीतियों पर गहरा आघात कर रहे थे किन्तु उन्होंने इस आघात की प्रेरणा यूरोपीय ज्ञान से प्राप्त न कर भारतीय शास्त्रों तथा साधना–परम्परा से प्राप्त की। इस धारा में सबसे आगे स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा रामकृष्ण परमहंस थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती अंग्रेजी शासनकाल में स्वदेशी शासन की खुली वकालत करने वाले प्रथम भारतीय थे। उन्होंने आर्य समाज की स्थापना कर अपने विचारों का प्रसार किया। उन्होंने अनुभव किया कि वेद के नाम पर हिन्दुओं को एकत्रित व संगठित किया जा सकता है। अतः उन्होंने वेदाध्ययन को मानवमात्र का परमकर्तव्य बताते हुए मूर्तिपूजन, बालविवाह, सतीप्रथा, विधवाविवाहनिषेध, पर्दाप्रथा, ऊँच–नीच, छुआछूत आदि कुरीतियों को अवैदिक कहा तथा उन्हें मध्यकालीन सामाजिक विकृतियाँ बताया। उन्होंने स्त्री, शूद्र आदि सभी को वेदाध्ययनादि का अधिकारी बताया। स्वामी दयानन्द का आन्दोलन जन–जन तक पहुँचा और पंजाब, महाराष्ट्र तथा बंगाल पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। स्वामी दयानन्द के वचनों से प्रेरित होकर कई युवकों ने क्रान्तिकारी संगठनों की स्थापना की। लण्डन में रहकर भारतीय विद्यार्थियों के लिए इण्डिया हाउस चलाने वाले डॉ. श्यामजी कृष्ण वर्मा स्वामी दयानन्द के ही शिष्य थे। इसी इण्डिया हाउस में रहकर वीर सावरकर जैसे क्रान्तिकारियों ने अध्ययन किया था। स्वामी

दयानन्द ने प्राचीन भारतीय शास्त्रों को ज्ञान–विज्ञान का खजाना बताया किन्तु प्रक्षेपों से सावधान रहने का निर्देश भी किया। वे यूरोपीय ज्ञान–विज्ञान के विरोधी नहीं थे किन्तु भारतीयता के गौरव के पक्षपाती भी थे। स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने सभी सम्प्रदायों की समानता पर बल दिया। उन्होंने सभी सम्प्रदायों की स्वयं साधना की और बताया कि सभी सम्प्रदाय ईश्वर की प्राप्ति में सहयोगी हैं। सम्प्रदायों में पारस्परिक विरोध नहीं है, अतः जिस व्यक्ति को जिस सम्प्रदाय में रुचि हो वही उसके लिए कल्याणकारी है। रामकृष्ण परमहंस के जगद्विख्यात शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने उनके विचारों को अमेरिका तथा यूरोप तक पहुँचाया। स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना कर अपने कार्यों को आगे बढ़ाया। मैडम ब्लैवैट्स्की, कर्नल ऑल्काट तथा एनी बेसेण्ट जैसे विदेशियों ने थियोसोफिकल सोसाइटी के माध्यम से भारतीय शास्त्रों, साधना–पद्धतियों आदि की श्रेष्ठता का प्रचार किया। अरविन्द घोष भी देशी धारा से जुड़े एक प्रखर राष्ट्रवादी क्रान्तिकारी तथा आध्यात्मिक सन्त थे। सम्पूर्ण देशी धारा ने एकस्वर से भारत में अंग्रेजी राज्य का स्पष्ट व तीव्र विरोध किया जबकि यूरोपप्रभावित धारा भारतीय समाज के कल्याण हेतु अंग्रेजी शासन से सहायता की आशा रखती थी। आगे चलकर भारतीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन यूरोप प्रभावित धारा के कारण ही भ्रमित होकर उचित रूप न तो सका, फलतः भारत स्वतन्त्र तो हुआ किन्तु वह अपनी प्राकृतिक व पारम्परिक सीमाओं को गँवा बैठा। फिर भी जाति–पंक्ति, छुआछूत, बालविवाह, विधवाविवाहनिषेध, सतीप्रथा, आदि समस्त सामाजिक कुरीतियों का विरोध देशी तथा यूरोपप्रभावित दोनों ही धाराओं ने किया। इस सब के होने पर भी ऐसा नहीं कहा जा सकता कि नवजागरण की दोनों धाराओं ने जातितः वर्ण–व्यवस्था को समाप्त कर दिया किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता हैं कि इन्होंने जातितः वर्ण–व्यवस्था के दंश को एक बड़ी सीमा तक समाप्त अवश्य कर दिया।

।। इति पंचमाध्यायान्तर्गतं षष्ठप्रकरणम्।।

स्वतन्त्रता के अनन्तर वर्णों की सामाजिक स्थिति

एक विशेष भूभाग संस्कृति के अस्तित्व के लिए अनिवार्य है। निश्चितरूपेण ही उस भूभाग की सीमाएं प्राकृतिक होने पर ही संस्कृति की रक्षा में सहयोगी हो सकती हैं, अन्यथा नहीं। अप्राकृतिक सीमाएं वस्तुतः अपनी सार्थकता खो बैठती हैं। संयोगवश अथवा परिस्थितिवश जिन लोगों को भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में प्रभावशाली एवं निर्णायक स्थान प्राप्त हुआ, उन्होंने स्वतन्त्रता के उतावलेपन में इस बात को पर्याप्त महत्त्व नहीं दिया कि एक बार अपनी प्राकृतिक सीमाओं को गँवा देने के पश्चात् भारत सदा के लिए अरक्षित हो जायेगा। इसी कारण उन्होंने भारत–विभाजन को स्वीकार कर लिया और अपने

पड़ोस में ही एक स्थायी शत्रु की सृष्टि कर ली। वस्तुतः भारत–विभाजन सहित शीघ्र मिलने वाली स्वतन्त्रता की अपेक्षा अखण्ड भारत सहित विलम्ब से मिलने वाली स्वतन्त्रता अधिक श्रेयस्कर थी। इस भारत–विभाजन का बीज गान्धी जैसे नेताओं की इस सदिच्छा में था कि ''स्वतन्त्रता आन्दोलन को पूर्णरूपेण शक्तिशाली तथा सार्वजनीन बनाने हेतु हमें मुसलमानों को भी इससे जोड़ना होगा और इस हेतु हमें मुसलमानों के साम्प्रदायिक गुरुओं, मुल्ला–मौलवियों आदि को कांग्रेस की सभाओं में वक्ता के रूप में आमन्त्रित करना चाहिए। उन्हें सुनने के लिए मुसलमान भी यहाँ आयेंगे और स्वतन्त्रता आन्दोलन से जुड़ जायेंगे।'' इस विचार को वीर सावरकर, मदनमोहन मालवीय तथा मोहम्मद अली जिन्ना ने आत्मघाती तथा निरर्थक बताया। मदनमोहन मालवीय तथा मोहम्मद अली जिन्ना ने कांग्रेस के इलाहाबाद अधिवेशन में एकसाथ इस विचार का विरोध किया और कहा कि ''राजनीति का साम्प्रदायिकीकरण नहीं होना चाहिए, अतः साम्प्रदायिक आधार पर किसी को भी वक्तृता का निमन्त्रण देना अनुचित है क्योंकि ऐसे वक्ता आन्दोलन को मिथ्या दिशा प्रदान कर सकते हैं।'' किन्तु दोनों ही नेताओं को अव्यावहारिक समझकर उनकी बात नहीं मानी गयी और बाद में विवश होकर दोनों ही नेताओं ने स्वयमेव साम्प्रदायिकता की राह पकड़ ली जो उनके यथार्थवादी और व्यावहारिक होने का एक लक्षण था। वीर सावरकर का तर्क था कि ''स्वतन्त्रता का आन्दोलन राष्ट्रीय आन्दोलन है और जो स्वतन्त्रता चाहते हैं, उन सभी का इस आन्दोलन में स्वागत है। हमें उनके सम्प्रदाय के आधार पर उन्हें न्यून या अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। अतः स्वतन्त्रता आन्दोलन से मुसलमानों को जोड़ने हेतु उन्हें मनाने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि स्वतन्त्रता आन्दोलन मुसलमानों के भरोसे नहीं चलाया जा रहा है। यदि मुसलमान स्वतन्त्रता आन्दोलन में हमारा साथ देते हैं तो उन्हें साथ लेकर, यदि वे हमारा साथ नहीं देते हैं तो उनके बिना ही और यदि वे हमारा विरोध करते हैं तो उनके विरोध के बावजूद हम अपनी स्वतन्त्रता को प्राप्त कर ही लेंगे।'' वीर सावरकर को ''हिन्दू उग्रवाद का जनक'' माना जाता था, अतः उनकी हिन्दुत्ववादी छवि के कारण उनकी बात में राष्ट्रवाद के स्थान पर मुस्लिमविरोध की कल्पना की गयी और हवा में उड़ा दिया गया।

वस्तुतः अंग्रेज तो चाहते ही थे कि इस देश में जितनी हो सके उतनी फूट पैदा की जाय। इसी कारण उन्होंने पृथक्–पृथक् जातियों की पृथक्–पृथक् रेजीमेण्टों की स्थापना की थी ताकि जातीय भेदभाव को बल मिले। इसी कारण उन्होंने आर्यों के विदेशी आक्रान्ता होने का मिथ्या इतिहास रचा ताकि उच्चजातीय इस देश को अपनी पितृभूमि न समझें तथा निम्नजातीय व दक्षिणभारतीय उन्हें विदेशी मानकर उनसे घृणा करने लगें। इसी कारण उन्होंने 19 जुलाई, 1905 ई. को बंगाल को हिन्दूबहुलता एवं

मुस्लिमबहुलता के आधार पर क्रमशः पश्चिमी व पूर्वी बंगाल के रूप में विभाजित कर दिया ताकि मुसलमान अंग्रेजों को अपना हितरक्षक समझें और उनमें हिन्दुओं से पृथक् होने का भाव प्रबल हो सके। सभी राष्ट्रवादी नेताओं ने बंग–भंग के विरोधस्वरूप 16 अक्टूबर, 1905 को **शोक दिवस** मनाया किन्तु मुसलमानों ने पूर्वी बंगाल को **दारुल इस्लाम** मानकर बंग–भंग पर हर्ष प्रकट किया। अंग्रेजों के इस कृत्य से उत्साहित होकर मुसलमान नेताओं ने विचार किया कि अंग्रेज उनके पृथक् हितों की रक्षा करना चाहते हैं, अतः उन्होंने 1 अक्टूबर, 1906 को आगा खाँ के नेतृत्व में मुसलमानों के पृथक् हितों की रक्षा हेतु तत्कालीन वायसराय लॉर्ड मिण्टो से भेंट की और लॉर्ड मिण्टो ने मुसलमानों के पृथक् हितों की रक्षा का आश्वासन दिया और उन्हें एक पार्टी बनाने की सलाह भी दी जिसके माध्यम से वे अंग्रेज सरकार को मुसलमानों के पृथक् हितों से अवगत करा सकें। अतः 30 दिसम्बर, 1906 को सलीमुल्लाह के नेतृत्व में आयोजित ढाका की बैठक में इण्डियन मुस्लिम लीग की स्थापना की गयी। इससे अंग्रेजों का हिन्दू–मुस्लिम फूट का स्वप्न पूरा हो गया। उन्होंने कहना शुरू किया कि मुस्लिम लीग मुसलमानों की प्रतिनिधि है, अतः कांग्रेस को केवल हिन्दुओं की बात करनी चाहिए। साधारण मुस्लिम जनता मुस्लिम लीग को अपनी तथा कांग्रेस को हिन्दुओं की प्रतिनिधि मान रही थी। हिन्दू जनता भी प्रायः ऐसा ही मान रही थी। इस अंग्रेजी षड्यन्त्र का केवल एक ही समाधान था कि कांग्रेस के मंच से यह कहा जाता कि "कांग्रेस उन समस्त भारतीयों की प्रतिनिधि है जो भारत की स्वतन्त्रता की कामना करते हैं। मुस्लिम लीग समस्त भारतीयों की प्रतिनिधि नहीं है और न ही उसका लक्ष्य भारत की स्वतन्त्रता है। कांग्रेस जब भी अपने प्रयासों से कुछ प्राप्त करेगी उसमें बँटवारा कराने वाले के अतिरिक्त मुस्लिम लीग की अन्य कोई भूमिका नहीं होगी। अतः हम मुस्लिम लीग का तथा साम्प्रदायिक आधार पर दिये जाने वाले समस्त विशेषाधिकारों का विरोध करते हैं।" किन्तु गान्धी जैसे नेताओं ने यह समाधान प्रस्तुत करने की बजाय यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया कि कांग्रेस हिन्दुओं के साथ–साथ मुसलमानों की भी हितचिन्तक है और मुस्लिमों के साम्प्रदायिक गुरुओं से निवेदन किया कि वे अपने पृथक् हितों की माँग कांग्रेस के मंच से करें न कि मुस्लिम लीग के मंच से। गान्धी द्वारा कही गयी यह बात ही आत्मघाती थी। या तो किसी भी मंच से साम्प्रदायिक आधार पर विशेषाधिकारों की माँग का विरोध किया जाना चाहिए था अथवा उन्हें मुस्लिम लीग को मुसलमानों की तथा कांग्रेस को शेष भारतीयों की प्रतिनिधि मान लेना चाहिए था। किन्तु उपर्युक्त आत्मघाती व्यवहार के कारण ऐसा न हो सका और मुसलमानों के साम्प्रदायिक गुरुओं और नेताओं के दोनों हाथों में लड्डू आ गये। वे कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग दोनों के ही मंचों से मुसलमानों के पृथक् हितों की वकालत करने लगे। मोहम्मद अली जिन्ना एक महत्त्वाकांक्षी किन्तु असाम्प्रदायिक

राजनेता थे और अपनी उच्च शिक्षा तथा राजनैतिक सूझ–बूझ के बल पर भारतीय राजनीति में उच्च पद की प्राप्ति की अभिलाषा रखते थे। उन्होंने देखा कि मेरे द्वारा साम्प्रदायिकता का विरोध करने पर कांग्रेस मुझे तिनका समझने लगी है और साधारण प्रतिभा और शिक्षा वाले इन साम्प्रदायिक नेताओं के तलुवे चाट रही है तो क्यों न मैं ही मुसलमानों के पृथक् हितों की वकालत करने लगूँ। ऐसा विचार कर उन्होंने मुस्लिम लीग में प्रवेश किया और मुसलमानों के हितों की प्रखर वकालत करना शुरू कर दी। उनका अनुमान सौ प्रतिशत सही निकला क्योंकि उनके ऐसा करते ही गान्धी जैसे नेताओं ने उन्हें तेल लगाना शुरू कर दिया। जिन्ना साम्प्रदायिक भावना वाले व्यक्ति नहीं थे, वे केवल महत्त्वाकांक्षी और दूरदर्शी राजनेता थे। वे जानते थे कि क्या कहने पर मुस्लिम जनता उनकी भक्त बन जायेगी। जहाँ अन्य मुस्लिम नेताओं ने मुसलमानों के लिए छोटे–मोटे विशेषाधिकार माँगे वहीं जिन्ना ने सीधे ''मुसलमानों के लिए पृथक् राष्ट्र'' की वकालत की। इस बात के कारण अन्य मुस्लिम नेताओं का कद जिन्ना के समक्ष बौना पड़ गया और मुस्लिम जनता जिन्ना की अन्धभक्त बन गयी।

अब भी गान्धी और उनके अनुयायी कांग्रेस को हिन्दू व मुसलमान दोनों की प्रतिनिधि बता रहे थे और अंग्रेज शासकों तथा जनता की दृष्टि में मुस्लिम लीग मुसलमानों की तथा कांग्रेस शेष भारतीयों की प्रतिनिधि थी। कम से कम गान्धी और उनके अनुयायिओं को भी कांग्रेस को शेष भारतीयों की प्रतिनिधि मानकर इस तथ्य के अनुरूप व्यवहार करना आरम्भ कर देना चाहिए था ताकि मुस्लिम पृथक्तावाद से शेष भारतीयों की रक्षा की जा सके। किन्तु वे ''हिन्दू मुस्लिम सिख ईसाई, आपस में सब भाई–भाई'' तथा ''ईश्वर–अल्ला तेरो नाम'' के संभ्रम से बाहर नहीं निकल सके। आचार्य रजनीश ने गान्धी की राजनैतिक अव्यावहारिकता पर व्यंग्य करते हुए कहा है कि ''यदि कोई आपको भाई न माने किन्तु आप उसे भाई मानें तो वह आपका भाई तो बनेगा ही नहीं, ऊपर से आपकी सम्पत्ति में से बँटवारा भी करा लेगा क्योंकि भाइयों की आपस में न बनने पर बँटवारा ही अन्तिम समाधान माना जाता है। मुसलमानों को उनकी इच्छा के विरुद्ध हिन्दुओं का भाई घोषित कर गान्धी ने वस्तुतः हिन्दुओं की ही हानि करवायी।'' किन्तु सबसे बडी विडम्बना यह है कि मुस्लिम जनता का अधिकांश भाग गान्धी को ''वह हिन्दुओं का नेता'' कहकर ही पुकारता रहा। अन्ततः 3 जून, 1947 को संसद में मुसलमानों के लिए पृथक् राष्ट्र की बात स्वीकृत हो गयी। अब गान्धी ने कहा कि ''पाकिस्तान मेरी लाश पर बनेगा।''

इंग्लैण्ड की संसद ने जुलाई, 1947 में भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम पारित किया जिसके अनुसार 15 अगस्त, 1947 को भारत दो स्वतन्त्र देशों में बाँट दिया गया – मुसलमानों के लिए पाकिस्तान तथा शेष भारतीयों के लिए भारत। अब, गान्धी अपने पाकिस्तानविरोधी भावुकतापूर्ण वक्तव्य को भुलाकर

पाकिस्तान को 57 करोड़ रुपये दिलाने की जिद पर अड़ गये और दिला कर ही माने। बाद में पाकिस्तान ने इस धनराशि का उपयोग भारत के विरुद्ध युद्ध छेड़ने में किया। इतना ही नहीं, गान्धी ने भारत के मुसलमानों तथा पाकिस्तान के हिन्दुओं से आग्रह किया कि वे अपने–अपने स्थानों पर ही बने रहें। जिन हिन्दुओं ने गान्धी की यह सलाह मानी उनकी सम्पत्ति तो छिनी ही साथ ही साथ उनकी आँखों के सामने ही मुसलमानों ने उनकी माँ–बहन–बेटियों के साथ बलात्कार किया और पाकिस्तान में ही रोक लिया। अपने धन, सम्मान व स्त्रीवर्ग को खोकर लुटे–पिटे हिन्दू जैसे–तैसे भारत पहुँचे।

स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दू–मुस्लिम दंगों में इतनी जानें गयीं जितनी किसी बड़े युद्ध में भी नहीं जातीं। इस प्रकार गान्धी के राजनैतिक व मनोवैज्ञानिक सूझबूझ से रहित नेतृत्व के कारण हमें रक्तरंजित स्वतन्त्रता प्राप्त हुई जिसके विषय में जनता यह नहीं समझ पाई कि प्रसन्न हुआ जाये अथवा आँसू बहाये जायें। पाकिस्तानी प्रशासन ने गान्धी के भावुकतापूर्ण और अव्यावहारिक आग्रह पर ध्यान दिये बिना ही अधिकांश हिन्दुओं को पाकिस्तान से निकालने का प्रयास किया किन्तु भारतीय प्रशासन पुनः गान्धी के मिथ्या मार्गदर्शन से भ्रमित हो गया और उसने मुसलमानों को भारत में ही बने रहने की अनुमति दे दी। जिन मुसलमानों के नाम पर पृथक् पाकिस्तान का निर्माण स्वीकार किया गया और ''कभी समाप्त न होने वाली भारत–विभाजन की असह्य पीडा'' को स्वीकार किया गया था, उन्हीं मुसलमानों को भारत में रोककर तत्कालीन प्रशासकों ने ऐसा घोर पाप किया है जिसका कुफल भारतीय जनता को अभी तक भोगना पड़ रहा है। ऊपर से मन्दमति नाथूराम गोडसे ने गान्धी को गोली मारकर उनकी सैद्धान्तिक असफलता को सिद्ध नहीं होने दिया और उन्हें तथा उनके संभ्रामक व अयथार्थवादी दृष्टिकोण को शहीदी चोला पहनाकर अमर कर दिया। फलतः भ्रान्त नेहरू जी कश्मीर व तिब्बत की समस्याओं के जनक बन बैठे।

इसी प्रकार राजभाषा के विषय में भी भ्रामक निर्णय लिये गये। भारतीय इतिहास के अनुशीलन से पता चलता है कि भारत की कोई भी क्षेत्रीय भाषा भारत में राष्ट्रभाषा का रूप नहीं ले सकी। इस तथ्य का सुखद पक्ष यह है कि इसके कारण क्षेत्रवाद दुर्बल हुआ तथा राष्ट्रवाद प्रबल हुआ। देवों के कारण **देवभाषा** व सप्तसैन्धव प्रदेश की **आर्यभाषा** के मिश्रण से बनी **संस्कृतभाषा** राष्ट्रभाषा बनी जिसने क्षेत्रीय भाषाओं के शब्दों को भी ग्रहण किया। मुगलों के कारण **फारसी भाषा** ने सम्पर्कभाषा का रूप ले लिया और अंग्रेजी शासनकाल में **अंग्रेजी भाषा** सम्पर्कभाषा बन बैठी। अब इस तथ्य से लड़ने में कोई सार्थकता नहीं थी, अतः निःसंशय होकर अंग्रेजी को सम्पूर्ण भारत की राजभाषा बनाया जाना चाहिए था। समस्त व्यवहार अंग्रेजी में किया जाना चाहिए था। राष्ट्रीय गौरव की रक्षा हेतु संस्कृतभाषा

तथा क्षेत्रीय भाषाओं की रक्षा की जानी चाहिए थी। किन्तु हिन्दी को राजभाषा का दर्जा दे दिया गया और "अंग्रेजी जानने वाले" व "अंग्रेजी न जानने वाले" दो मिथ्या वर्गों की सृष्टि कर दी गयी। दक्षिणभारतीयों ने इसे किंचिदपि स्वीकार नहीं किया। उनका तर्क था कि उनकी भाषा हिन्दी से भी प्राचीन है, अतः उन पर हिन्दी भाषा को थोपा जाना अनुचित है। इस भाषाविवाद के कारण दक्षिण भारत में दंगे हुए और सार्वजनिक संस्थानों पर हिन्दी में लिखे शब्दों पर पेण्ट (paint) पोत दिया गया। वस्तुतः स्वतन्त्रता आन्दोलनकालीन सम्पर्कभाषा होने के कारण तथा अपने साहित्य, सिनेमा आदि के कारण हिन्दी भाषा दक्षिणभारतीयों के जीवन में भी स्थान बना रही थी। यदि अंग्रेजी को राजभाषा तथा संस्कृत व प्रादेशिक भाषाओं को द्वितीय भाषा का स्थान दिया जाता तो प्रादेशिक भाषा की श्रेणी में होने पर भी दक्षिणभारत में हिन्दी को प्रश्रय अवश्य मिलता और शनैः शनैः वह स्वयमेव राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन हो जाती किन्तु प्रारम्भ में ही राजभाषा के रूप में थोपे जाने पर दक्षिणभारतीय आहत होकर हिन्दी का विरोध करने लगे।

इस प्रकार स्वतन्त्रता के अनन्तर भी भारतीय समाज भ्रान्त नेतृत्व से मुक्त नहीं हो सका है किन्तु भारतीय समाज और नेतृत्व की इस दिग्भ्रान्त स्थिति पर विचारशील जन अपेक्षित ध्यान नहीं दे रहे हैं।

उपर्युक्त समस्त बातों को कहने का तात्पर्य यह प्रदर्शित करना है कि इतिहास व संस्कृति के पारस्परिक सम्बन्ध को समझे बिना तथा उनको दृढता प्रदान किये बिना राष्ट्र का नवनिर्माण और सर्वांगीण विकास असम्भव है। चाहे वर्ण और जातिविषयक समस्या हो अथवा अन्य कोई भी समस्या हो, उसे इतिहास व संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में ही समझा और हल किया जा सकता है। गान्धी हिन्दू–मुस्लिम भ्रातृत्व का स्वप्न देखते थे। किन्तु वे यह नहीं देख सके कि जब हिन्दुओं में ही भ्रातृत्व का अभाव है तो हिन्दू–मुस्लिम भ्रातृत्व का स्वप्न कैसे पूरा होगा ! सर्वप्रथम तो हिन्दुओं में ही भ्रातृत्व होना आवश्यक है। भ्रातृत्व का सम्यक् और वास्तविक आधार है – गोत्र।

अस्तु, स्वतन्त्रता के अनन्तर निश्चितरूपेण ही जातीय उच्चता व निम्नता के भाव में न्यूनता आयी। शिक्षादि के अवसरों में समानता के कारण कथित उच्च जातियों ने अपनी उच्चता की भावना को तथा कथित निम्न जातियों ने अपनी निम्नता की भावना को छोड़ना आरम्भ कर दिया है। वैयक्तिक जीवन में कोई व्यक्ति भले ही जातीय उच्चता या निम्नता का भाव रखे किन्तु सामाजिक स्थानों पर तथा बुद्धिजीवियों के मध्य वह जातीय उच्चता या निम्नता का भाव प्रदर्शित नहीं कर सकता। यदि वह ऐसा करता है तो उसकी अप्रशंसा ही की जाती है। अधिक से अधिक विवाह हेतु ही जाति के विषय में विचार किया जाता है। किन्तु आधुनिकता के रंग में रंगे हुए नवयुवक और नवयुवतियां सुशिक्षित होकर आय का

स्रोत प्राप्त करने के उपरान्त जाति–पंक्ति पर ध्यान दिये बिना ही मनपसन्द साथी से विवाह करने की इच्छा रखते हैं। माता–पिता भी प्रायः इसका विरोध नहीं करते क्योंकि वे समझते हैं कि स्वयं धन कमाने वाली अपनी सन्तान से सहमत होना ही समीचीन होगा और अन्तर्जातीय विवाह होने पर कन्या के पिता के सम्मुख प्रायः दहेज की उतनी झंझट नहीं रहती जितनी सजातीय विवाह में होती है। इतना सब होने पर भी यह कहा जा सकता है कि जो लोग शिक्षा और नगरीय वातावरण से दूर हैं, उनमें जातीय उच्चता व निम्नता की भावना अभी भी तीव्र है किन्तु यह सब अधिक दिनों तक नहीं चल सकेगा क्योंकि शिक्षा के प्रसार तथा नवीनीकरण की तीव्र गति के कारण ऐसे व्यक्ति देर–सवेर अप्रभावी होते चले जायेंगे।

राजनैतिक दृष्टि से कुछ चिन्ताजनक स्थिति अवश्य प्रतीत हो रही है। बहुत से राजनैतिक दल स्वयं को कुछ विशेष जातियों का हितचिन्तक बताकर जातीय भेदभाव को जीवनदान दे रहे हैं। अंग्रेजों द्वारा प्रतिपादित आर्यों के विदेशी आक्रान्ता होने की मिथ्या परिकल्पना इस जातीय राजनीति को वैचारिक पृष्ठभूमि प्रदान कर रही है। इसके अतिरिक्त शिक्षा, सरकारी सेवाओं में प्रोन्नति आदि में जातीय आधार पर आरक्षण की व्यवस्था भी जातीय भेदभाव की बुझती आग को हवा दे रही है।

वस्तुतः जातिवाद से उत्पन्न समस्त समस्याओं के स्थायी समाधान हेतु क्षत्रिय वंशों तथा वैश्य व शूद्र जातियों का गणगोत्रों में परिणत होना अतिआवश्यक है और इस कार्य में विलम्ब होने पर सामाजिक विद्वेष की वृद्धि अवश्यम्भावी है। यह विद्वेष विस्फोटक रूप भी ले सकता है, अतः समय रहते विचारशील जनों द्वारा इस ओर ध्यान दिये जाने पर भावी दुर्घटना को टाला जा सकता है।

।। इति पंचमाध्यायान्तर्गतं सप्तमप्रकरणम्।।

गोत्र–व्यत्यय के कारण ही रुचितः वर्ण–व्यवस्था की जातितः वर्ण–व्यवस्था में परिणति

इस अध्याय के पूर्व प्रकरणों में हम प्रस्तुत विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं, विशेषरूपेण चतुर्थ अध्याय के "याज्ञवल्क्य एवं तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति" नामक प्रकरण में। यहाँ हम इतना ही कहना अपेक्षित समझते हैं कि गोत्र–व्यत्यय के कारण ही रुचितः वर्ण–व्यवस्था की जातितः वर्ण–व्यवस्था में परिणति हो गयी थी। अतः गोत्र–व्यवस्थापन द्वारा ही जातितः वर्ण–व्यवस्था को समूल नष्ट किया जा सकता है तथा रुचितः वर्ण–व्यवस्था के लिए उपयुक्त भूमिका का निर्माण भी किया जा सकता है।

।। इति पंचमाध्यायान्तर्गतं अष्टमप्रकरणम्।।

।। इति पंचमोऽध्यायः।।

षष्ठ अध्याय

वर्तमान परिस्थितियों में वर्ण–व्यवस्था की प्रासंगिकता

वर्तमान समाज की बहिर्मुखता

वैज्ञानिक उन्नति के कारण, विशेषतः यातायात तथा दूरसंचार के साधनों के अपूर्व विकास के कारण आज सम्पूर्ण पृथ्वी सचमुच ही एक कुटुम्ब हो गयी है। मानसिकरूपेण न सही किन्तु भौतिकरूपेण तो ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' का आदर्श प्राप्त किया ही जा चुका है और इसका श्रेय जाता है, वैज्ञानिक उन्नति को। इस वैज्ञानिक उन्नति का सूत्रपात हुआ था यूरोप में, जहाँ विज्ञानियों ने असंख्य कष्टों और प्रताडनाओं को सहकर भी अपने ज्ञानप्रेम का परित्याग नहीं किया। यूरोप के व्यापारियों ने इस वैज्ञानिक उन्नति का उपयोग कल–कारखानों के निर्माण में किया। निर्धन व बेरोजगार जन बड़ी संख्या में इन कल–कारखानों में मजदूर बने तथा बड़ी मात्रा में वस्त्रों आदि का अतिरिक्त उत्पादन हुआ। इस अतिरिक्त उत्पादन का विक्रय यूरोप में सम्भव नहीं था। क्योंकि सभी देशों के कल–कारखानों में आवश्यकता से अधिक उत्पादन हो रहा था। इस औद्योगीकरण के कारण यूरोप में तीव्र गति से नगरीकरण हुआ तथा आर्थिक आधार पर विभिन्न सामाजिक वर्गों से युक्त विशाल नगरों का आविर्भाव हुआ। अफ्रीका महाद्वीप और भारतीय उपमहाद्वीप में भौतिक उन्नति न होने के कारण यूरोपीय देशों को ये दोनों ही विशाल बाजार प्रतीत हुए, जहाँ वे अपने अतिरिक्त उत्पादन को खपा सकते थे। अपने व्यापारियों के हितों की रक्षा तथा उनके दबाव के कारण यूरोपीय सरकारों ने अफ्रीका महाद्वीप, भारतीय उपमहाद्वीप, चीन, हिन्दचीन प्रायद्वीप, पूर्वी द्वीपसमूह आदि को परतन्त्र बनाये रखना अतिआवश्यक समझा। बाद में स्वतन्त्रता आन्दोलनों के द्वारा समस्त उपनिवेशों ने अपनी–अपनी स्वतत्रता प्राप्त कर ली किन्तु बाजारवाद की इस नवीन जीवनशैली से मुक्त होने की न तो इन उपनिवेशों की इच्छा थी और न ही शक्ति। इन स्वतन्त्र हुए देशों ने भी अपनी अर्थव्यवस्था का बाजारीकरण करना ही उचित समझा। इस बाजारवाद में ''क्या बेचा जाय ?'' के स्थान पर ''अधिक मात्रा में तथा अधिक लाभ पर कैसे बेचा जाय ?'' ही महत्त्वपूर्ण रह गया। व्यापारी वर्ग ने मनुष्य की सबसे बड़ी दुर्बलता अर्थात् द्विवर्ग (अर्थ व काम) को विज्ञापनों के द्वारा निरन्तर भड़काया। स्वभावतः भारत में भी ऐसा ही हुआ और हो रहा है।

भारत की वर्तमान शिक्षा–व्यवस्था, जिस पर स्वतन्त्र शिक्षकों की बजाय प्रशासन का नियन्त्रण है, इस भड़कावे में सहयोगी हो गयी। शिक्षकों के राजभृत्य होने के कारण वे शिक्षण को स्वकार्य न मानकर प्रशासन का कार्य मानते हैं। अतः वे विद्यार्थियों को धर्मकेन्द्रित (कर्तव्यकेन्द्रित) शिक्षा देने में सर्वथा

अयोग्य हैं। वस्तुतः धर्म के द्वारा ही अर्थ व काम को नियन्त्रित किया जा सकता है।[269]

जो शिक्षक राजभृत्य होकर भी विद्यादान की भावना से शिक्षण करते हैं, वे केवल विषाद (frustration) को ही प्राप्त होते हैं क्योंकि शिक्षण हेतु अपेक्षित स्वतन्त्रता उन्हें राजभृत्य के रूप में कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। इस प्रकार एक ऐसा शिक्षित वर्ग तैयार हो गया है जिसमें अर्थ व काम को नियन्त्रित करने वाला साधन धर्म अतिदुर्बल है। यह शिक्षित वर्ग निरन्तर वर्धमान है तथा अर्थ व काम के द्वारा जिस किसी भी दिशा में ले जाया जा रहा है। प्रत्येक व्यक्ति यथाकथंचित अपने अर्थ व काम की तृप्ति के लिए प्रयासरत है। वस्तुतः अर्थ सीमित होता है किन्तु काम की कोई सीमा नहीं होती है। यथा, शैत्य से रक्षा हेतु उष्ण वस्त्र आवश्यक होने से अर्थ कहलायेगा किन्तु वह वस्त्र ''अरमानी का सूट'' ही हो तो वह काम हो जाता है। बाद में किसी और कम्पनी का सूट काम्य बन सकता है। इस प्रकार अर्थ की तृप्ति हो सकती है किन्तु काम की तृप्ति सर्वदा व सर्वथा कर पाना न सम्भव था, न सम्भव है और न ही कभी सम्भव हो पायेगा। विडम्बना यह है कि वर्तमान समाज में अर्थ व काम इतने घुल–मिल गये हैं कि उन्हें पृथक् कर पाना सामान्य व्यक्ति के लिए प्रायः असम्भव हो गया है।

जब धर्मजिज्ञासा दुर्लभ हो जायेगी तो स्वभावतः अर्थ व काम ही पुरुषार्थ रह जायेंगे। आज इसी स्थिति को प्राप्त हो जाने के कारण समाज अतिबहिर्मुखी हो चुका है। वस्तुतः बहिर्मुखता अस्वाभाविक अथवा अनुचित नहीं होती किन्तु वर्तमान समाज में बहिर्मुखता एक रोग का रूप ले चुकी है और इस रोग की शामक औषधि कहीं दिखाई नहीं देती, फलतः सर्वत्र अशान्ति ही अशान्ति व्याप्त हो गयी है।

।। इति षष्ठाध्यायान्तर्गतं प्रथमप्रकरणम् ।।

वर्तमान समाज में परिवर्तनों की तीव्रता

भूमण्डलीकरण और बाजारीकरण के कारण सम्पूर्ण पृथ्वी एक पार्थिव ग्राम (Global village) का रूप ले चुकी है। हम एक ऐसे युग में जी रहे हैं जहाँ हम कह सकते हैं कि हम पृथ्वी के नागरिक (Citizens of Earth) हैं। उपभोक्तावाद पूरे जोरों पर है जिसका एक ही ध्येयवाक्य है – उपभोक्ता की सुविधाओं में तथा अपने लाभ में वृद्धि। उपभोक्ता की सुविधाओं में वृद्धि करने वाला हर आविष्कार तत्काल बाजार को प्रभावित करता है और शीघ्र ही पृथ्वी के एक कोने से दूसरे कोने तक फैल जाता है। इससे सम्पूर्ण समाज तत्काल प्रभावित होता है और इन परिवर्तित परिस्थितियों में लोगों को अपना पुनर्समायोजन (readjustment) करना पड़ता है। मोबाइल फोन के बाजार में आते ही सम्पूर्ण पृथ्वी

---

269. अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते। धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।। मनु. 2–13

तत्काल प्रभावित हुई और आज समाज का एक बड़ा वर्ग मोबाइल फोन के बिना अपने अस्तित्व की कल्पना भी नहीं कर सकता। जीवन में व्याप्त प्रतिस्पर्धा में पिछड़ने से बचने के लिए उन्हें भी मोबाइल फोन लेना पड़ा जो मोबाइल फोन पर होने वाले व्यय से बचना चाहते हैं। ऐसे लोगों द्वारा मोबाइल फोन रखना पुनर्समायोजन का एक उदाहरण है। उपभोक्तावाद तथा बाजारवाद के कारण आविष्कारों पर आविष्कार हो रहे हैं जिससे जीवनशैली में निरन्तर परिवर्तन हो रहे हैं। इन परिवर्तनों की तीव्रता के कारण समाज एक सतत पुनर्समायोजन की प्रक्रिया (A process of continuous readjustment) से गुजर रहा है। जो भी व्यक्ति इस सतत पुनर्समायोजन को करने में असमर्थ होगा वह जीवन की मुख्य धारा से छिटक जायेगा। अतः यह पुनसर्मायोजन का अतिरिक्त दबाव व्यक्ति के दुर्बल मन को और भी अशान्त तथा बहिर्मुखी बना रहा है जिससे उसके व्यवहार में विषाद और विक्षिप्तता की वृद्धि हो रही है। वस्तुतः ऐसा समझना और भी भ्रामक होगा कि परिवर्तनों की तीव्रता विषाद और विक्षिप्तता का कारण है क्योंकि विषाद और विक्षिप्तता मनुष्य में पहले से ही विद्यमान है, परिवर्तनों की तीव्रता ने तो उसे केवल प्रकट कर दिया है। स्वयं में व्याप्त इस विषाद और विक्षिप्तता से भयभीत होकर व्यक्ति पलायन का उपाय (way of escape) खोजने लगता है। अर्थ व काम पर जोर देना इस पलायन के सरलतम उपाय हैं किन्तु धर्म व अध्यात्म को भी पलायन का उपाय बनाने का प्रयास किया जाता है। यद्यपि न तो धर्म और न ही अध्यात्म पलायन् का उपाय है किन्तु इनके नाम पर छद्म धर्म (Pseudo-duty) और छद्म अध्यात्म (Pseudo-spiritualism) उत्पन्न हो जाते हैं। छद्म धर्म का अर्थ है – किसी लोककल्याणकारी कर्म को करते हुए शाश्वत धर्म का उल्लंघन करना। यथा, कोई व्यक्ति वन्य क्षेत्रों में रहने वाली अशिक्षित जातियों के उत्थान हेतु अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दे किन्तु वह अपने माता–पिता का अपमान भी करता हो तो उसका वनवासी उत्थानरूपी कर्म छद्म धर्म ही होगा क्योंकि धर्म व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व से सम्बन्धित होता है। उक्त व्यक्ति लोककल्याणकारी कर्म कर रहा है किन्तु उसके व्यक्तित्व का एक अंश अविकसित ही नहीं अपितु धर्मविरोधी भी है। उस धर्मविरोधी अंश को ठीक किये बिना लोककल्याण का कार्य करना वस्तुतः पलायनमात्र ही है। इसी प्रकार कोई व्यक्ति अध्यात्म से जुड़े किन्तु शाश्वत धर्म का उल्लंघन करे अथवा साम्प्रदायिकता को ही अध्यात्म समझे तो ये दोनों ही दशाएं छद्म अध्यात्म ही हैं। छद्म धर्म व छद्म अध्यात्म अर्थ व काम से भी अधिक भयावह हैं क्योंकि ये धर्म व अध्यात्म का मुखौटा लगाकर आते हैं, अतः व्यक्ति सरलता से इनके जाल में फँस जाता है और स्वयं को सौभाग्यशाली भी मानता है। अस्तु, परिवर्तनों की तीव्रता की इन परिस्थितियों में विषाद और विक्षिप्तता की वृद्धि के अनुपात में अर्थ व काम तथा छद्म धर्म व छद्म अध्यात्म की भी वृद्धि हो रही है और ये पुनः विषाद और विक्षिप्तता को बढ़ा रहे

हैं। इस प्रकार वर्तमान मानव विषाद और विक्षिप्तता के इस दुश्चक्र में इतना फँस गया है जितना सम्भवतः पहले कभी नहीं फँसा था।

।। इति षष्ठाध्यायान्तर्गतं द्वितीयप्रकरणम्।।

विक्षिप्तता का मूल कारण – स्वभावबोध का अभाव

पूर्व प्रकरण में हम कह चुके हैं कि परिवर्तनों की तीव्रता मनुष्य में विषाद तथा विक्षिप्तता को बढ़ा रही है जिससे बचने हेतु वह अर्थ व काम अथवा छद्म धर्म व छद्म अध्यात्म का सहारा लेता है किन्तु ये उसके विषाद और विक्षिप्तता को समाप्त नहीं करते अपितु उनको आवृत कर देते हैं। इससे व्यक्ति अपने विषाद और विक्षिप्तता को देख तो नहीं पाता किन्तु आवरण के नीचे इनकी निरन्तर वृद्धि होती रहती है। यदि अकस्मात् यह आवरण हट जाय तो व्यक्ति अपने विषाद और विक्षिप्तता से भयभीत होकर आत्मघात भी कर सकता है। हम यह भी कह चुके हैं कि यह विषाद और विक्षिप्तता मनुष्य के भीतर ही निहित है, परिवर्तनों की तीव्रता तो इन्हें केवल प्रकट ही करती है। सभी मनोविज्ञानी एकमत से स्वीकार करते हैं कि स्वभावबोध का अभाव ही विषाद तथा विक्षिप्तता का मूल कारण है। मनुष्यों के स्वभावों में भेद है, अतः व्यक्ति की आत्मतुष्टि (Self-satisfaction) तभी हो सकती है जब उसका कर्म उसके स्वभाव के अनुकूल हो अर्थात् व्यक्ति की वृत्ति उसकी प्रवृत्ति के अनुकूल होने पर ही व्यक्ति आन्तरिक शान्ति को प्राप्त कर सकता है। किन्तु स्वभावानुकूल कर्म को करने के लिए स्वभावबोध होना भी तो आवश्यक है! वर्तमान समाज में विशेषतः भारतीय समाज में स्वभावभेद को पर्याप्त महत्त्व नहीं दिया जाता। सभी जातकों को दीर्घकाल तक प्रायः समान पाठ्यक्रम ही पढ़ना पड़ता है। अब, संयोगवश यह पाठ्यक्रम जिस जातक के स्वभाव के अनुकूल होता है उसे प्रतिभाशाली मान लिया जाता है तथा जिस जातक के स्वभाव के प्रतिकूल होता है उसे प्रतिभाहीन मान लिया जाता है। वस्तुतः प्रतिभाहीन माने जाने वाले जातकों में से अधिकांश प्रतिभाहीन नहीं होते किन्तु अनुचित पाठ्यक्रम के कारण वे शनैः शनैः प्रतिभाहीनता को प्राप्त हो जाते हैं। मनोविज्ञानियों का स्पष्ट कथन है कि प्रत्येक जातक में अपने स्वभाव को जानने की तथा अपने स्वभाव के अनुकूल कर्म करने की जन्मजात इच्छाएं होती हैं। इन जन्मजात इच्छाओं की तृप्ति न हो पाना ही विषाद, विक्षिप्तता और आत्महीनता का मूल कारण है। अपने स्वभाव को जान लेना आत्मानुभूति (Self-relization) तथा अपने स्वभाव के अनुकूल कर्म करना आत्माभिव्यक्ति (Self-expression) कहलाता है। आत्मानुभूति और आत्माभिव्यक्ति की जन्मजात इच्छाएं क्षुधा की भाँति हैं। जिस प्रकार क्षुधार्त व्यक्ति भोजन के अभाव में पीडित हो जाता है उसी प्रकार इन इच्छाओं की पूर्ति

न होने पर मनुष्य विषाद और विक्षिप्तता को प्राप्त हो जाता है। अतः व्यक्ति की आन्तरिक शान्ति आत्मानुभूति (स्वभावबोध) व आत्माभिव्यक्ति (स्वभावानुकूल कर्म) पर आधारित है।

।। इति षष्ठाध्यायान्तर्गतं तृतीयप्रकरणम् ।।

मनोविज्ञानियों द्वारा व्यक्तियों के मनस् की भिन्नता का कथन

हम अनेकत्र कह चुके हैं कि आधुनिक मनोविज्ञानी भी मनुष्यों के मनोशारीरिक भेद को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार मनुष्यों के प्रमुख भेद हैं – अन्तर्मुखी, बहिर्मुखी व उभयमुखी। आधुनिक मनोविज्ञानियों के अनुसार जो व्यक्ति स्वाभावतः संकोची, लज्जालु, भीरु, विश्रामप्रिय, विचारशील इत्यादि होता है, वह अन्तर्मुखी कहलाता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति स्वभावतः निःसंकोच, आत्मविश्वासी, साहसी, सक्रिय, महत्त्वाकांक्षी इत्यादि होता है, वह बहिर्मुखी कहलाता है। अन्तर्मुखी व्यक्ति की अभिरुचि प्रायः ज्ञान–विज्ञान, दर्शन, साहित्य, कला, संगीत आदि में होती है। इनके अभाव में अन्तर्मुखी व्यक्ति आहार, निद्रा, मैथुन आदि में ही लिप्त रहता है। बहिर्मुखी व्यक्ति की अभिरुचि प्रायः राजनीति, युद्धकला, सेना, पुलिस, व्यापार, सामाजिक कार्यों आदि में होती है। इन क्षेत्रों में कार्य का अवसर न मिलने पर वे अराजक गतिविधियों में भी फँस सकते हैं। अन्तर्मुखी होने तथा बहिर्मुखी होने में से कौन सी स्थिति अधिक लाभप्रद है, यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि दोनों ही स्थितियों में कुछ लाभ भी हैं और कुछ हानियाँ भी हैं। बहिर्मुखी व्यक्ति बाह्य जीवन में प्रायः सफल होते हैं जबकि अन्तर्मुखी व्यक्ति बाह्य जीवन में उतने सफल नहीं होते और उन्हें विकास हेतु विशेष वातावरण की आवश्यकता होती है किन्तु संसार में ज्ञान–विज्ञान की उन्नति का समस्त श्रेय अन्तर्मुखी व्यक्तियों को ही जाता है। कोई भी व्यक्ति पूर्णतया अन्तर्मुखी अथवा बहिर्मुखी नहीं होता। एक ही व्यक्ति में अन्तर्मुखता तथा बहिर्मुखता दोनों ही होती है, केवल किसी एक पक्ष का प्राबल्य होता है। अतः अन्तर्मुखता अथवा बहिर्मुखता के प्राबल्य के आधार पर ही व्यक्ति अन्तर्मुखी अथवा बहिर्मुखी कहलाता है। अन्तर्मुखता अथवा बहिर्मुखता जन्मजात गुण है, अतः शिक्षा के द्वारा एक सीमा तक ही इसे नियन्त्रित किया जा सकता है। इस गुण को पूर्णतया परिवर्तित कर पाना असम्भव है। अतः इस दृष्टि से वे व्यक्ति अधिक सौभाग्यशाली कहे जा सकते हैं जिनमें अन्तर्मुखता तथा बहिर्मुखता दोनों ही प्रायः समानरूपेण प्रबल हो, ऐसे व्यक्ति उभयमुखी कहलाते हैं। उभयमुखी व्यक्ति अन्तर्मुखता तथा बहिर्मुखता दोनों के लाभ तो प्राप्त करता है किन्तु दोनों की ही हानियों से बच जाता है। वस्तुतः उभयमुखी व्यक्तियों की संख्या सर्वाधिक होती है।

मनोविज्ञानियों के अनुसार जातकों को उनकी अन्तर्मुखता अथवा बहिर्मुखता के अनुरूप ही

शिक्षित किया जाना चाहिए और इसके अनुरूप ही उन्हें अपने कार्यक्षेत्र का चयन करना चाहिए ताकि उनके स्वभाव, शिक्षा तथा कार्यक्षेत्र में कोई विरोधाभास न हो जो उनकी आन्तरिक सुसंगति के लिए आवश्यक है।

।। इति षष्ठाध्यायान्तर्गतं चतुर्थप्रकरणम्।।

आधुनिक मनोविज्ञान के मनस्–भेद की वर्णों से तुलना

हम कह चुके हैं कि आधुनिक मनोविज्ञानी मनुष्यों के मौलिक प्रकारों के रहस्य के अतिनिकट पहुँचकर भी भटक गये क्योंकि अन्तर्मुखता अथवा बहिर्मुखता मनुष्यों के मौलिक प्रकारों के भेद का कारण (cause) नहीं अपितु कार्य (effect) है। मनुष्यों के मौलिक प्रकारों का भेद उनकी ''गहनतम कामना'' (deepest desire) में निहित है। यह गहनतम कामना ही अन्तर्मुखता अथवा बहिर्मुखता को उत्पन्न करती है। ज्ञान व उदरपूर्ति की कामनाएं अन्तर्मुखता को तथा बल व ऐहिक सम्पत्ति की कामनाएं बहिर्मुखता को उत्पन्न करती हैं किन्तु इससे ज्ञान व उदरपूर्ति की कामनाएं परस्पर समतुल्य नहीं हो जातीं और न ही बल व ऐहिक सम्पत्ति की कामनाएं ही परस्पर समतुल्य हो जाती हैं। इसी कारण प्रशिक्षण व संकल्प (traing and will) के द्वारा अपनी अन्तर्मुखता अथवा बहिर्मुखता को एक बड़ी सीमा तक नियन्त्रित भी किया जा सकता है। जबकि गहनतम कामना इतनी सरलता से परिवर्तित नहीं हो सकती। अतः अन्तर्मुखता के आधार पर ब्राह्मण व शूद्र को तथा बहिर्मुखता के आधार पर क्षत्रिय व वैश्य को परस्पर समतुल्य नहीं कहा जा सकता। इसी कारण शैशवावस्था में समान प्रतीत होने वाले जातकों में भी जब गहनतम कामना सशक्त होने लगती है तो उनकी अन्तर्मुखता अथवा बहिर्मुखता में भी वृद्धि होने लगती है और गहनतम कामना की वृद्धि के साथ–साथ जातकों के मध्य भेद भी बढ़ता जाता है। इस प्रकार जातकों में भेद की वृद्धि वस्तुतः उनके विकास की परिचायक है।

।। इति षष्ठाध्यायान्तर्गतं पंचमप्रकरणम्।।

मनोविज्ञानियों के सुझाव

मनोविज्ञानियों ने अपने अन्वेषण के दौरान पाया कि अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी व्यक्तियों के स्वभाव परस्पर विपरीत होने के कारण वे प्रायः एक–दूसरे को समझ नहीं पाते और इस नासमझी में सर्वाधिक हानि अन्तर्मुखी व्यक्तियों को होती है क्योंकि अपने निःसंकोच व अतिसक्रिय स्वभाव के कारण बहिर्मुखी व्यक्ति अनजाने में ही प्रायः अन्तर्मुखी व्यक्तियों के व्यक्तित्व पर आघात कर देते हैं। इतना ही नहीं, दो

अन्तर्मुखी व्यक्तियों में भी अपेक्षाकृत न्यून अन्तर्मुखी व्यक्ति अधिक अन्तर्मुखी व्यक्ति के व्यक्तित्व पर आघात कर देता है। अन्तर्मुखता कोई दुर्बलता (weakness) नहीं है अपितु संवेदनशीलता (sensitivity) का ही एक रूप है किन्तु बहिर्मुखी अथवा अपेक्षाकृत बहिर्मुखी व्यक्ति को यह दुर्बलता ही प्रतीत होती है और इस कारण वह अन्तर्मुखी अथवा अपेक्षाकृत अन्तर्मुखी व्यक्ति के व्यक्तित्व पर आघात कर बैठता है। इन आघातों से अपनी रक्षा हेतु कुछ अन्तर्मुखी व्यक्ति बहिर्मुखी की भाँति व्यवहार करने लगते हैं किन्तु इससे वे बहिर्मुखी तो नहीं हो पाते किन्तु प्रतिक्रियावादी अन्तर्मुखी (reactionary introvert) बन जाते हैं। ये प्रतिक्रियावादी अन्तर्मुखी हिंसक एवं अराजक मार्गों पर भी जा सकते हैं और तब वे बहिर्मुखी व्यक्तियों पर अनावश्यरूपेण आघात करने लगते हैं। प्रत्युत्तरस्वरूप बहिर्मुखी भी प्रतिकार करते हैं और इस प्रकार सामाजिक संघर्ष बढ़ता जाता है। मनोविज्ञानियों ने अन्तर्मुखी व बहिर्मुखी व्यक्तियों के मध्य पारस्परिक बोधाभाव (lack of mutual understanding) की सम्भावनाओं को दूर करने हेतु कुछ सुझाव दिये हैं, जो इस प्रकार हैं –

1. विशेष प्रतिभाशाली जातकों को चुनकर उनकी शिक्षा व पालन–पोषण की अतिउत्कृष्ट व्यवस्था की जाय और उन्हें प्रतिभाहीन जातकों से पृथक् रखा जाय ताकि उनके दुर्गुणों, प्रतिभाहीनता आदि का प्रभाव विशेष प्रतिभाशाली जातकों पर न पड़ सके।

2. इन पृथक् रखे गये जातकों को उनके इच्छित विषय व क्षेत्र में अध्ययन व कार्य करने हेतु अपेक्षित धन एवं साधन उपलब्ध कराये जायें।

3. इन पृथक् रखे गये विद्यार्थियों में राष्ट्र एवं मानवता के हितार्थ कार्य करने की प्रेरणा भरी जाय।

4. विद्यार्थियों में समादर की भावना का विकास किया जाय।

5. उच्च शिक्षा में छात्रों को उनकी रुचि के अनुसार विषयों के अध्ययन का अवसर प्राप्त हो।

6. एक शिक्षक एक साथ 20 से अधिक विद्यार्थियों को न पढ़ाये।

7. विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास की चिन्ता की जाय, केवल पुस्तकीय ज्ञान की ही नहीं।

8. विद्यार्थी के लिए किसी न किसी कला तथा किसी न किसी शिल्प का अध्ययन अनिवार्य हो ताकि उनमें सृजनशीलता तथा आत्मनिर्भरता का विकास हो सके।

अस्तु, मनोविज्ञानियों ने उपुर्यक्त सुझावों की ही भाँति कई अन्य सुझाव भी दिये हैं किन्तु ये समस्त सुझाव सैद्धान्तिक (theoretical) ही प्रतीत होते हैं क्योंकि उन्हें व्यावहारिक (practical) रूप प्रदान करने में अभी तक सफलता प्राप्त नहीं की जा सकी है। सरकार द्वारा प्रतिभाशाली विद्यार्थियों के लिए कुछ विशेष विद्यालय खोलकर ही सन्तुष्टि कर ली जाती है जबकि अनेकों प्रतिभाशाली विद्यार्थियों

का पता ही नहीं चल पाता। फलतः राष्ट्र एवं मानवता का अपेक्षित लाभ नहीं हो पाता।

।। इति षष्ठाध्यायान्तर्गतं षष्ठप्रकरणम्।।

एक अभिनव शिक्षा–प्रणाली एवं सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता

सामान्यतः तीन प्रकार की शिक्षा–व्यवस्थाएं मानी जाती हैं –

अध्यापककेन्द्रित शिक्षा, पाठ्यक्रमकेन्द्रित शिक्षा व विद्यार्थीकेन्द्रित शिक्षा।

तीनों शिक्षा–व्यवस्थाओं में अध्यापक, पाठ्यक्रम तथा विद्यार्थी तीनों ही सम्मिलित होते हैं किन्तु केन्द्रीय भूमिका किसी एक की होती है। अध्यापककेन्द्रित शिक्षा में अध्यापक स्वतन्त्ररूपेण अध्यापन करता है, वही पाठ्यक्रम भी निश्चित करता है। विद्यार्थी को अध्यापक द्वारा निश्चित किये गये पाठ्यक्रम तथा अनुशासन के अनुसार अध्ययन करना पड़ता है। प्राचीनकाल में प्रायः यही शिक्षा–व्यवस्था अधिक प्रचलित थी। पाठ्यक्रमकेन्द्रित शिक्षा में शिक्षाशास्त्री तथा मनोविज्ञानी मिलकर एक पाठ्यक्रम निश्चित करते हैं और विद्यार्थियों को इसी पाठ्यक्रम को पढ़ना पड़ता है। इस शिक्षा–व्यवस्था में अध्यापक का स्थान पाठ्यक्रम से निम्न होता है। उसे केवल पाठ्यक्रम पूरा कराने हेतु ही नियुक्त किया जाता है। पाठ्यक्रम से बद्ध होने के कारण उसके पास कुछ भी अतिरिक्त पढ़ाने–लिखाने का प्रायः कोई अवसर नहीं होता। विद्यार्थीकेन्द्रित शिक्षा शिक्षाशास्त्रयों और मनोविज्ञानियों का वह स्वप्न है जो अभी तक यथार्थ रूप नहीं ले सका है। इसमें विद्यार्थी की अन्तर्निहित प्रतिभा और शक्तियों के अनुसार उसका अध्यापन करने का प्रयास किया जाता है। वही पाठ्यक्रम रखने का प्रयास किया जाता है जो विद्यार्थी की अन्तर्निहित शक्तियों के जागरण, प्रकटन व विकास में सहयोगी हो तथा ऐसे ही अध्यापकों को नियुक्त करने का प्रयास किया जाता है जो विद्यार्थी के स्वभाव तथा उसके अनुकूल पाठ्यक्रम के अनुसार अध्यापन करने में समर्थ हो। इस शिक्षा–व्यवस्था के केन्द्र में विद्यार्थी होता है और प्रत्येक विद्यार्थी को अद्वितीय माना जाता है। इस कारण प्रत्येक विद्यार्थी के लिए एक पृथक् पाठ्यक्रम अपेक्षित है जिसे निश्चित कर पाना व्यावहारिकरूपेण असम्भव ही है। अतः शिक्षाशास्त्रियों एवं मनोविज्ञानियों ने पाठ्यक्रमकेन्द्रित शिक्षा–व्यवस्था को ही ऐसा रूप प्रदान करने का प्रयास किया है ताकि वह विद्यार्थियों के लिए अनुकूल हो। किन्तु ध्यानपूर्वक देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रयास सर्वथा असफल ही रहा क्योंकि पाठ्यक्रमकेन्द्रित शिक्षा की परिधि में होने के कारण यह शिक्षा सभी विद्यार्थियों के अनुकूल होने के स्थान पर सभी विद्यार्थियों के प्रतिकूल एक खिचड़ी शिक्षा–व्यवस्था बन गयी जो केवल द्वितीयस्तरीय (mediocre) विद्यार्थियों का ही उत्पादन करती है।

वस्तुतः शिक्षाशास्त्रियों तथा मनोविज्ञानियों की आधारभूत त्रुटि यह है कि वे तीनों शिक्षा–व्यवस्थाओं की तुलना करते हैं। वस्तुतः तीनों शिक्षा–व्यवस्थाएं अतुल्य हैं तथा प्रसंगतः पृथक्–पृथक् महत्त्व रखती हैं। यथा, सेना में भर्ती होने वाले नवयुवकों को अध्यापककेन्द्रित अथवा विद्यार्थीकेन्द्रित शिक्षा नहीं दी जा सकती। उन्हें तो पाठ्यक्रमकेन्द्रित शिक्षा देना ही समीचीन होगा अन्यथा ये नवयुवक राष्ट्ररक्षा में पूर्णतया समर्थ न हो सकेंगे। इसी प्रकार अभियान्त्रिकी, चिकित्सा आदि में भी पाठ्यक्रमकेन्द्रित शिक्षा देना ही उपयुक्त होगा। गायन, वादन, नृत्य, कला, अध्यात्म आदि की शिक्षा कदापि पाठ्यक्रमकेन्द्रित अथवा विद्यार्थीकेन्द्रित नहीं होनी चाहिए क्योंकि ऐसा होने पर प्रथम दशा में द्वितीयस्तरीय विद्यार्थी तैयार होते हैं, न कि विशेषज्ञ तथा द्वितीय दशा में इन कलाओं का आदर्श रूप ही नष्ट हो जाता है और वे उन उद्देश्यों की पूर्ति में असमर्थ हो जाती हैं जिनके लिए उनका निर्माण हुआ है अर्थात् वे अपनी सार्थकता खो देती हैं। इनकी शिक्षा अध्यापककेन्द्रित होने पर ही विशेषज्ञों का निर्माण होता है तथा तभी इनका विकास भी होता है। तो फिर विद्यार्थीकेन्द्रित शिक्षा की उपयोगिता किन विषयों अथवा क्षेत्रों में है ? वस्तुतः यह एक भ्रामक प्रश्न है क्योंकि विद्यार्थीकेन्द्रित शिक्षा का सम्बन्ध केवल विषयों अथवा क्षेत्रों से ही नहीं अपितु यह एक विशेष शिक्षणपद्धति है। जिसमें उन समस्त विषयों व क्षेत्रों को, जो पाठ्यक्रमकेन्द्रित अथवा अध्यापककेन्द्रित नहीं हैं, एक विशेष रीति से पढ़ाया जाता है तथा यह शिक्षाव्यवस्था विद्यार्थी को यह बोध कराने का प्रयास भी करती है कि उसे कौन–कौन से पाठ्यक्रमकेन्द्रित व अध्यापककेन्द्रित विषयों व क्षेत्रों का चयन करना चाहिए।

भारत की वर्तमान उच्च शिक्षा न केवल पाठ्यक्रमकेन्द्रित है अपितु सत्रीय (sessional) भी है, अतः विद्यार्थियों को एक निश्चित अवधि में एक निश्चित पाठ्यक्रम पूरा कर उसकी सामूहिक परीक्षा में सम्मिलित होना पड़ता है। सभी विद्यार्थियों की अभिरुचि, क्षमता व वेग सभी विषय में समान नहीं होता, अतः सभी विद्यार्थी निश्चित अवधि में अपने समस्त विषयों का पाठ्यक्रम पूरा नहीं कर पाते। फलतः उनमें से कुछ विद्यार्थी परीक्षा में किसी विशेष विषय में अनुत्तीर्ण हो जाते हैं और उन्हें वर्ष भर पुनः अपनी ही कक्षा में अध्ययन करना पड़ता है। इन अनुत्तीर्ण विद्यार्थियों में से कुछ ऐसे भी होते हैं जो अनुत्तीर्ण विषयों से अन्य विषयों में विशेष योग्यता वाले भी हो सकते हैं। किन्तु सत्रीय शिक्षणपद्धति के कारण उन्हें अनुत्तीर्णता का दुःख भोगना पड़ता है। यह पद्धति मनोवैज्ञानिकदृष्ट्या कथंचिदपि समीचीन नहीं कही जा सकती क्योंकि इसमें स्वभावभेद तथा व्यक्तिभेद को विचारगत (consider) नहीं किया गया है। इस विषय में प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण ही मनोवैज्ञानिकदृष्ट्या अधिक समीचीन प्रतीत होता है। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार अध्ययन की समस्त धाराएं न तो समानान्तर हो सकती हैं और न ही समवेग अर्थात् कुछ

धाराओं में पौर्वापर्य (एक निश्चित क्रम) होगा तथा कुछ में असमवेगता भी होगी। वेदांग छः होते हैं और उनमें पौर्वापर्य भी होता है, जो इस प्रकार है – शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष तथा कल्प। छहों वेदांगों में से प्रथम चार तो भाषासम्बन्धी हैं तथा अन्तिम दोनों देशकाल व कार्याकार्य का ज्ञान कराते हैं। पूर्ववर्ती चारों वेदांगों की सार्थकता अन्तिम दोनों वेदांगों में ही होती है।

अध्ययन करते हुए दो विद्यार्थियों का वेग समान नहीं हो सकता क्योंकि उनकी अभिरुचि तथा क्षमता में भेद होता है। अतः इस असमवेगता के कारण एक विद्यार्थी जिस विषय की समाप्ति में न्यून समय लेता है, उसी विषय की समाप्ति में अन्य विद्यार्थी अधिक समय भी ले सकता है और विषय की समाप्ति पर आचार्य दोनों की पृथक्–पृथक् परीक्षा ले लेता है। इस प्रकार प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार विषयविशेष में अध्ययन के अनुसार विद्यार्थी तीव्र व मन्द होते हैं, न कि निश्चित अवधि में ली गयी परीक्षा के आधार पर उत्तीर्ण अथवा अनुत्तीर्ण। नचिकेता ने भी कठोपनिषद् में स्वयं के विषय में कहा है कि "मैं बहुतों में प्रथमस्थानीय (तीव्रतम) हूँ तथा बहुतों में मध्यमस्थानीय (साधारण) हूँ किन्तु जघन्य (मन्द) कहीं भी नहीं हूँ।"[270] नचिकेता ने यह बात पृथक्–पृथक् विषयों में अपने अध्ययनवेग व बोध के आधार पर ही कही है, न कि समान अध्ययनावधि की समाप्ति पर ली गयी परीक्षा के प्राप्तांकों के आधार पर। अब, समस्या यह है कि यह शिक्षणप्रक्रिया आधुनिक कक्षापद्धति में होनी सम्भव नहीं हैं क्योंकि उसमें तीव्रवेग और मन्दवेग विद्यार्थियों को विचारगत न करते हुए केवल मध्यमवेग विद्यार्थियों के अनुसार ही अध्यापन किया जाता है जिससे तीव्रवेग विद्यार्थी बोर होते हैं तथा मन्दवेग घिसटते चले जाते हैं किन्तु विद्यार्थी किसी पद्धतिविशेष पर बलिदान होने के लिए नहीं हैं अपितु उसके लिए ही समस्त पद्धतियों का आयोजन किया गया है, अतः जो पद्धति उसके विकास में बाधक है, वह निश्चितरूपेण त्याज्य ही है। अतः हमें एक नवीन शिक्षणपद्धति का उपयोग करना होगा जिसमें विद्यार्थीकेन्द्रित शिक्षा की बातें ही नहीं होंगी अपितु उसकी व्यवस्था भी होगी। आधुनिक शिक्षा राज्य द्वारा संचालित होती है और राज्य की यह विशेषता है कि वह पाठ्यक्रमकेन्द्रित शिक्षा में ही सफल हो पाता है, अन्यों में नहीं। अतः विद्यार्थीकेन्द्रित शिक्षा की व्यवस्था हेतु हमें समाज की ओर ही देखना होगा। जातकों का अध्ययन–अध्यापन समाज के लिए कोई औपचारिकता मात्र न होकर अतिगम्भीर विषय है जिसके लिए समाज निश्चितरूपेण ही सहयोग प्रदान करेगा यदि उसे किसी नवीन शिक्षणपद्धति की व्यावहारिकता तथा सफलता की सम्भावनाओं का विश्वास दिलाया जा सके। इतना तो निश्चितरूपेण ही कहा जा सकता है कि वह शिक्षणपद्धति कथंचिदपि व्यापारिक नहीं होनी चाहिए। तब, इस शिक्षणपद्धति के शिक्षणकेन्द्रों अथवा

270. बहुनामेमि प्रथमो बहुनामेमि मध्यमः।

विद्यालयों में कौन पढ़ायेगा तथा किस आधार पर विद्यार्थियों को प्रवेश मिलेगा ? व्यापारिक शिक्षण संस्थाओं के समस्त अध्यापक वेतन हेतु ही नियुक्त होते हैं, अतः अधिक वेतन मिलने पर वे अन्य शिक्षण संस्थाओं में जा सकते हैं तथा वे विद्यार्थी ही इनमें प्रवेश पा सकते हैं जिनके अभिभावक संस्था द्वारा निर्धारित शुल्कादि देने में समर्थ हों। किन्तु जो शिक्षण संस्थाएं शुल्क के लिए नहीं चलेंगी उनमें पढ़ाने वाले अध्यापकों की दृष्टि वेतन पर ही केन्द्रित नहीं होनी चाहिए और न ही उन शिक्षण संस्थाओं के विद्यार्थियों को उनके अभिभावकों के धन के आधार पर इनमें प्रवेश मिलना चाहिए। अतः उन शिक्षण संस्थाओं के अध्यापकों और विद्यार्थियों के मध्य कोई ऐसा आत्मीय सम्बन्ध होना चाहिए जो धनलोलुपता को न्यून करता हो। निश्चितरूपेण गणगोत्र ही वह आत्मीय सम्बन्ध हो सकता है। एक लोभी व्यक्ति भी अपनी सन्तति पर धन व्यय करता है क्योंकि वह अपने तथा अपनी सन्तति के मध्य रक्तसम्बन्ध को देखता है। गणगोत्र भी वस्तुतः रक्तपरम्पराओं का संघ ही होता है, अतः व्यक्ति उसमें भी आत्मीयता का ही अनुभव करता है। आज भी एक सामान्य हिन्दू अपने पक्षगोत्र की कन्या से विवाह की बात सोचना भी पाप मानता है क्योंकि पक्षगोत्र उसकी रक्तपरम्परा का द्योतक होता है। अतः यदि प्रत्येक नगर में प्रत्येक गणगोत्र का एक शिक्षणकेन्द्र खोला जा सके तो निश्चितरूपेण ही इन शिक्षणकेन्द्रों में धन एक समस्या का रूप नहीं ले सकेगा क्योंकि अपने गणगोत्र के शिक्षणकेन्द्र के लिए सभी व्यक्ति पर्याप्त धन देना चाहेंगे तथा अध्यापक भी अपने गणगोत्र के विद्यार्थियों को अपनी सन्तान की भाँति ही शिक्षित करना चाहेंगे। क्षत्रिय वंश तथा वैश्य व शूद्र जातियाँ भी गणगोत्रों में परिणत हो जायें तथा प्रत्येक गणगोत्र के विचारशील जन अपने–अपने गणगोत्र के लिए शिक्षणकेन्द्र खोलने का प्रयास करें। इन सहानुभूतिपूर्ण शिक्षणकेन्द्रों में हम निरन्तर जातकों के स्वभाव का निरीक्षण–परीक्षण कर उनके निजवर्ण का पता लगा सकते हैं तथा वर्णबोध हेतु उनकी सहायता भी कर सकते हैं। राजकीय सेवा की आशा रखने वाले समस्त सुशिक्षित तथा बेरोजगार युवक भी अभीष्ट व्यवसाय की प्राप्ति होने से पूर्व स्वगोत्र के शिक्षणकेन्द्र में अध्यापन कर अपने अधीत ज्ञान की रक्षा व वृद्धि कर सकते हैं तथा निर्धन अभिभावकों की सन्तानें भी इन शिक्षणकेन्द्रों में सरलतया अध्ययन कर सकती हैं क्योंकि उनमें प्रवेश का आधार धन नहीं अपितु सगोत्रता है। प्रत्येक जनपद मुख्यालय में दो सर्वगोत्रीय शिक्षणकेन्द्र होने चाहिए – एक शूद्रों के लिए तथा दूसरा अतिशूद्रों के लिए। शूद्र का अर्थ है – विकलांग (Physically handicaped)। अतिशूद्र का अर्थ है – मानसिकरूपेण विकलांग(Mentally handicaped)। शूद्रकुल तथा अतिशूद्रकुल दोनों में आहार, वस्त्र, आवास, चिकित्सा तथा शिक्षा की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए।

उपर्युक्त शिक्षाप्रणाली को तभी बल मिल सकता है जब समाज में गोत्रवाद अतिप्रबल रूप धारण

कर ले। गोत्रवाद की प्रबलता हेतु तीन प्रतिबन्ध हैं –

1. सगोत्र कन्या से विवाह न करना।
2. प्रत्येक गोत्र में चारों वर्णों का होना।
3. गोत्रों के मध्य प्रतिस्पर्धा की भावना होना।

आधुनिक हिन्दू समाज में गोत्रवाद के प्रथम प्रतिबन्ध का पालन तो हो रहा है किन्तु द्वितीय प्रतिबन्ध तो लुप्त ही हो चुका है और तृतीय प्रतिबन्ध अतिक्षीण है। वस्तुतः प्रत्येक गोत्र एक शरीर के समान है तथा पुरोहित वर्ण इस शरीर का शिरोभाग, क्षत्रिय वर्ण इस शरीर का भुजाओं, स्कन्धों व वक्ष वाला भाग, वैश्य वर्ण इस शरीर का उदर, जननांग व जंघाओं वाला भाग तथा शूद्र वर्ण इस शरीर में घुटनों से अधोवर्ती भाग है।

द्वितीय प्रतिबन्ध पूर्ण हो जाने पर गोत्रों के मध्य प्रतिस्पर्धा की भावना को भी उत्पन्न किया जा सकता है। उस प्रतिस्पर्धा की भावना का स्पष्ट दर्शन दानशीलता में होगा अर्थात् समस्त गोत्रों के लोग स्वगोत्र के शिक्षणकेन्द्रों के लिए अधिकाधिक दान देने का प्रयास करेंगे। ये शिक्षणकेन्द्र भी प्रादेशिक व राष्ट्रीय स्तर पर स्वगोत्र के श्रेष्ठ पुरोहितो, श्रेष्ठ क्षत्रियों तथा श्रेष्ठ वैश्यों का चयन कर अन्य गोत्रों के श्रेष्ठ पुरोहितों, श्रेष्ठ क्षत्रियों व श्रेष्ठ वैश्यों से उनकी प्रतिस्पर्धा कराएं। इस प्रकार गोत्रवाद के कारण शिक्षा की उन्नति तो होगी ही साथ ही साथ राष्ट्र की बौद्धिक शक्ति, सामरिक शक्ति तथा आर्थिक शक्ति भी बढ़ती चली जायेगी।

।। इति षष्ठाध्यायान्तर्गतं सप्तमप्रकरणम् ।।

रसिया व इजराइल के मनस्–भेद के प्रयोग एवं उनकी सफलता

सम्पूर्ण 19वीं शताब्दी तथा 20वीं शताब्दी का मार्च 1917 तक का काल रसिया देश का वह स्वर्णिम अतीत है जिसमें उसने ज्ञान–विज्ञान के विभिन्न क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति की। मार्च 1917 में रसिया पर बोल्शेविक दल का अधिकार हो गया और इसके साथ ही वह स्वर्णिम काल समाप्त हो गया।

19वीं शताब्दी में 1861 के पूर्व रसिया में सामन्तवादी विचारधारा थी। उस समय रसियन समाज में तीन वर्ग थे – सामन्ती वर्ग, मध्यम वर्ग व दरिद्र वर्ग। सामन्ती वर्ग अतिधनाढ्य, विलासी और प्रजाशोषक था। इस वर्ग में केन्द्रीय स्थान रसिया के शासक का था जो **जार** (Czar) कहलाता था। मध्यम वर्ग में लेखक, विचारक, दार्शनिक, शिक्षक, छोटे व्यापारी व छोटे सामन्त सम्मिलित थे। दरिद्र वर्ग में कृषिदास (Serf), कारीगर, मजदूर, आदि सम्मिलित थे। इस वर्ग की दशा अतिशोचनीय थी। इन्हें

कठोर परिश्रम के बाद भी भरपेट भोजन नहीं मिल पाता था। सामन्ती वर्ग यथासम्भव दरिद्र वर्ग का उत्पीडन भी कर रहा था। रसिया का तत्कालीन बुद्धिजीवी वर्ग (Intelligentsia) मध्यम वर्ग का ही एक अंश था। बुद्धिजीवी वर्ग ने ही उस समय ज्ञान–विज्ञान में रसिया को अग्रणी बना दिया था। रसिया का बुद्धिजीवी वर्ग सामन्ती वर्ग की विलासिता, निरंकुशता तथा दरिद्र वर्ग पर उसके अत्याचार के कारण अतिदु:खी था। अतः कार्ल मार्क्स, टॉलस्टॉय आदि ने इस अत्याचार के विरुद्ध समाजवादी विचारों को प्रकट किया। उनके विचारों से प्रभावित होकर कुछ नेता रसिया में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के प्रयास में जुट गये। रसिया के इन नेताओं के नेतृत्व में बहुत से श्रमिक संगठनों की स्थापना हुई। सर्वप्रथम 1898 ई. में **रसियन समाजवादी प्रजातान्त्रिक दल** (Russian Socialist Democratic Party) की स्थापना हुई। वैचारिक मतभेद के कारण 1980 ई. में यह दल दो गुटों में विभाजित हो गया – मेन्शेविक तथा बोल्शेविक। मेन्शेविक दल का प्रमुख नेता **करेन्स्की** था। मेन्शेविक शान्ति एवं अहिंसा के पोषक थे और वैधानिकरूपेण शासन में परिवर्तन करना चाहते थे। बोल्शेविक दल रसिया का शक्तिशाली राजनैतिक दल था और रसिया के अधिकांश श्रमिक इस दल के समर्थक थे। बोल्शेविक क्रान्तिकारी व हिंसक विचारधारा के पोषक थे और बलपूर्वक शासन–सत्ता पर प्रभुत्व स्थापित करना चाहते थे। **लेनिन** इस दल का प्रमुख नेता था।

बुद्धिजीवी वर्ग के विचारों तथा मेन्शेविक व बोल्शेविक दलों के प्रभाव के कारण जनता अपने अधिकारों की माँग करने लगी। स्थान–स्थान पर हड़ताल, धरने व प्रदर्शन होने लगे। बोल्शेविकों के भ्रान्त मार्गदर्शन के कारण जनता हिंसा पर उतारू हो गयी थी। इसी बीच 1904 ई. में रसिया–जापान युद्ध में रसियन सेना को पराजित होना पड़ा। बोल्शेविकों ने इसे क्रान्ति का उचित समय बताया। जनता भी खुलेआम "जारशाही का नाश हो, युद्ध का अन्त हो, क्रान्ति की जय हो, जनता की जय हो, दरिद्र वर्ग जिन्दाबाद" आदि नारे लगाने लगी। इसी बीच 22 जनवरी, 1905 को जब मजदूरों के एक संगठन ने पादरी गोपन के प्रतिनिधित्व में अपने स्त्री–बच्चों सहित एक शांतिपूर्ण जुजूस निकाला। वे जार को प्रार्थनापत्र देने सेण्ट पीटर्सबर्ग स्थित उसके राजमहल जा रहे थे, तभी सैनिक अधिकारियों ने उन नि:शस्त्र मजदूरों पर निर्ममतापूर्वक गोलियाँ बरसायीं। एक हजार से भी अधिक मजदूर मारे गये तथा हजारों घायल हुए। यह ह्रदयविदारक घटना रसियन इतिहास में **खूनी रविवार** के नाम से प्रसिद्ध है। इस भीषण नरसंहार की खबर सुनते ही रसियन जनता हिंसक हो गयी। स्थान–स्थान पर जनता ने विद्रोह कर दिया।

अक्टूबर 1905 में रसियन जनता की हिंसक भीड़ के सामने तत्कालीन जार **निकोलस द्वितीय**

को झुकना पड़ा। उसने रसियन जनता के समक्ष घोषणा की –

रसिया के सभी नागरिकों को आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने इच्छित सम्प्रदाय के पालन हेतु स्वतन्त्र होगा। साम्प्रदायिक आधार पर राज्य की ओर से कोई भेदभाव नहीं किया जायेगा। रसियन जनता को भाषागत स्वतन्त्रता होगी तथा किसी भी व्यक्ति को कानून के आधार पर ही दण्डित किया जायेगा अथवा जेल भेजा जायेगा। यथाशीघ्र जापान से सन्धि कर युद्ध रोक दिया जायेगा। जनता को अभिव्यक्ति, प्रेस (प्रकाशन) तथा संगठननिर्माण का अधिकार होगा तथा **ड्यूमा** नामक निर्वाचित संस्था (संसद) को कानून बनाने का अधिकार प्रदान किया जायेगा।

अपने स्वार्थान्ध परामर्शदाताओं के कारण जार निकोलस द्वितीय ने अपने वचन का पालन नहीं किया। रसिया की सेना एवं सरकारी कर्मचारियों के सहयोग से पुनः निरंकुश जारशाही चलने लगी। इस प्रकार 1905 की रसियन क्रान्ति असफल हो गयी। किन्तु जनता अपनी शक्ति को अनुभव कर चुकी थी, अतः वह अगली क्रान्ति के लिए तैयार हो रही थी। बोल्शेविकों ने इस अवसर को भाँप लिया और जनता की शक्ति का उपयोग जनता के हितों की पूर्ति के स्थान पर अपने घृणित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए करने का प्रयास किया।

बोल्शेविकों ने समाजवाद की ऐसी नवीन परिभाषा दी जिसकी कार्ल मार्क्स ने कल्पना भी नहीं की होगी। उन्होंने कहा कि समाजवाद जनता का शासन चाहता है जिसमें जनता के लिए भोजन, वस्त्र, आवास, चिकित्सा तथा शिक्षा की उचित व्यवस्था हो किन्तु जनता की प्रतिनिधि संस्था ड्यूमा के पास सैनिक शक्ति न होने के कारण वह जनता का शासन चला नहीं सकेगी। अतः समाजवाद को व्यावहारिक रूप तभी प्रदान किया जा सकता है जब **बोल्शेविक दल की तानाशाही** (Dictatorship of Bolshevic Party) आ जाय। जनता तो यथाकथंचिदपि जारशाही से मुक्त होना चाहती थी। अतः वह इस भुलावे में आ गयी और यह न समझ सकी कि बोल्शेविक दल की तानाशाही भी तो जनता के हितों के विरुद्ध होगी। वस्तुतः तानाशाही की बात ही चाल से भरी हुई थी। बोल्शेविकों की इस चाल से जनता को बचाने का उत्तरदायित्व बुद्धिजीवी वर्ग का था किन्तु उसने अपनी उचित भूमिका नहीं निभायी। इतना ही नहीं, उसने बोल्शेविकों का समर्थन भी किया।

प्रथम विश्वयुद्ध में भाग लेने के कारण रसिया के अन्न व धन–जन की अपार हानि हो रही थी सैनिकों को आवश्यक युद्धसामग्री, भोजन, वस्त्रादि के बिना ही युद्ध में झोंक दिया गया था जो उनकी पराजय का कारण बना। इस युद्ध में 6 लाख रसियन सैनिक मारे गये तथा 20 लाख बन्दी बनाये गये। जनता तो पहले से ही भरपेट अन्न से वंचित थी, अब भूखों भी मरने लगी। इस संवेदनशील परिस्थिति

का बोल्शेविकों ने पूरा उपयोग किया। वे जनता के मनोविज्ञान को समझते थे। अतः उन्होंने ऐसी बातें कहीं ताकि जनता उनका नेतृत्व स्वीकार कर ले।

7 मार्च, 1917 ई. को भूखी नंगी जनता ने जारशाही के विरुद्ध पेट्रोग्राड नगर में जुलूस निकाला। नगर के होटलों आदि में गरमागरम रोटियों व अन्य खाद्य सामग्रियों को देखकर भूखी–प्यासी जनता का धैर्य टूट गया और भीड़ ने रोटियों की लूट मचा दी। भीड़ को नियन्त्रित करने के लिए उच्चाधिकारियों ने सैनिकों को गोली चलाने का आदेश दिया परन्तु सैनिकों ने भूखी–प्यासी जनता पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया।

पेट्रोग्राड की इस घटना के दूसरे दिन क्रान्ति हो गयी। सौभाग्य से इस क्रान्ति का नेतृत्व मेन्शेविक तथा बुद्धिजीवी कर रहे थे। क्रान्तिकारी "रोटी–रोटी" चीखते हुए सड़कों पर उतर आये। विभिन्न कारखानों में काम करने वाले लाखों मजदूर हड़ताल करके क्रान्तिकारियों में सम्मिलित हो गये। इस प्रकार क्रान्ति ने उग्र रूप धारण कर लिया। क्रान्तिकारी "युद्ध बन्द करो", "जार–शासन का नाश हो", "जनता का राज्य हो" जैसे नारे लगाने लगे। समाजवादी और "जारशाही के विरोधी" तत्त्वों ने भी क्रान्तिकारियों को उत्तेजित करना आरम्भ कर दिया। 11 मार्च को सेना ने जार के आदेशों की अवहेलना करते हुए क्रान्तिकारियों पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया।

क्रान्तिकारियों ने मजदूरों की एक **सोवियत** (समिति) का गठन किया। इसी दिन 25 हजार सैनिक भी सोवियत के समर्थक बन गये। 12 मार्च को मजदूरों की इस शक्तिशाली सोवियत ने पेट्रोग्राड (रसिया की राजधानी) पर अधिकार कर लिया। राजधानी की सड़कों पर जार के विश्वासपात्र सैनिकों एवं क्रान्तिकारियों के बीच घमासान युद्ध होने लगा। क्रान्तिकारियों की बढ़ती हुई शक्ति से भयभीत जार ने 15 मार्च, 1918 को सिंहासन त्याग दिया।

क्रान्तिकारियों ने मेन्शेविक दल के प्रमुख नेता करेन्स्की के नेतृत्व में सरकार की स्थापना की किन्तु यह सरकार रसिया की तत्कालीन बिगड़ी हुई सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक स्थिति एवं मजदूरों आदि की समस्या का समाधान करने में असफल रही। इसका मुख्य कारण था कि क्रान्तिकारियों ने जार निकोलस द्वितीय को सिंहासन से पदच्युत कर दिया था । जार केवल एक व्यक्ति ही नहीं था अपितु वह **शक्ति एवं शासन** का प्रतीक था तथा उसके प्रति उत्तरदायी भी था। रसिया के बुद्धिजीवी वर्ग के एक बड़े भाग ने इस तथ्य की न केवल अवहेलना की अपितु विरोध भी किया। जनता के लिए तो "जार" शब्द निरंकुशता एवं अत्याचार का प्रतीक था, अतः जार की पदच्युति उनके लिए हर्ष का विषय ही थी। किन्तु सेना तथा प्रशासन तन्त्र के लिए इस शब्द की महान् सार्थकता थी।

यद्यपि यह तन्त्र अतिअपूर्ण था किन्तु फिर भी सक्रिय था और सभी वस्तुओं को यथास्थान स्थापित करने में समर्थ था। ''जार'' इस तन्त्र का अनिवार्य केन्द्रीय भाग था। तत्कालीन बिगड़ी हुई परिस्थितियों में ''जार'' की पदच्युति के कारण इस सम्पूर्ण तन्त्र का विनाश अवश्यम्भावी था। कुछ ही दिनों में सेना बिखर गयी जो व्यवस्था स्थापित करने हेतु अनिवार्य थी।

तत्कालीन रसियन बुद्धिजीवी वर्ग ने इंग्लैण्ड की क्रान्ति से कोई शिक्षा नहीं ली। 1649 में इंग्लैण्ड की संसद ने तत्कालीन निरंकुश व स्वेच्छाचारी **चार्ल्स प्रथम** को न केवल पदच्युत कर दिया अपितु उसे फाँसी पर भी चढ़ा दिया किन्तु बाद में अव्यवस्था के कारण पुनः **चार्ल्स द्वितीय** को राजसिंहासन पर आसीन किया। बाद में वह भी निरंकुश और स्वेच्छाचारी हो गया। उसके मरणोपरान्त उसका पुत्र **जेम्स द्वितीय** राजा बना वह भी चार्ल्स द्वितीय की भाँति ही था। उसने **खूनी अदालतों** की स्थापना कर अपने विरोधियों को मृत्युदण्ड देना प्रारम्भ कर दिया। इंग्लैण्ड की संसद और जनता ने इसका मुखर विरोध किया तथा संसद ने हॉलैण्ड (नीदरलैण्ड) के शासक **विलियम ऑफ ऑरेंज** तथा उसकी पत्नी व जेम्स द्वितीय की पुत्री **मेरी** को संयुक्त शासक नियुक्त किया। 15 नवम्बर, 1688 को जेम्स द्वितीय देश छोड़कर भाग खड़ा हुआ तथा संसद ने विलियम व मेरी को राजसिंहासन पर आसीन कर दिया। संसद ने 1689 में **अधिकार विधेयक** (Bill of Right) पारित किया जिसके अनुसार शासन की वास्तविक शक्ति संसद में निहित हो गयी तथा राजा औपचारिक शासक मात्र घोषित किया गया। 1701 में संसद ने उत्तराधिकार अधिनियम पारित किया। जिसके अनुसार इंग्लैण्ड का राजसिंहासन **हेनोवर वंश** के लिए सुरक्षित कर दिया गया तथा यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि राजा की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है अपितु वह पूरी तरह संसद पर निर्भर है। इस प्रकार राजा का पद गौरव का पद हो रहा किन्तु उसके पास प्रशासनिक अधिकार नहीं रह गये।

1649 से 1701 तक 52 वर्षों की उठा–पटक के बाद इंग्लैण्ड की संसद ने जो किया वह सब रसिया के बुद्धिजीवी वर्ग तथा क्रान्तिकारियों को 52 दिनों में ही कर लेना चाहिए था ताकि **शक्ति एवं शासन** को दुर्बल किये बिना **जार** के अधिकारों में क्रमशः कमी करके उसे नाममात्र का शासक बनाया जा सके तथा वास्तविक शक्ति **ड्यूमा** को प्राप्त हो सके।

अपनी बात मध्य में ही रोककर हम भारत की शासनप्रणाली की चर्चा करना चाहेंगे क्योंकि जिस प्रकार रसिया के क्रान्तिकारियों ने प्रासंगिक निर्णय नहीं लिया उसी प्रकार भारत की स्वतन्त्रता के समय भारतीय नेताओं ने भी प्रासंगिक निर्णय नहीं लिया। उन्होंने भारत की शासनप्रणाली का निर्माण इंग्लैण्ड की संसदीय शासन प्रणाली के अनुकरण पर किया और इंग्लैण्ड के राजा की भाँति भारत के **राष्ट्रपति**

पद को गौरवपास्पद किन्तु प्रशासनिक शक्ति से शून्य रूप प्रदान किया। स्वतन्त्र भारत का राष्ट्रपति पद वस्तुतः अंग्रेजी शासनकाल के **वायसराय** (Viceroy) पद का स्थानापन्न ही था। किन्तु भारत के लिए यह शासनप्रणाली एक ढोंग और आडम्बर से अधिक कुछ भी नहीं है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में अमेरिका की अध्यक्षीय शासनप्रणाली (Presidential System) ही समीचीन एवं व्यावहारिक थी। अभी भी यदि ऐसा किया जा सके तो ऊँघते हुए भारतीय प्रशासन को एक नवीन ऊर्जा प्राप्त हो सकती है।

अस्तु, रसिया की तत्कालीन बिगड़ी हुई परिस्थितियों को करेन्स्की के नेतृत्व वाली सरकार नियन्त्रित न कर सकी। इस सरकार के पास सहयोग हेतु सेना भी अपर्याप्त ही थी क्योंकि वह तो पहले ही बिखर चुकी थी। इसके पहले कि सरकार सुव्यवस्था स्थापित कर पाती लेनिन (ब्लादीमीर इलिच यूलियनाव) ने बोल्शेविकों की शक्ति के बल पर 6 नवम्बर, 1917 ई. को पेट्रोग्राड की सभी सरकारी इमारतों पर अधिकार कर लिया। उसने करेन्स्की सरकार को अपदस्थ कर **ट्राटस्की** को सोवियत के अध्यक्ष पद पर नियुक्त कर दिया। करेन्स्की को अपने प्राण बचाकर विदेश भागना पड़ा। इस प्रकार रसिया में 1917 में दो बार क्रान्ति हुई। प्राचीन रसियन कैलेण्डर विश्व कैलेण्डर से 8 दिन पीछे था। इसलिए 7 मार्च की क्रान्ति को **फरवरी की क्रान्ति** तथा 6 नवम्बर की क्रान्ति को **अक्टूबर की क्रान्ति** कहा जाता है। लेनिन ने सत्ता पर अधिकार करके 7 नबम्बर, 1917 को रसिया को प्रथम विश्वयुद्ध से अलग कर दिया।

वस्तुतः 6 नबम्बर की क्रान्ति रसियन देशभक्तों व बुद्धिजीवियों की सैद्धान्तिक पराजय थी क्योंकि जिस प्रकार उन्होंने शक्ति के बल पर मार्च में जारशाही को उखाड़ फेंका था, उसी प्रकार बोल्शेविक गुंडों ने भी शक्ति के बल पर करेन्स्की के नेतृत्व वाली सरकार को उखाड़ फेंका। यद्यपि पहली क्रान्ति जनता की दुर्दशा के प्रतिकारस्वरूप की गई थी जबकि दूसरी क्रान्ति बोल्शेविकों ने अपनी सत्तालोलुपता के कारण की थी। किन्तु जनता दोनों क्रान्तियों का भेद नहीं समझ सकती थी। वस्तुतः वह बोल्शेविकों की ओर ही झुकी हुई थी क्योंकि मेन्शेविकों ने सत्ता में आने के पश्चात् युद्धविराम की घोषणा का साहस नहीं दिखा पाया। ऐसे में बोल्शेविकों ने युद्धविराम और शान्ति की वकालत करना प्रारम्भ कर दिया, फलतः जनता ने उन्हें शान्तिदूत समझा किन्तु बोल्शेविकों का ऐसा कहना केवल राजनैतिक चाल थी। वस्तुतः उनसे बड़े विध्वंसक उस समय पूरी पृथ्वी पर कहीं नहीं थे। लेनिन ने प्रतिक्रान्ति का संचालन किया था। अतः वह भली–भाँति समझता था कि उसके द्वारा लायी गयी प्रतिक्रान्ति की भी प्रतिक्रान्ति हो सकती है। अतः उसने बोल्शेविक दल की तानाशाही स्थापित की। उसने सोवियतों में केवल बोल्शेविकों को ही रहने दिया। इस प्रकार सोवियतें कहने के लिए ही मजदूरों व श्रमिकों की समितियाँ रह गयीं क्योंकि बोल्शेविक

दल के सदस्यों के अतिरिक्त अन्य कोई उनमें स्थान नहीं पा सकता था तथा बोल्शेविक दल की सदस्यता भी बोल्शेविक दल के उच्च्य नेताओं की अनुमति व कृपा द्वारा ही पायी जा सकती थी। वस्तुतः उसने ऐसी व्यवस्था की ताकि कदापि कोई प्रतिक्रान्ति न हो सके और अनन्त काल तक बोल्शेविकों की तानाशाही चलती रहे।

इस प्रकार लेनिन की प्रतिक्रान्ति ने रसियन राष्ट्रभक्तों व बुद्धिजीवियों के लोकतन्त्र की स्थापना के स्वप्न को पूरी तरह नष्ट कर दिया। उसने जनता से सम्पत्ति के मौलिक अधिकार को छीन लिया। उसने समस्त वैयक्तिक कल–कारखानों को जब्त कर सरकारी सम्पत्ति घोषित कर दिया तथा उत्पादन व क्रय–विक्रय की व्यवस्था सोवियतों को सौंप दी। इतना ही नही, कुछ समय बाद उसने प्रत्येक नागरिक को सरकारी सम्पत्ति घोषित कर दिया और सभी लोगों के लिए श्रम करना अनिवार्य कर दिया अर्थात् कौन व्यक्ति कब, कहाँ और क्या कार्य करेगा, यह तय करना सरकार का अधिकार हो गया और सरकार का अर्थ था – निरंकुश बोल्शेविक दल। उसने प्रत्येक नागरिक को एक ऐसे यन्त्र की स्थिति में ला दिया जिसका बटन सरकार के पास रहता था। इस प्रकार जनता, जिसके उद्धार के नाम पर क्रान्ति की गयी थी, क्रान्ति के द्वारा स्थायी दासता के पाश में जा फँसी। जनता की इस दुर्दशा का दायित्व रसियन बुद्धिजीवी वर्ग पर ही था जिसने अपनी भूमिका का उचित निर्वहन नहीं किया और न ही अपनी सार्थकता को पहचाना। जो बुद्धिजीवी वर्ग जनता को जारशाही का विरोध करना सिखा सकता था वह उसे बोल्शेविकों का विरोध करना भी सिखा सकता था किन्तु एक बड़ी संख्या में बुद्धिजीवियों ने स्वयमेव बोल्शेविकों की वकालत की। वस्तुतः समाजवाद एक दिवास्वप्न और मिथ्यावाद है क्योंकि इसे कदापि व्यावहारिक रूप प्रदान नहीं किया जा सकता। अतः मेन्शेविक दल एक ऐसे सुखद स्वप्न के आधार पर निर्मित हुआ था जो कभी पूरा नहीं हो सकता था। इसी कारण बोल्शेविक दल जनता के साथ–साथ मेन्शेविक दल तथा बुद्धिजीवी वर्ग को भी छलने में सफल हो सका। वस्तुतः मेन्शेविक दल को समाजवाद का विचार त्यागकर शुद्ध लोकतन्त्र की बात करनी चाहिए थी तथा समस्त लोकतन्त्रवादी दलों के साथ सम्मिलित होकर बोल्शेविक दल का प्रखर विरोधी बनना चाहिए था। उसे जनता को भी बोल्शेविकों के वाग्जाल से सावधान करना चाहिए था। बुद्धिजीवी वर्ग के सहयोग के बिना यह सब हो पाना सम्भव नहीं था किन्तु बुद्धिजीवी वर्ग तो स्वयमेव समाजवाद से मोहित हो रहा था। 1917 के बाद बुद्धिजीवी वर्ग को अपनी अव्यावहारिकता का फल प्राप्त हो गया क्योंकि लेनिन ने किसी भी प्रकार के लेखन, प्रकाशन आदि पर सरकार का (अर्थात् निरंकुश बोल्शेविक दल का) अधिकार घोषित कर दिया। अब समाचार पत्र निकालना सरकार का कार्य हो गया और इन समाचार पत्रों में वही छप सकता था जो

बोल्शेविकों के हित एवं तानाशाही के अनुकूल हो। बोल्शेविक विचारधारा के अनुसार वैयक्तिक स्वातन्त्र्य (Individual Freedom) का कोई अर्थ नहीं है तथा प्रत्येक व्यक्ति समाज की उन्नति हेतु एक साधन मात्र है। अब इस भयावह रसिया में व्यक्ति अपने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से किसी भी पुरुषार्थ को पूरा नहीं कर सकता था। अलबत्ता बोल्शेविक दल के उच्च्च सदस्य एक बड़ी सीमा तक अपने अर्थ व काम की तृप्ति कर सकते थे। इस भयावह रसिया से बचने के लिए बुद्धिजीवी वर्ग ने बड़ी संख्या में पलायन कर अमेरिका, इंग्लैण्ड व फ्रांस की शरण ली और इन देशों की उन्नति में योगदान दिया। जो रसिया में ही रह गये उन्होंने प्राणरक्षा हेतु स्वयं को बोल्शेविक विचारधारा वाला प्रदर्शित किया।

रसिया की क्रान्ति का यह समीक्षात्मक वर्णन हमने यह प्रदर्शित करने के लिए किया है कि "सुन्दर प्रतीत होने मात्र से कोई विचार या वाद ग्राह्य नहीं हो जाता।" जो सुन्दर विचार या वाद मिथ्या आधारों पर खड़ा हो उसके दुरुपयोग की सम्भावना सदैव रहती है। ऐसे विचारों या वादों से जनता की रक्षा करना बुद्धिजीवी वर्ग का कार्य है। बुद्धिजीवी वर्ग की अव्यावहारिक सोच (Impractical thinking) का दुष्परिणाम जनता को ही नहीं बुद्धिजीवी वर्ग को भी भोगना पड़ता है जो किसी पुरुषार्थ की हानि के रूप में ही प्रकट होता हैं और पुरुषार्थों की पूर्णता में ही जीवन की सार्थकता निहित है।

शिक्षा जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विषय है क्योंकि यह चारों पुरुषार्थों को प्रभावित करती है। अतः शिक्षा के विषय में भी किसी सुन्दर प्रतीत होने वाले किन्तु मिथ्या आधारों पर खड़े विचार से बचना अत्यावश्यक है। आगामी प्रकरणों में हम अतिव्यावहारिक ढंग से शिक्षा के विषय में बात करने का प्रयास करेंगे। अस्तु, जो बुद्धिजीवी रसिया से पलायन का अवसर प्राप्त न कर सके उन्होंने अत्यन्त व्यावहारिक मार्ग का अनुसरण किया और स्वयं को समाजवादी के रूप में प्रदर्शित कर अपनी रक्षा की। इन्हीं बचे–कुचे बुद्धिजीवियों ने ही रसिया में मनस्–भेद के प्रयोग किये जो अतिसफल हुए। प्रकरण के आरम्भ में हम कह चुके हैं कि सम्पूर्ण 19वीं शताब्दी तथा 20वीं शताब्दी का 1917 तक का समय रसियन इतिहास का स्वर्णिम काल था क्योंकि इसी काल में रसिया के बुद्धिजीवी वर्ग ने ज्ञान–विज्ञान, कला, साहित्य, दर्शन, अध्यात्म आदि विविध क्षेत्रों में अद्वितीय उन्नति की। बुद्धिजीवी वर्ग का यह विकास "वैयक्तिक स्वातन्त्र्य" पर आधारित था। बुद्धिजीवी वर्ग मध्यम वर्ग का एक भाग था जो सामन्ती वर्ग की भाँति धनी तो नहीं था किन्तु दरिद्र वर्ग की भाँति पीडित और पराधीन भी नहीं था। अतः उसे पर्याप्त वैयक्तिक स्वातन्त्र्य प्राप्त हुआ और मध्यमवर्गीय व्यक्तियों ने अपनी अभिरुचि के अनुकूल क्षेत्रों में कार्य करना प्रारम्भ दिया, फलतः सभी क्षेत्रों में उन्नति हुई और एक श्रेष्ठ बुद्धिजीवी वर्ग का उदय हुआ। इसी श्रेष्ठ अतीत को स्मरण कर रसिया के बुद्धिजीवियों ने बालक–बालिकाओं को उनकी रुचि के अनुकूल

क्षेत्रों में कार्य करने का अवसर प्राप्त कराने तथा कुछ वैयक्तिक स्वातन्त्र्य प्राप्त कराने के उद्देश्य से मनस्–भेद के प्रयोगों की योजना बनाई।

रसियन सरकार समाजवाद तथा साम्यवाद में अन्धविश्वास करती थी। यद्यपि समाजवाद को इस रूप में प्रदर्शित किया जाता था कि व्यक्ति मरणशील है जबकि समाज अमर, है अतः समाज का हित व्यक्ति के हित से ऊपर है तथा व्यक्ति को समाज के लिए ही कार्य करना चाहिए। समाज की उन्नति के लिए व्यक्ति एक साधन है। अतः समाजवाद अपने व्यावहारिक रूप में वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का विरोधी है और जिस समाज की उन्नति के नाम पर व्यक्ति को साधन बनाया जायेगा वह समाज स्वयमेव एक दल की तानाशाही के नीचे होगा। वही तानाशाही दल यह निश्चित करेगा कि किस कार्य में समाज का हित है। इसी प्रकार साम्यवाद को भी इस रूप में प्रदर्शित किया जाता है कि सभी व्यक्ति समान हैं, उनमें कोई भेद नहीं है, न कोई श्रेष्ठ है और न ही निकृष्ट, अतः देश की सारी सम्पत्ति एवं भोग्य वस्तुएं सभी व्यक्तियों में समानरूपेण वितरित होनी चाहिए। किन्तु स्पष्ट शब्दों में इसका अर्थ है कि किसी भी व्यक्ति को विशेषाधिकार प्राप्त नहीं होने चाहिए। अतः साम्यवाद अपने व्यावहारिक रूप में व्यक्ति–भेद का विरोधी है। वस्तुतः तानाशाही दल समस्त सम्पत्ति तथा भोग्य वस्तुओं पर अपना अधिकार रखेगा और शेष व्यक्तियों को समान मात्रा में भोजन, समान संख्या में वस्त्र तथा समान प्रकार के आवास प्रदान करेगा और यह सामान मात्रा, संख्या अथवा प्रकार अधिकांश व्यक्तियों के लिए आवश्यकता से न्यून तथा निकृष्ट ही होंगे।

बुद्धिजीवियों ने सरकार को समझाया कि मनस्–भेद के प्रयोगों के कारण सभी क्षेत्रों में उन्नति होगी जिसका लाभ तथा श्रेय सरकार को ही प्राप्त होगा। सैद्धान्तिकरूपेण मनस्–भेद के विरुद्ध होते हुए भी लाभ तथा श्रेय के लोभ से सरकार ने बुद्धिजीवियों की यह बात मान ली तथा उन्हें मनस्–भेद के प्रयोगों का अधिकार तथा इस हेतु आवश्यक सुविधाएं प्रदान कीं। स्थान–स्थान पर शिशुकेन्द्र खोले गये जिनमें बड़ी संख्या में शिशुओं के स्वभाव का निरीक्षण–परीक्षण किया गया और जिस शिशु की स्वाभाविक रुचि तथा क्षमता जिस क्षेत्र की थी, उसे उसी क्षेत्र की शिक्षा प्रदान की गयी। परिणामस्वरूप शिक्षित युवक–युवतियों में से अधिकांश श्रेष्ठ विज्ञानी, श्रेष्ठ चिकित्सक, श्रेष्ठ अभियन्ता, श्रेष्ठ अध्यापक, श्रेष्ठ विषयविशेषज्ञ, श्रेष्ठ खिलाड़ी, श्रेष्ठ सैनिक आदि सिद्ध हुए। बुद्धिजीवियों ने कहा कि "समाजवाद के अनुसार इन श्रेष्ठ युवक–युवतियों को उसी क्षेत्र में कार्य करना चाहिए जिसकी उन्हें शिक्षा प्रदान की गयी है क्योंकि इसी में समाज का हित है।" इस प्रकार बुद्धिजीवियों ने यह प्रदर्शित किया कि वे समाजवाद के लिए कार्य कर रहे हैं। किन्तु वे वस्तुतः बालक–बालिकाओं के व्यक्ति–भेद (मनस्–भेद) की रक्षा तथा

उन्हें स्वभावानुकूल कार्यक्षेत्र की प्राप्ति कराने के लिए ही कार्य कर रहे थे। यदि बुद्धिजीवी इस कार्य को अपने हाथ में न लेते तो इस बात की पूरी सम्भावना थी कि सरकारी विद्यालयों में मनस्–भेद की परवाह किये बिना सभी बालक–बालिकाओं को समान पाठ्यक्रम का अध्ययन करने के लिए विवश होना पड़ता। फलतः वे आन्तरिक शान्ति से वंचित ही रह जाते जो स्वभावानुकूल कार्यक्षेत्र की प्राप्ति पर ही निर्भर है। किन्तु बुद्धिजीवियों द्वारा किये गये मनस्–भेद के प्रयोगों के कारण उन्हें ऐसी शिक्षा प्राप्त हो सकी जिसमें वे समाजवाद, साम्यवाद, लेनिनवाद आदि की परिधि में रहकर भी अधिकतम सम्भावित वैयक्तिक स्वातन्त्र्य तथा आत्मानुभूति व आत्माभिव्यक्ति का अवसर प्राप्त कर सके।

अब, हम इजराइल के मनस्–भेदसम्बन्धी प्रयोगों तथा उनकी सफलता की चर्चा करेंगे। इजराइल पृथ्वी का एकमात्र यहूदी (Jew) देश है। ईसाई तथा इस्लाम सम्प्रदायों ने अपने आधारभूत तत्त्व यहूदी सम्प्रदाय से ही प्राप्त किये हैं। इजराइल का **जेरुसलेम** नामक नगर यहूदी, ईसाई तथा इस्लाम तीनों ही सम्प्रदायों का श्रद्धाकेन्द्र है। बहुत समय तक यहूदियों को अपने आदिदेश इजराइल को छोड़कर अमेरिका आदि देशों में शरण लेनी पड़ी। अमेरिका की उन्नति में यहूदियों का बड़ा ही योगदान है। यहूदियो ने ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्रों में भी उल्लेखनीय कार्य किये हैं। यहूदिओं पर सर्वाधिक अत्याचार जर्मनी के तानाशाह **हिटलर** ने किये। मुस्लिमों ने भी इन पर पर्याप्त अत्याचार किये। समस्त अत्याचारों और उत्पीडनों के बाद भी यहूदियों ने अपने आदिदेश इजराइल की पुनर्प्राप्ति हेतु संघर्ष जारी रखे और 1949 में पुनः इजराइल को प्राप्त कर लिया। इजराइल की राजनैतिक स्थिति बड़ी ही विचित्र है। यह छोटा–सा देश चारों ओर से मुस्लिम देशों से घिरा हुआ है। ये समस्त मुस्लिम देश इजराइल पर येन केन प्रकारेण आक्रमण करते ही रहते हैं किन्तु इजराइल भी न केवल इन आक्रमणों का भली–भाँति मुकाबला करता है अपितु प्रत्युत्तरस्वरूप घोर आक्रमण भी करता है। निरन्तर युद्धों से घिरा होने पर भी इजराइल ने अपनी पर्याप्त उन्नति की है।

इजराइल एक छोटा किन्तु स्वाभिमानी देश है जो निस्तर चलने वाले युद्धों के कारण एक सैनिक छावनी की भाँति प्रतीत होता है। इजराइल में प्रत्येक नागरिक सैनिक माना जाता है। यद्यपि इजराइल की स्थायी सेना भी है तथापि अन्य नागरिकों को भी द्विवर्षीय अनिवार्य सैनिक शिक्षा दी जाती है ताकि वे आवश्यकता पड़ने पर राष्ट्ररक्षार्थ युद्ध कर सकें तथा नागरिक भी युद्धों में भाग लेने हेतु सहर्ष तत्पर रहते हैं। प्रारम्भ में इन परिस्थितियों में शिशुओं तथा बालक–बालिकाओं के समुचित पालन–पोषण तथा शिक्षण में बड़ी ही कठिनता का अनुभव किया जाता था। इस कठिनता के निवारण हेतु यहूदी शिक्षाशास्त्रियों तथा मनोविज्ञानियों ने यह निष्कर्ष निकाला कि शिशु अपने माता–पिता के साथ रहने की

बजाय बाल–केन्द्रों में रहें तो उनके पालन–पोषण तथा शिक्षण की समुचित व्यवस्था की जा सकती है। इस आशय से सभी नगरों के प्रत्येक मोहल्ले में एक पालनाघर या शिशुकेन्द्र तथा एक बालकेन्द्र का निर्माण किया गया। शिशुकेन्द्र में तीन–चार वर्ष की आयु तक के बच्चों को रखा गया तथा इससे अधिक आयु के बच्चों को बालकेन्द्र में रखा गया। चूँकि युद्ध के वातावरण में जीवन का कोई ठिकाना नहीं होता इसलिए यह प्रयास किया गया कि इन शिशुकेन्द्रों तथा बालकेन्द्रो में बच्चे सदा प्रसन्न रहें। एतदर्थ बाल–मनोविज्ञान के विशेषज्ञों की नियुक्ति की गयी। शिशुकेन्द्रों में सुन्दर, कुशल तथा वात्सल्यमयी स्त्रियों की नियुक्ति की गयी जो प्रेम व स्नेह के साथ बच्चों का पालन–पोषण करने लगीं। प्रत्येक स्त्री को छः महीने के बाद अन्य शिशुकेन्द्र भेजा गया। अतः 3–4 वर्ष का होते–होते प्रत्येक बच्चा 5–6 स्त्रियों के सम्पर्क में आ चुका होता था जिससे उसके व्यक्तित्व में व्यापकता का गुण उत्पन्न होने लगा तथा संकीर्णता की सम्भावनाएं क्षीण होने लगीं। इन शिशुकेन्द्रों में शिशुओं की माताएं समय मिलने पर उनसे मिलने के लिए आ जाती थीं। पिता भी समय पाकर शिशुओं से मिलने आ जाते थे। चूँकि यह मिलन अल्पकालिक होता था अतः शिशु के मन में माता–पिता की प्रेममयी तथा वात्सल्यमयी छवि ही बनती थी जबकि माता–पिता के साथ घर में रहने वाले शिशु को कभी–कभी माता–पिता के क्रोध व तानाशाही का शिकार भी होना पड़ता है जिससे उसके मन में माता–पिता की विरोधाभासी छवि बनती है। इस छवि का एक पक्ष शिशु को प्रेममय प्रतीत होता है जबकि दूसरा पक्ष भयंकर, आक्रामक तथा घृणित प्रतीत होता है। इस विरोधाभास के कारण शिशु सभी व्यक्तियों में दो विरोधाभासी पक्षों की कल्पना करने लगता है और किसी भी व्यक्ति पर पूर्ण विश्वास करने में असमर्थ हो जाता है। शिशुकेन्द्र के शिशु प्रायः इस समस्या से पूर्णतया मुक्त थे। शिशुकेन्द्रों में शिशुओं को किसी साँचे में ढालने के स्थान पर दूसरे को हानि पहुँचाये बिना अपनी स्वतन्त्रता का आनन्द लेने की शिक्षा प्रदान की गयी। बालकेन्द्रों में भी कुशल तथा बाल–मनोविज्ञान के ज्ञाता अध्यापकों की नियुक्ति की गयी जो कक्षा में छड़ी लेकर बच्चों पर तानाशाही करने वाले शिक्षक के स्थान पर एक अनुभवी तथा हितचिन्तक मित्र व मार्गदर्शक की भूमिका निभाते थे। ये शिक्षक बच्चों को उनकी रुचि जानने में तथा रुचि के अनुकूल क्षेत्र का चयन करने में मार्गदर्शन प्रदान करते थे। उच्चस्तरीय पाठ्यक्रमों में स्वेच्छा के आधार पर बच्चों को प्रवेश दिया गया।

उपर्युक्त व्यवस्था के कारण इजराइल के विद्यार्थी ज्ञान–विज्ञान, कला आदि क्षेत्रों में अतिश्रेष्ठ सिद्ध हुए और उन्होंने अपने–अपने क्षेत्रों में कठोर श्रम करके इजराइल की उन्नति में अभूतपूर्व योगदान दिया। इस प्रकार युद्ध के दबाव के कारण इजराइल ने अपने बच्चों को ऐसी शिक्षा प्रदान की जो मनस्–भेद पर आधारित थी और इस शिक्षा ने अपेक्षा से भी अधिक सफलता प्राप्त की। इस प्रकार रसिया

तथा इजराइल दोनों ही देशों में पृथक्–पृथक् कारणों से मनस्–भेद के प्रयोग हुए किन्तु उनके आधार पर दी गयी शिक्षा न केवल सफल हुई अपितु उसने एक नवीन शिक्षा–व्यवस्था की स्थापना का मार्ग भी प्रशस्त किया।

।। इति षष्ठाध्यायान्तर्गतं अष्टमप्रकरणम्।।

नवीन व्यवस्था की इकाई – व्यक्ति

पूर्वप्रकरण में रसिया की क्रान्ति का उल्लेख करते हुए हमने भली भाँति स्पष्ट किया कि ऐसी कोई भी शिक्षा–व्यवस्था अथवा सामाजिक व्यवस्था जो व्यक्ति को साधन मानती है, अन्ततः व्यक्ति और समाज दोनों का अहित करती है तथा समाज के एक वर्गविशेष या दलविशेष के हाथों में पड़कर शेष समाज के उत्पीड़न का उपकरण बन जाती है। भारत की जातितः वर्ण–व्यवस्था भी ऐसी ही व्यवस्था थी जो ब्राह्मणों व क्षत्रियों के लिए शेष समाज के शोषण का एक उपकरण थी। इस प्रकार जातितः वर्णवाद तथा समाजवाद मानवता के इतिहास के ऐसे उदाहरण हैं जिन्होंने व्यक्तियों को साधन मानने वाले सभी विचारों अथवा वादों के खोखलेपन एवं भयंकरता को भली–भाँति सिद्ध कर दिया है। अतः यह आवश्यक है कि व्यक्ति, समाज व राज्य के बीच अधिकारों का स्पष्ट विभाजन हो तथा अधिकारों व योग्यता के सम्बन्ध को स्पष्ट किया जाय। किन्तु अधिकारों व योग्यता के सम्बन्ध पर चर्चा करने से पूर्व यह आवश्यक है कि व्यक्ति के मौलिक अधिकारों को निश्चित किया जाय। भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों की लम्बी सूची दी गयी है किन्तु यह स्पष्ट नहीं किया गया कि सूची में दिये गये समस्त अधिकारों को किस आधार पर मौलिक की संज्ञा प्रदान की गयी है तथा मौलिक अधिकार किस साध्य के साधनभूत हैं। वस्तुतः समस्त अधिकारों व योग्यताओं का एक ही साध्य है – चर्तुवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ। अतः मौलिक अधिकार वे न्यूनतम अधिकार हैं जो चारों पुरुषार्थों की सिद्धि हेतु पूर्णतया अनिवार्य हैं। ये अधिकार हैं – आहार, विश्राम, वस्त्र, आवास, चिकित्सा, शिक्षा, जनकज्ञान, माता–पिता की सम्पत्ति से भागप्राप्ति, विवाह तथा समुदायत्याग का अधिकार। ये अधिकार ही मौलिक अधिकार हैं क्योंकि प्रत्येक जातक के चर्तुवर्ग की सिद्धि हेतु ये दस अधिकार पूर्णतया अनिवार्य तथा न्यूनतम हैं। अतः व्यक्ति के इन मौलिक अधिकारों की रक्षा करना समाज व राज्य का संयुक्त दायित्व है। समस्त योग्यताएं तथा अन्य अधिकार इन मौलिक अधिकारों पर ही टिके हैं। किन्तु वर्तमान भारत में इन मौलिक अधिकारों की प्राप्ति दृष्टिगोचर नहीं हो रही है। लाखों बाल, वृद्ध और युवा इन अधिकारों से वंचित हैं। यदि कोई व्यक्ति भूखा है और उसकी जेब में धन नहीं है तो प्रायः ऐसी कोई व्यवस्था नहीं

है जिसके द्वारा वह भोजन प्राप्त कर सके। राज्य इसे अपना उत्तरदायित्व नहीं मानता है। उसका तर्क है कि जातक के प्रजनन में सहभागी न होने के कारण राज्य पर उसकी उदरपूर्ति का दायित्व कैसे हो सकता है ? यह तर्क भी उचित ही है क्योंकि यह तो कोई बात नहीं हुई कि एक व्यक्ति मनमाने ढंग से बच्चे पर बच्चे पैदा करता रहे और उन बच्चों की उदरपूर्ति राज्य करे। जिस प्रकार राज्य पाठ्यक्रमकेन्द्रित शिक्षा की व्यवस्था तो कर सकता है किन्तु अध्यापककेन्द्रित तथा विद्यार्थीकेन्द्रित शिक्षा की व्यवस्था नहीं कर सकता उसी प्रकार वह कुछ विशेष व्यक्तियों की उदरपूर्ति के लिए ही उत्तरदायी हो सकता है, न कि सभी व्यक्तियों की उदरपूर्ति के लिए। वे विशेष व्यक्ति कौन हैं ? इसकी चर्चा हम आगामी प्रकरणों में करेंगे। शेष व्यक्तियों की उदरपूर्ति का दायित्व तो समाज का ही है। किन्तु यह दायित्व सम्पूर्ण समाज का नहीं हो सकता, अतः गोत्र ही व्यक्ति की उदरपूर्ति हेतु उत्तरदायी है। यही बात विश्राम, वस्त्र तथा आवास के विषय में भी लागू होती है। अस्तु, लोकतन्त्र में कल्याणकारी राज्य की अवधारणा है, अतः राज्य ने शिक्षा व चिकित्सा को अपना दायित्व स्वीकार किया है किन्तु वह केवल पाठ्यक्रमकेन्द्रित शिक्षा ही दे सकता है तथा राजकीय चिकित्सालयों में भी एक निश्चित सीमा तक ही साधन उपलब्ध कराये जा सकते हैं। अतः इनकी भी सम्यक् व्यवस्था गोत्र ही कर सकता है।

अब, हम जनकज्ञान के विषय में बात करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की प्राथमिक पहचान उसके शरीर से होती है और शरीर का निर्माण होता है, माता–पिता के जननाणुओं द्वारा। अतः प्रत्येक जातक का यह मौलिक अधिकार है कि उसे इस बात का ज्ञान हो कि किन स्त्री–पुरुष के जननाणुओं द्वारा उसके शरीर का निर्माण हुआ है। अब, व्यक्ति के इस मौलिक अधिकार की रक्षा का दायित्व किसका है ? निश्चितरूपेण व्यक्ति स्वयं तो यह जानने में असमर्थ ही है। राज्य की भी यही स्थिति है। तब तो यह दायित्व समाज का ही है किन्तु यह दायित्व सम्पूर्ण समाज का नहीं हो सकता। अतः गर्भधात्री माता का ही यह दायित्व है कि वह शिशु को उसके जननाणुदाताओं का ज्ञान कराये। कतिपय निम्नोक्त स्थितियों में जातक अपने इस मौलिक अधिकार से वंचित रह जाता है –

1. माता के साथ कोई अपरिचित व्यक्ति बलात्कार कर भाग जाये और जातक का गर्भाधान हो जाये।

2. माता स्वेच्छा से किसी अपरिचित व्यक्ति से मैथुन करे और जातक का गर्भाधान हो जाये।

3. माता एक ही समय में कई परिचित व्यक्तियों से मैथुन करे और पिता का निश्चय न हो सके।

4. शैशवावस्था में ही जातक को कोई चुरा ले अथवा वह खो जाय और इस प्रकार वह जननाणुदाता माता–पिता को न जान सके।

5. जातक की माता का पति प्रजनन में अक्षम होने के कारण किसी वीर्य बैंक से जातक की माता का गर्भाधान करा ले और बाद में जातक को यह न बताया जाय कि वीर्य बैंक में रखे अमुक व्यक्ति के शुक्राणु से उसका जन्म हुआ है।

6. कोई स्त्री गर्भाशय के अविकसित होने के कारण अपने व अपने पति के जननाणुओं का निषेचन परखनली में कराकर उसे किसी अन्य स्त्री के गर्भाशय में डलवा दे और बाद में वह स्त्री कहीं भाग जाये और जातक को उसके जननाणुदाता माता–पिता के बारे में न बताये।

7. जातक के माता–पिता उसे किसी सन्ततिहीन दम्पति को दे दें और यह दम्पति जातक को यह न बताये कि उसके जननाणुदाता माता–पिता कौन हैं ?

प्रथम तीनों स्थितियों में तो गर्भपात ही उचित है। शेष स्थितियों में कुछ विशेष नहीं किया जा सकता। वस्तुतः किसी भी लज्जा, आशंका अथवा भय के कारण व्यक्ति के इस मौलिक अधिकार को नहीं छीना जाना चाहिए और समाज व राज्य को संयुक्तरूपेण व्यक्ति के इस मौलिक अधिकार की रक्षा करनी चाहिए। शिक्षा–व्यवस्था भी ऐसी होनी चाहिए ताकि व्यक्ति जननाणुदाता माता–पिता के ज्ञान को अनिवार्य तथा सहज समझे। यदि जातक का गर्भाधान असामान्य प्रक्रिया से हुआ है तो भी उसे जननाणुदाता माता–पिता के ज्ञान से कोई लज्जा, दुःख आदि न हो। प्राचीनकाल में भी यह व्यवस्था थी कि नियोग से उत्पन्न जातक को यह बताया जाता था कि उसका पिता उसका जनक नहीं हैं अपितु अमुक व्यक्ति ही उसका जनक और नियुक्त पिता है। यह बात इतनी सहजतया बतायी जाती थी कि नियोगज व्यक्ति को इससे कोई लज्जा, विषाद अथवा दुःख नहीं होता था। वस्तुतः गर्भाधान की प्रक्रिया असामान्य ही क्यों न हो जननाणुदाता माता–पिता का ज्ञान व्यक्ति का मौलिक तथा सहज अधिकार ही है और व्यक्ति को भी इसे सहजरूपेण ही स्वीकार करना चाहिए। इसके साथ–साथ यह भी ध्यातव्य है कि जातक के गर्भाधान की प्रक्रिया चाहे सामान्य हो अथवा असामान्य, वह जननाणुदाता पिता के गोत्र को ही प्राप्त करता है। मनु का भी यही मत है। इसी कारण उन्होंने अपने भ्राता अथवा सगोत्र व्यक्ति से ही स्वपत्नी का नियोग कराने तथा उन्हीं से दत्तक पुत्र प्राप्त करने का विधान किया है।

जातक के शरीर का निर्माण माता तथा पिता दोनों के ही जननाणुओं से होता है किन्तु गोत्रप्राप्ति किसी एक से ही हो सकती है। अब, यदि एक बार यह निश्चित हो गया है कि गोत्रप्राप्ति शुक्राणुदाता पिता से होगी तो इस व्यवस्था में व्यत्यय करने का अधिकार किसी को भी नहीं है। अतः जातक को न तो अण्डाणुदात्री माता का और न ही उसके पति आदि किसी अन्य पुरुष का गोत्र प्राप्त होगा अपितु केवल और केवल शुक्राणुदाता पिता का ही गोत्र प्राप्त होगा। यही विज्ञानसम्मत भी है। माता के पति का

गोत्र तो तभी प्राप्त हो सकता है जब शुक्राणुदाता पिता को जानने का कोई भी उपाय न हो। माता–पिता की सम्पत्ति से भागप्राप्ति, विवाह तथा समुदायत्याग के अधिकारों की चर्चा हम आगामी प्रकरणों में करेंगे।

मौलिक अधिकारों की चर्चा के पश्चात् अब हम व्यक्ति, समाज व राज्य के मध्य अधिकारों के विभाजन की बात कर सकते हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि इन तीनों में केन्द्रीय स्थान व्यक्ति का ही है। इस विषय में हम पर्याप्त चर्चा भी कर चुके हैं। निश्चितरूपेण ही व्यक्ति, समाज व राज्य के पास उनके अधिकार तभी तक रह सकते हैं जब तक उनके पास योग्यता रहे अन्यथा वे अधिकारों के पात्र नहीं रह जाते। यथा, व्यक्ति को वयस्क होने पर मतदान का अधिकार है किन्तु पागल, दीवालिया अथवा अपराधी आदि होने पर उसका यह अधिकार निरस्त हो जाता है किन्तु यह वयस्क मताधिकार भी समीक्ष्य है क्योंकि विशेष जाति, वर्ग अथवा समुदाय अधिक संख्या में सन्तानोत्पत्ति कर जनमत को अनुचितरूपेण प्रभावित भी कर सकता है। अतः वयस्क मताधिकार को "सप्रतिबन्ध" होना चाहिए। या तो कोई अतिरिक्त योग्यता होने पर ही वयस्क को मताधिकार मिलना चाहिए अथवा कोई अतिरिक्त योग्यता होने पर ही व्यक्ति को जननाधिकार मिलना चाहिए अथवा ये दोनों प्रतिबन्ध एकसाथ ही होने चाहिए। इस अतिरिक्त योग्यता की बात हम आगामी प्रकरणों में करेंगे।

समाज के अधिकारों पर बात करने से पहले समाज को परिभाषित करना आवश्यक है। वस्तुतः समाज की कोई निरपेक्ष और स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। व्यक्तियों तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों का समुच्चय ही "समाज" कहलाता है। व्यक्तियों तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों से पृथक् कोई समाज नहीं होता। इस प्रकार जब दो व्यक्ति कोई क्रिया साथ–साथ करते हैं अथवा सम्बन्धित होते हैं तो समाज का जन्म होता है। अतः अकेले व्यक्ति को समाज नहीं कहा जा सकता। चूँकि व्यक्तियों तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों से समाज बनता और ये सम्बन्ध व्यक्तिशः भिन्न होते हैं, अतः समाज के कई प्रकार के अधिकार होते हैं। यथा, पिता–पुत्र से बने समाज में पिता को सेवा कराने का अधिकार है तथा पुत्र को पिता की सम्पत्ति से भाग प्राप्त करने का अधिकार है। पुत्र यदि मद्यप (शराबी), कितव (जुआरी), कुशील (व्यभिचारी) आदि हो तो वह पिता की सम्पत्ति से भाग प्राप्त करने का अधिकारी नहीं है। उसे केवल भरण–पोषण हेतु ही व्यय प्राप्त हो सकता है, यही उसका भाग माना जायेगा और शेष धन उसके पुत्र को प्राप्त होगा। पिता अपना धन "अयोग्य पुत्र" के पुत्र के साथ–साथ किसी अन्य को भी दे सकता है। यदि दो व्यक्तियों के बीच कोई सम्बन्ध प्रतीत न हो तो उनके बीच मानवता का सम्बन्ध होता है और उनसे बने समाज में दोनों को परस्पर समादर का अधिकार होता है। यद्यपि व्यक्ति समाज का साधन नहीं है अपितु स्वयंसाध्य है तथापि उसे समाज को हानि पहुँचाने का भी अधिकार नहीं है क्योंकि उसका

जन्म समाज से ही हुआ है।

अस्तु, राज्य को परिभाषित करना भी आवश्यक है। राज्य समाज का ही एक विशेष भाग अथवा समुदाय है। समाज से पृथक् उसकी कोई सत्ता नहीं है। समाज तथा राज्य में शेष–विशेष सम्बन्ध अथवा शासित–शासक सम्बन्ध होता है। शासक बनने की प्रक्रिया लोकतन्त्रात्मक अथवा इतर भी हो सकती है। राज्य समाज को नियन्त्रित करता है अर्थात् वह देखता है कि एक व्यक्ति के अधिकारों में कोई दूसरा व्यक्ति बाधा न डाल सके। राज्य को अधिकार है कि वह व्यक्ति से कर (tax) ले सकता है किन्तु व्यक्ति के पुरोहित, क्षत्रिय अथवा शूद्र होने की दशा में वह उससे कर नहीं ले सकता। यदि कोई राज्य इनसे कर लेता है तो ऐसा राज्य अपराधी कहलायेगा। तब व्यक्ति अथवा समाज को यह अधिकार है कि राज्य से शासित–शासक सम्बन्ध न रखे अर्थात् ऐसे राज्य को अपदस्थ किया जाना चाहिए। अतः समाज को अपने पास इतनी शक्ति अवश्य रखनी चाहिए ताकि वह राज्य के अयोग्य हो जाने पर उसे अपदस्थ कर सके और वह शक्ति है – पुरोहित वर्ग। पुरोहित वर्ग न्यायालय व प्रेस (Press) द्वारा यह कार्य कर सकता है।

इस प्रकार हमने देखा कि सुव्यवस्था हेतु व्यक्ति, समाज व राज्य के मध्य अधिकारों का स्पष्ट व तर्कसंगत वितरण आवश्यक है और इनके अधिकार योग्यता पर आधारित हैं। अपेक्षित योग्यता के अभाव में अधिकारों की प्राप्ति नहीं होनी चाहिए। व्यक्ति, समाज व राज्य में व्यक्ति ही केन्द्रीय स्थान पर है। व्यक्ति स्वयंसाध्य है तथा समाज व राज्य व्यक्ति के लिए साधनभूत हैं। व्यक्ति को केन्द्रीय स्थान देने में कोई हानि इसलिए नहीं है क्योंकि व्यक्ति संख्या में अनेक हैं। अतः कोई भी नवीन व्यवस्था व्यक्ति को केन्द्रीय स्थान दिये बिना सफल नहीं हो सकती क्योंकि उसकी इकाई व्यक्ति ही हो सकता है।

।। इति षष्ठाध्यायान्तर्गतं नवमप्रकरणम् ।।

व्यक्ति – समाजसंगठन का साधन नहीं

समाज का संगठन विशेषतः दो रूपों में दृष्टिगोचर होता है। इसका प्रथम रूप है – परिवार। परिवार में पति–पत्नी तथा उनकी सन्तति निहित हैं। परिवार का ही बड़ा रूप कुलगोत्र होता है। गणगोत्र परिवार का वृहत्तम रूप है। समाजसंगठन का दूसरा रूप है – वर्ण। प्रत्येक वर्ण शेष तीनों वर्णों के लिए कार्य करता है। चाहे गोत्र हो अथवा वर्ण ! दोनों ही संगठनों के द्वारा व्यक्तियों को ही लाभान्वित करने का प्रयास किया जाता है।

यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि व्यक्ति समाज के लिए साधन नहीं है अपितु स्वयंसाध्य है

क्योंकि व्यक्ति से पृथक् समाज का कोई अस्तित्व नहीं होता किन्तु व्यक्ति को जन्म, पालन–पोषण, शिक्षा आदि की प्राप्ति समाज के द्वारा ही होती है, अतः उसे समाज को हानि पहुँचाने का भी कोई अधिकार नहीं है। व्यक्ति चाहे तो समाज से पृथक् होकर वन में जा सकता है किन्तु उसे अपनी सन्तानों के पालन–पोषण की व्यवस्था करनी होगी (यदि सन्तानें हों तो)। हम पूर्वप्रकरण में समुदायत्याग को व्यक्ति का मौलिक अधिकार कह चुके हैं। उसका ऐसा करना समाज के विकास के लिए अनुपयोगी तो हो सकता है किन्तु हानिकारक नहीं हो सकता। अस्तु, समाज व्यक्ति को अपना अंग बने रहने के लिए विवश नहीं कर सकता वह चाहे तो व्यक्ति को समाज में पुनर्प्रवेश करने से रोक अवश्य सकता है। किन्तु समाज का एक अंश यदि व्यक्ति को पुनर्प्रवेश की अनुमति देता है तो शेष समाज इसमें बाधा डालने का अधिकारी नहीं है। इस प्रकार समाज को छोड़ने का अधिकार व्यक्ति का परमाधिकार है क्योंकि इसमें परमपुरुषार्थ मोक्ष की सिद्धि की सम्भावना निहित है। इस अधिकार का ही एक विशिष्ट अंग है – इच्छामृत्यु (Euthanasia)। यह समाज का आत्यन्तिक त्याग है। अधिकांश देशों में इच्छामृत्यु को मौलिक अधिकार नहीं माना जाता। यह आशंका व्यक्त की जाती है कि इससे समाज में गड़बड़ी फैलेगी। वस्तुतः यह आशंका व्यर्थ ही है क्योंकि समाजत्याग व्यक्ति के लिए इतना अधिक असुविधाजनक है कि विरले ही इसके लिए तत्पर होते हैं। समाजत्याग का विचार भी व्यक्ति को कम्पित कर देता है। अतः समाजत्याग को मौलिक अधिकार मान लेने पर समाज को कोई हानि नहीं होगी। दो–चार व्यक्तियों के समाजत्याग से अतिविशाल समाज को नाममात्र भी हानि नहीं होती। राज्य या समाज को बलपूर्वक व्यक्ति के समाजत्याग का विरोध नहीं करना चाहिए। वह केवल व्यक्ति को ऐसा न करने हेतु प्रेरणा और परामर्श प्रदान कर सकता है जिसे स्वीकार करना या न करना व्यक्ति पर निर्भर है। राज्य चाहे तो समाजत्याग की न्यूनतम आयु निश्चित कर सकता है। कुछ विद्वानों के अनुसार 50 वर्ष ही वह न्यूनतम आयु है।

चूँकि व्यक्ति समाज द्वारा उत्पन्न होकर भी समाजत्याग का अधिकारी है, इससे यह सिद्ध होता है कि वह समाजसंगठन का साधन नहीं है किन्तु समाज में बने रहने वालों के लिए समाजसंगठन अनिवार्य है। सम्पूर्ण पृथ्वी पर केवल हिन्दू समाज में ही इस व्यवस्था को व्यावहारिक किन्तु पक्षपातपूर्ण रूप प्रदान किया गया था। अतः प्रारम्भ में जब हिन्दू समाज ईसाई, मुस्लिम आदि सम्प्रदायों के सम्पर्क में आया तो उन्होंने हिन्दू समाज के इस दोष के कारण इसे बहुत आघात पहुँचाया। तत्कालीन रूढिवादी पुरोहित समाजत्याग का वास्तविक अर्थ न समझने के कारण अनजाने में ही ईसाई, मुस्लिम आदि सम्प्रदायों का सहयोग करते रहे। हिन्दू समाज की व्यवस्था के अनुसार समाजत्याग न करने वाले व्यक्तियों के लिए समाजसंगठन को स्वीकार करना अनिवार्य था। इस हेतु जो नियम निश्चित किये गये

उनका पालन न करने पर व्यक्ति का जातिपतन अथवा बहिष्कार कर दिया जाता था। जातिपतित अथवा बहिष्कृत व्यक्ति कोई विकल्प न होने के कारण अछूत जाति का सदस्य बन जाता था। किन्तु ईसाई, मुस्लिम आदि सम्प्रदायों ने हिन्दू समाज की इस आत्मघाती प्रवृत्ति को अपने सम्प्रदाय की संख्यावृद्धि का अच्छा उपाय समझा। उन्होंने जतिपतित तथा बहिष्कृत व्यक्तियों को समझाया कि "क्यों अछूतों का गर्हित जीवन जीना चाहते हो ? हमारे सम्प्रदाय में दीक्षित हो जाओ। हम तुम्हें प्रेम और आदर प्रदान करेंगे।" यह बात जातिपतित तथा बहिष्कृत व्यक्तियों की समझ में आ गयी और वे इन सम्प्रदायों में दीक्षित होने लगे। इसके पश्चात् तो इन सम्प्रदायों का विश्वास बढ़ गया। अब वे स्वयं ही किसी गाँव के कुएं में गोमांस फेंक देते थे और अन्य गाँवों में खबर भी कर देते थे कि अमुक गाँव के कुएं में गोमांस है। तब वह सम्पूर्ण गाँव ही बहिष्कृत कर दिया जाता था और ये सम्प्रदाय उस सम्पूर्ण गाँव को अपने में दीक्षित कर लेते थे। इन सम्प्रदायों ने निम्नजातीय व्यक्तियों को भी प्रेम, आदर तथा धन का लोभ देकर अपने सम्प्रदाय में दीक्षित किया। इस प्रकार हिन्दू समाज का संख्याबल तत्कालीन रूढिवादी पुरोहितों की मूढता के कारण निरन्तर घटता रहा। वस्तुतः समाजत्याग की बात आध्यात्मिक थी। कहा भी गया है – आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि समाजत्याग करने वाले व्यक्ति को हम समाज में पुनर्प्रवेश की अनुमति न दें क्योंकि ऐसा करने पर वह व्यक्ति किसी समानान्तर समाज में प्रविष्ट हो जायेगा। अतः यही अच्छा है कि हम उसे अपने समाज में ही प्रवेश दे दें। हिन्दू समाज ने बाद में ऐसा किया भी। इतना ही नहीं, बहुत सी अन्य कट्टरताओं का भी त्याग किया गया। यथा, जैन सम्प्रदाय से स्पर्धा के कारण वर्जित मांसाहार की पुनः अनुमति दे दी गयी, केवल इतना प्रतिबन्ध रखा गया कि "गोमांस तथा नरमांस का भक्षण वर्जित है। ऐसा कर लेने पर अमुक प्रायश्चित करना पड़ेगा।" यदि मांसाहार को पूर्णतया निषिद्ध कर दिया जाता तो इस बात की पूर्ण सम्भावना थी कि अनेक लोग केवल मांसाहार की इच्छा पूर्ण करने हेतु ही ईसांई या मुसलमान बन जाते।

इस प्रकार व्यक्ति समाजसंगठन का साधन नहीं है और उसे समाजत्याग का पूर्ण अधिकार भी है किन्तु समाज को अपना रूप सदैव ऐसा बनाये रखना चाहिए ताकि समाजत्याग का कारण समाजान्तर में सुलभ किसी भौतिक वस्तु की कामना न हो। वैसी कामना की पूर्ति के अवसर समाज में बने रहने चाहिए। एतदर्थ, समाजसंगठन के नियमों में कुछ ढील भी देनी पड़े तो देनी चाहिए। प्रबुद्ध लोग आत्मकल्याण हेतु स्वयमेव सभी नियमों का पालन करते ही रहेंगे। सामाजान्तर में प्रवेश के इच्छुक लोग यदि समाज में बने रहें तो भले ही उनकी कोई उपयोगिता प्रतीत न हो किन्तु समाजान्तर में प्रवेश करने

के उपरान्त वे समाज के लिए घातक अवश्य हो जाते हैं। कहा भी गया है – घर का भेदी लंका ढाए।

।। इति षष्ठाध्यायान्तर्गतं दशमप्रकरणम्।।

सामाजिक अत्याचार के बीज परिवार व विद्यालय में ही निहित

अत्याचार केवल वैयक्तिक ही नहीं अपितु सामाजिक भी होते हैं। यथा, प्रत्येक उच्चजातीय अपने से निम्नजातीय का शोषण कर सकता है, यह बात समाज द्वारा स्वीकृत थी, अतः यह सामाजिक अत्याचार है। पति अपनी पत्नी का उत्पीडन कर सकता है, यह बात समाज द्वारा स्वीकृत थी, अतः यह सामाजिक अत्याचार है। पाठ्यक्रमकेन्द्रित शिक्षा व्यक्ति–भेद को विचारगत नहीं करती फिर भी समाज द्वारा स्वीकृत है, अतः यह भी सामाजिक अत्याचार है। यदि कोई अन्तर्जातीय विवाह करता है तो उसके अपने रिश्तेदार तथा सजातीय उससे मुँह फेर लेते हैं। यह बात समाज के एक बड़े अंश द्वारा स्वीकृत है, अतः यह भी सामाजिक अत्याचार है। ऐसे ही अन्य अनेकानेक सामाजिक अत्याचारों का उल्लेख किया जा सकता है। अतः यदि कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति पर अत्याचार कर रहा हो तो ऐसा भी हो सकता है कि उस अत्याचार के पीछे सामाजिक स्वीकृति हो। सामाजिक स्वीकृति भी बड़ी ही सूक्ष्म होती है क्योंकि अत्याचार का विरोध न करना भी स्वीकृति का ही कार्य करता है। कहा भी गया है – मौनं सम्मतिलक्षणम्।

अधिकांश सामाजिक अत्याचार बीजरूप में परिवार में ही निहित हैं। माता–पिता बच्चों के व्यक्ति–भेद को कोई सम्मान नहीं देते और अपने ही बच्चों में निरन्तर तुलना करते रहते हैं। इससे बच्चों में कुण्ठा एवं हीनभावना उत्पन्न होती है और उनके प्रेम में भी कमी आती है। वे भीतर ही भीतर एक–दूसरे से ईर्ष्या भी करने लगते हैं। माता–पिता न तो यह बात समझते हैं और न ही समझना चाहते हैं कि पाठ्यक्रमकेन्द्रित और सत्रीय शिक्षा सर्वत्र लागू करना नितान्त अमनोवैज्ञानिक है। वे तो प्रतिस्पर्धा में कथंचिदपि अपने बच्चों को आगे देखना चाहते हैं। किन्तु प्रतिस्पर्धा तभी श्रेयस्कर हो सकती है जब वह समान क्षेत्र में तथा समान स्वभाव वालों के मध्य हो। एक साथ सभी क्षेत्रों में तथा सभी स्वभाव वालों के साथ प्रतिस्पर्धा की बात सोचना और इसका प्रयास करना बच्चों को विक्षिप्तता के निकट पहुँचा देता है। यदि माता–पिता की इच्छा बच्चों को जीवन की प्रतिस्पर्धा के योग्य बनाने की है तो यह कार्य भी उनके स्वभाव और स्वाभावानुकूल कर्म के आधार पर ही हो सकता है। इससे बच्चों में हीनता और कुण्ठा का जन्म भी नहीं होगा।

स्वभाव–भेद तथा व्यक्ति–भेद के विषय में पूर्ण समाज किसी अन्धे व्यक्ति की भाँति व्यवहार कर

रहा है और प्रतिस्पर्धा में अपने बच्चों को आगे देखने की कामना से मोहित और वशीभूत होकर निरन्तर उनका अपमान और दमन कर रहा है। यह कथा घर पर ही समाप्त नहीं होती। विद्यालयों में यह और भी बढ़–चढ़ कर सामने आती है। ऊर्जा से भरे बच्चे घंटो तक रसहीन कक्षाओं में बैठने के लिए विवश होते हैं। न तो विषय से और न ही अध्यापक के व्यक्तित्व से किसी रस अथवा आनन्द की प्राप्ति होती है। जैसे कोई मेषपाल अपनी मेषों को हाँकता है, वैसे ही वह शिक्षक कोमल बच्चों को एक ही लाठी से हाँकता है। वह शिक्षक अपनी विद्वत्ता के अभिमान में चूर होकर छोटे–छोटे बच्चों के सामने गर्व से चलता और बोलता है। उसकी आँखों और भाव–भंगिकाओं में बच्चों के प्रति तुच्छता व हीनता की भावना तथा स्वयं के प्रति उच्चता व श्रेष्ठता की भावना स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है। प्रेम और शान्ति के आलोक के स्थान पर बच्चे भय के काले साये का अनुभव करते हैं। जब तक वे इस साये के निकट रहते हैं उनकी जान आफत में रहती है। अधिक संवेदनशील बच्चे अधिक आहत होते हैं। कभी इस बात पर विचार ही नहीं किया जाता कि बच्चा भी आदर और सम्मान का अधिकारी है अपितु यह बात ही आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। बच्चों के आदर और सम्मान की बात करने पर लोग कहते हैं कि बच्चे तो प्रेम और स्नेह अधिकारी हैं, न कि आदर और सम्मान के। वस्तुतः यह बच्चों को आदर व सम्मान देने से बचने के लिए दिया गया कुतर्क ही है क्योंकि उनके मन और हृदय में बच्चों के प्रति न तो प्रेम है और न स्नेह। यदि ऐसा होता तो वे बच्चे के व्यक्तित्व का सम्मान करते हुए उसकी अन्य बच्चों से तुलना न करते। बच्चे की भलाई के नाम पर सभी प्रकार के अत्याचार बच्चे पर किये जाते हैं किन्तु यह बात समझने का प्रयास नहीं किया जाता कि भलाई की कामना से युक्त होकर किये जाने मात्र से कोई कार्य भलाई का नहीं हो जाता। भलाई करना एक गहरी कला और गूढ विज्ञान है जो कौशल और बोध पर आधारित है। इसमें अत्याचार और दमन के लिए कोई स्थान नहीं है।

अस्तु, शनैः शनैः परिवार और विद्यालय में समस्त सामाजिक अत्याचारों को सहते–सहते व्यक्ति न केवल इन्हें सहन करने का अभ्यस्त हो जाता अपितु स्वयं भी इन्हीं अत्याचारों को दोहराने लगता है। इस प्रकार सामाजिक अत्याचार अक्षुण्ण बने रहते हैं। आखिर! इस दुश्चक्र (vicious circle) को कहाँ से तोड़ा जा सकता है ? पुनः वही उत्तर है – गोत्र तथा वर्ण की सहायता से। गोत्र–व्यवस्था के बिना जातिवादरूपी सामाजिक अत्याचार को नहीं रोका जा सकता तथा वर्ण–व्यवस्था के बिना स्वभावविरुद्ध कार्य की विवशतारूपी सामाजिक अत्याचार को दूर नहीं किया जा सकता। किन्तु गोत्र तथा वर्ण को अपने–अपने कट्टर रूप का परित्याग करना होगा अन्यथा आधुनिक समाज में यह बात आरम्भ होने से पूर्व ही समाप्त हो जायेगी अर्थात् इस विचार का विरोध होने लगेगा और इस पर प्रयोग का अवसर प्राप्त

ही नहीं होगा।

।। इति षष्ठाध्यायान्तर्गतं एकादशप्रकरणम्।।

नवीन व्यवस्था में वर्णों का उच्चता–क्रम अस्वीकार्य

पूर्वप्रकरण में हम कह चुके हैं कि सामाजिक अत्याचारों से रहित एक नवीन व्यवस्था के निर्माण हेतु हमें गोत्र एवं वर्ण की सहायता लेनी होगी। यह तो हुई सैद्धान्तिक बात किन्तु इसके व्यावहारिक रूप का सूत्रपात कैसे होगा ? इसका सरलतम उपाय यह है कि जातियाँ गोत्रों में परिणत हो जाएं तथा अपने बालक–बालिकाओं के लिए माध्यमिक स्तर (10+2) तक के ऐसे विद्यालयों की स्थापना करें जिनमें उपजाति का भेदभाव किये बिना इस नवीन सगोत्रता (सजातीयता) के आधार पर प्रवेश दिया जाय। इनमें विद्यार्थी, अध्यापक आदि सभी जन सगोत्र हों। किसी भी गोत्रविशेष का विद्यालय आदि खोलने हेतु उसी गोत्र के लोगों से आर्थिक सहायता प्राप्त की जाय तथा आर्थिक सहायता प्रदान करने वालों का नाम तथा धनराशि सहित पूर्ण रिकॉर्ड रखा जाय। इन विद्यालयों में विद्यार्थियों के लिए आवासीय सुविधा हो तथा अध्यापकों के लिए भी सपरिवार आवासीय सुविधा हो। कुमार विद्यालय तथा कन्या विद्यालय पृथक्–पृथक् होने चाहिए। प्रारम्भ में इन विद्यालयों का लक्ष्य सगोत्र निर्धनों की सन्तानों हेतु सुशिक्षा तथा सगोत्र सुशिक्षित बेराजगारों हेतु रोजगारप्राप्ति ही प्रदर्शित किया जाय ताकि सभी इनका सहयोग करें। इन विद्यालयों के विद्यार्थी तथा अध्यापक समाज में यह प्रचार करें कि प्रत्येक विद्यार्थी यदि सगोत्रों के साथ अध्ययन करेगा तो इससे समाज और राष्ट्र की उन्नति होगी। इस प्रचार का परिणाम यह होगा कि लोगों में अपनी सन्तानों को सगोत्र विद्यार्थियों के साथ पढ़ाने की प्रवृत्ति विकसित होने लगेगी। इस समस्त कार्य को हम **नवीन व्यवस्था का प्रथम चरण** कह सकते हैं। इस कार्य के साथ–साथ प्रत्येक जाति के प्रत्येक कुलगोत्र की जनसंख्या का विवरण एकत्रित किया जाय। यह कार्य करने के लिए प्रत्येक जाति के प्रत्येक कुलगोत्र के युवकों का आह्वान किया जाय। ये युवक अपने–अपने कुलगोत्र के लोगों के नाम, स्थान, कार्य तथा संख्या का विवरण एकत्रित करें। इस समस्त कार्य को हम **नवीन व्यवस्था का द्वितीय चरण** कह सकते हैं। प्रत्येक जाति के समस्त कुलगोत्रों का विवरण एकत्रित हो जाने पर प्रत्येक कुलगोत्र में चारों वर्णों के विकास की व्यवस्था की जाय। इसे हम **नवीन व्यवस्था का तृतीय चरण** कह सकते हैं। सृजन की तुलना में विनाश सदा ही सरल होता है। अतः इस बात का जोर–शोर से प्रचार होना आवश्यक है कि "हम एक गोत्र के लोग भाई–भाई हैं, भले ही हमारा वर्ण व उपजाति कुछ भी हो।" यह प्रचार तब तक प्रभावी रहेगा जब तक उपजातिगत उच्चता व निम्नता के भाव का परित्याग नहीं

किया जाता। वेद में भी कहा गया है कि सौभाग्यवृद्धि के लिए ज्येष्ठता व कनिष्ठता का भाव त्याग कर संभ्राता (अच्छे भाई) बनना चाहिए।[271]

अतः नवीन व्यवस्था में उपजातिगत उच्चता व निम्नता के भाव का त्याग तो करना ही होगा साथ ही साथ जातकों को स्वभावानुसार वर्णप्राप्ति कराकर उनमें वर्णगत उच्चता व निम्नता के भाव को भी दूर करना होगा। उन्हें व्यक्ति–सम्मान का पाठ पढ़ाना होगा ताकि वे समझ सकें कि मानव होना सर्वोपरि है, वर्ण तो वैयक्तिक विषय है। इस प्रकार नवीन व्यवस्था में वर्णों का उच्चता–क्रम (Hierarchy) अस्वीकार्य होगा। ऐसा होने पर प्रत्येक गोत्र उन्नति करेगा, फलतः सम्पूर्ण हिन्दू समास भी उन्नत और सशक्त होगा और यह हमारा सुविचारित और व्यावहारिक मत है कि हिन्दू समाज की उन्नति के बिना भारत की उन्नति हो ही नहीं सकती। मुस्लिम, ईसाई आदि सम्प्रदायों के प्रति हमारा कोई विरोधभाव नहीं है और फिर हिन्दू–उन्नति के कार्य को मुस्लिम–विरोध या मुस्लिम–अवनति के कार्य के रुप में परिभाषित करना तो दिङ्मूढता ही होगी।

।। इति षष्ठाध्यायान्तर्गतं द्वादशप्रकरणम्।।

नवीन व्यवस्था में वर्णों का स्वीकार अपरिहार्य

हम पूर्वप्रकरण में कह चुके हैं कि नवीन व्यवस्था में गोत्रों का व्यवस्थापन कर समस्त जातकों के स्वभाव के निरीक्षण–परीक्षण तथा उनके अन्तःकरण के निर्णय के अनुसार उन्हें वर्णप्राप्ति कराकर उन्हें वर्णों की उच्चता व निम्नता के भाव से दूर रहना सिखाना होगा ताकि वे संभ्राता बन सकें। इसमें निम्नोक्त आपत्ति की जा सकती है –

वर्णों के साथ उच्चता व निम्नता का भाव कदापि पृथक् नहीं किया जा सकता क्योंकि शास्त्रों के अनुसार शूद्र एकज कहलाता है तथा वैश्य, क्षत्रिय व ब्राह्मण द्विज कहलाते हैं। द्विजों में भी ब्राह्मण द्विजोत्तम कहलाता हैं। इन शास्त्रीय बातों का प्रभाव जातकों पर पड़े बिना नहीं रहेगा। अतः उन्हें स्वभावानुसार विषयों के चयन व अध्ययन में सहयोग प्रदान किया जाय किन्तु यह बात ही न उठाई जाय कि अमुक जातक का क्या वर्ण है। वर्ण की बात किये बिना ही सम्पूर्ण शिक्षा प्रदान की जाय। वर्ण की बात न होने से उनसे सम्बन्धित उच्चता व निम्नता का भाव भी जाग्रत नहीं होगा।

वस्तुतः यह आपत्ति बड़ी ही अमनोवैज्ञानिक है क्योंकि मनुष्यों का वर्णविभाजन प्राकृतिक है, इसे न तो परिवर्तित किया जा सकता है और न ही समाप्त किया जा सकता है। अतः इसकी अवहेलना

271. अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय। ऋग्वेद 5–60–5

व्यक्ति और समाज के लिए कदापि कल्याणकारी नहीं हो सकती। जीवन एक नाटक है जिसमें सभी को कोई न कोई अभिनेय (role) निभाना है। वर्ण तो अभिनेय मात्र हैं तथा मन व शरीर की परिधि के अन्तर्गत ही हैं। अध्यात्म वर्णों से परे है किन्तु वर्ण अध्यात्म तक ले जाने वाली सीढ़ी है। अतः यदि गोत्रवाद तथा अध्यात्म समाज में प्रबल बने रहेंगे तो वर्णगत उच्चता व निम्नता का भाव प्रबल न हो सकेगा। यदि कोई व्यक्ति **स्ववर्ण** नहीं जानेगा तो वह कभी भी **स्वधर्म** (स्ववर्णानुकूल कर्म) का त्याग कर सकता है अर्थात् वह अध्यात्म तक पहुँचाने वाली सीढ़ी से पतित हो सकता है। यदि इस सीढ़ी से वह जानबूझकर गिरे तब तो कोई बात नहीं किन्तु अनजाने में ही गिर जाए तो यह दोष उस व्यक्ति का नहीं अपितु सामाजिक व्यवस्था का माना जायेगा। अतः सामाजिक व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि वह व्यक्तियों को बताये कि "तुम अपना वर्ण पहचानो। उसके अनुसार कार्य करो ताकि उच्चतर वर्ण अथवा मोक्ष को प्राप्त कर सको। स्ववर्णगत धर्म (स्वकर्तव्य) का पालन करते हुए मर जाना भी श्रेयस्कर है किन्तु परवर्णगत धर्म (परकर्तव्य) का पालन न केवल तुम्हारी आन्तरिक शान्ति अपितु आध्यात्मिक उन्नति को भी बाधित कर देगा।" गीता में भी स्ववर्णगत कर्म को ही कल्याणकारी बताया गया है।[272] इतना जानकर भी यदि कोई स्ववर्णगत कर्म से अन्यथा कर्म करना चाहे तो इसे उसका अधिकार ही माना जाना चाहिए किन्तु उससे इतना अवश्य कहा जाना चाहिए कि अब वह इस अन्य कर्म को भी पूरी तत्परता तथा निष्ठा से करे।

।। इति षष्ठाध्यायान्तर्गतं त्रयोदशप्रकरणम्।।

वर्णों की उन्नति हेतु गोत्र–व्यवस्था के सुदृढीकरण की अनिवार्यता

पूर्वप्रकरणों में हम कह चुके हैं कि जातियों की गोत्रों में परिणति भारत की उन्नति का मार्ग प्रशस्त करेगी क्योंकि इसके द्वारा वर्णों की उन्नति की जा सकेगी। पृथ्वी के समस्त देशों में प्रतिस्पर्द्धा तथा पारस्परिक सहयोग दोनों एक साथ चलते हैं और ये सदैव वर्णों पर आधारित होते हैं। अतः वर्णों की उन्नति अन्य देशों के मध्य भारत की स्थिति को सुदृढ रूप प्रदान करेगी। किन्तु केवल हिन्दू समाज में

---

272. श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।। गीता 3–35

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः। स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्।।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्। सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।।

गीता 18–45,46,47,48

वर्णों की उन्नति भारत का पूर्ण हित नहीं कर सकती क्योंकि मुस्लिम, ईसाई आदि अन्य सम्प्रदायों की विशाल जनसंख्या कदापि उपेक्षणीय नहीं हो सकती। उनकी उन्नति न होना अन्ततः भारत की उन्नति में बाधक ही सिद्ध होगा। इस तथ्य को हमें देर–सबेर स्वीकार करना ही होगा। यह एक प्राकृतिक नियम है कि जो उन्नति और सृजन नहीं करता, वह अवनति और विध्वंस करने लगता है। अतः हिन्दू–इतर समुदायों के विषय में हमारी नीति अत्यन्त स्पष्ट होनी चाहिए और वह यह है कि प्रत्येक सदस्य को राष्ट्रनिर्माण में अपनी भूमिका को स्पष्ट करना होगा। किसी व्यक्ति का वर्ण ही राष्ट्रनिर्माण में उसकी भूमिका को स्पष्ट कर सकता है। अतः प्रत्येक मुस्लिम जातक को स्ववर्ण का चयन करना ही होगा। किन्तु यह वर्णचयन पुनः भ्रामक हो जायेगा यदि इसके आधारस्वरूप गोत्रविभाजन न हो अर्थात् मुस्लिम समुदाय को अपना गोत्रविभाजन करना होगा और यह गोत्र पिता से ही प्राप्त होगा। ''गोत्र'' शब्द के तले रहकर वे अरबी, फारसी, उर्दू आदि किसी भी भाषा में अपने गोत्र का नामकरण कर सकते हैं अर्थात् ''गोत्र'' शब्द उन्हें यथावत् स्वीकार करना होगा। इस प्रकार उनके इस्माइल, इरफान, हबीब इत्यादि गोत्र हो सकते हैं। मुस्लिम समुदाय के जो सदस्य मतान्तरण के बाद भी अपना पारम्परिक हिन्दू गोत्र सुरक्षित बनाये हुए हैं, उनका वही गोत्र बना रहना चाहिए। भारतीय नागरिकता की प्रथम शर्त ''गोत्र'' शब्द द्वारा परिभाषित की जानी चाहिए अर्थात् गोत्र स्वीकार करने पर ही भारतीय नागरिकता प्राप्त होनी चाहिए। द्वितीयतः सगोत्र कन्या के साथ विवाह करना **राष्ट्रद्रोह** घोषित किया जाना चाहिए। इसी विधान के अन्तर्गत सगी बहिन, सगी बुआ, सगे मामा अथवा सगी मौसी की कन्या के साथ विवाह करना भी राष्ट्रद्रोह घोषित किया जाना चाहिए। इस नियम की परिधि में बहुत से दक्षिणभारतीय हिन्दू भी आ जायेंगे क्योंकि उनमें मामा–भाँजी विवाह का पर्याप्त प्रचलन है। सगी बहिन, सगी बुआ, सगे मामा अथवा सगी मौसी की कन्या के साथ विवाह की सम्भावना तभी समाप्त की जा सकती है जब वर के माता व पिता के कुलगोत्र तथा कन्या के माता व पिता के कुलगोत्र असमान हों। इन चारों कुलगोत्रों की पारस्परिक असमानता होने पर सगी बहिन, सगी बुआ, सगे मामा अथवा सगी मौसी की कन्या के साथ विवाह की कोई सम्भावना ही नहीं होगी। वर के माता–पिता के कुलगोत्रों तथा कन्या के माता–पिता के कुलगोत्रों की पारस्परिक असमानता होने पर ही विवाह को वैधानिक माना जाना चाहिए। इस नियम को **सगोत्र कन्या के साथ विवाहनिषेध** के नियम के अंश के रुप में ही प्रतिपादित किया जाना चाहिए। अच्छा तो यही होगा कि वर की पितामही तथा कन्या की पितामही के कुलगोत्रों की भी पूर्वोक्त चारों कुलगोत्रों से असमानता हो। तृतीयतः गोवंश–वध भी राष्ट्रद्रोह घोषित किया जाना चाहिए। भारत के सभी नागरिकों को राष्ट्र की मुख्यधारा में रखने के लिए ये तीनों प्रतिबन्ध अत्यावश्यक हैं क्योंकि समान प्रतिबन्ध लोगों

में समानता तथा राष्ट्रवाद का भाव जाग्रत करते हैं। इसी प्रकार अध्यक्षीय शासनप्रणाली (Presidential System) भी भारत में राष्ट्रवाद को प्रबल कर सकती है। इस प्रकार जब भारत के सभी नागरिक उपर्युक्त तीनों नियमों की परिधि में आ जायेंगे तथी वर्णविभाजन और वर्णोन्नति की बात सार्थक हो सकती है अन्यथा वर्तमान जातिवाद के कारण **बहुराष्ट्रवाद** का उदय हो सकता है। वैसे भी **द्विराष्ट्रवाद** के कारण हम भारत–विभाजन की कभी न समाप्त होने वाली पीडा को पहले से ही झेल रहे हैं। भारत के जो नागरिक उपर्युक्त तीनों नियमों की परिधि में नहीं आ पाये हैं, वे न तो मतदान के, न निर्वाचन में प्रत्याशी बनने के और न ही सरकारी पद की प्राप्ति के अधिकारी होने चाहिए। ये नियम वस्तुतः किसी भी सम्प्रदाय के विरोधी नहीं हैं। ये केवल सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की रक्षा हेतु अनिवार्य हैं। भारत की उन्नति भारतीय संस्कृति की अवहेलना करके कदापि नहीं की जा सकती। ये नियम भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद तथा राजनैतिक राष्ट्रवाद में सम्बन्ध स्थापित करने वाले हैं। भारत का सम्पूर्ण इतिहास साक्षी है कि **सांस्कृतिक राष्ट्रवाद** के क्षीण होने पर हमारा **राजनैतिक राष्ट्रवाद** भी क्षीण हुए बिना न रह सका। इस ऐतिहासिक तथ्य की अवहेलना का पर्याप्त दण्ड हम भोग ही चुके हैं। अब, इस भूल को पुनः दोहराने पर हमारे अस्तित्व पर ही प्रश्नचिह्न खड़ा हो जायेगा।

अतः निश्चित ही वर्णों की उन्नति भारत की उन्नति हेतु आवश्यक है किन्तु इसके पूर्व भारत के प्रत्येक नागरिक को गोत्र–व्यवस्था की परिधि में आना होगा क्योंकि यही सांस्कृतिक व राजनैतिक राष्ट्रवाद की रक्षा की न्यूनतम शर्त है।

।। इति षष्ठाध्यायान्तर्गतं चतुर्दशप्रकरणम् ।।

विवाह एवं जननाधिकार

पृथ्वी के समस्त देशों में प्राचीनकाल से ही इस बात पर विचार किया जाता रहा है कि श्रेष्ठ व बुद्धिमान् जातकों का ही जन्म हो तथा निकृष्ट व मूर्ख जातकों के जन्म को रोका जाये ताकि मानव समाज निरन्तर विकसित होता रहे। इस बात पर सर्वाधिक विचार **ग्रीस** (Greece) अर्थात् यूनान देश में किया गया। ग्रीस के राज्यों ने **सन्ततिनियमन की द्विमुखी प्रक्रिया** चलाई। सर्वप्रथम उन्होंने जन्मतः मनोशारीरिकरूपेण विकलांग, पागल, कोढ़ी आदि का बन्ध्याकरण (sterilization) किया और इसके साथ–साथ ऐसे शिशुओं का जन्म के समय ही वध किया जो नपुंसक, विकलांग इत्यादि होते थे। इस द्विमुखी प्रक्रिया के फलस्वरुप ग्रीस का **स्पार्टा** नामक राज्य श्रेष्ठतम योद्धाओं तथा **एथेन्स** नामक राज्य श्रेष्ठतम दार्शनिकों व विचारकों के लिए प्रसिद्ध हुआ। किन्तु निश्चितरूपेण ही ग्रीस की सन्ततिनियमन

की द्विमुखी प्रक्रिया अत्यन्त हिंस्र (violent) तथा अमानवीय (inhuman) थी। निश्चितरूपेण ही हम ग्रीस की सन्ततिनियमन की द्विमुखी प्रक्रिया के उनके उपाय को न तो लागू कर सकते हैं और न ही स्वीकार कर सकते हैं किन्तु उक्त प्रक्रिया में निहित मानवसमाजोन्नति की मूल भावना की अवहेलना नहीं की जा सकती। आज भारत देश किसी स्पष्ट **प्रजनन नीति** तथा **युवा नीति** के अभाव में न केवल अतिजनसंख्यावृद्धि से अपितु अराजकता से भी पीडित हो रहा है जिसके कारण जीवन के सभी क्षेत्रों में अव्यवस्था ही अव्यवस्था दृष्टिगोचर हो रही है। अतः भारत के पास एक स्पष्ट प्रजनन नीति तथा युवा नीति होना अपरिहार्य है। प्रजनन नीति की बात करते हुए हमें विवाह तथा जननाधिकार को विचारगत करना होगा। हम पूर्व प्रकरणों में कह ही चुके हैं कि विवाह करना व्यक्ति या मौलिक अधिकार है और किसी भी व्यक्ति से यह अधिकार छीना नहीं जा सकता, अतः यदि प्रत्येक विवाहित को जननाधिकारी माना जायेगा तो वास्तविक सन्ततिनियमन नहीं हो सकेगा, अधिक से अधिक जनसंख्या–नियन्त्रण ही किया जा सकेगा। किन्तु हमारा लक्ष्य जनसंख्या–नियन्त्रण के साथ–साथ सन्तति–नियमन भी है ताकि सभी जातक श्रेष्ठ तथा बुद्धिमान् हों। अतः यह आवश्यक है कि विवाह का अधिकार ही जननाधिकार नहीं माना जाना चाहिए। इस हेतु यह आवश्यक है कि शारीरिक या मानसिकरूपेण विकलांग, असाध्य रोग से ग्रस्त, पागल, मन्दबुद्धि आदि सन्तानोत्पत्ति न करें। किन्तु हमारे ऐसा चाहने मात्र से ये सभी प्रजनन नहीं करेंगे, यह सोचना भ्रममात्र ही है। तो फिर इस समस्या का निराकरण कैसे किया जा सकता है ? इस विषय पर हम आगामी प्रकरण में चर्चा करेंगे।

।। इति षष्ठाध्यायान्तर्गतं पंचदशप्रकरणम्।।

मानव समाज की उन्नति हेतु जननाधिकार में छँटनी आवश्यक

ग्रीस में सन्ततिनियमन की द्विमुखी प्रक्रिया अपनायी गयी थी जिसमें प्रथम प्रक्रिया के अनुसार अयोग्यों का बन्ध्याकरण किया जाता था तथा द्वितीय प्रक्रिया के अनुसार अयोग्य शिशुओं का वध कर दिया जाता था। इसमें से द्वितीय प्रक्रिया को हम पूर्णतया नकारते हैं। यह मानवता के नाम पर कलंक है जिसकी हम लेशमात्र भी सहमति प्रदान नहीं कर सकते। अब बची प्रथम प्रक्रिया, इसको भी हम नपुंसकीकरण के रूप में कदापि स्वीकार नहीं कर सकते। ग्रीस में होने वाले बन्ध्याकरण में वृषणों (testes) को ही काटकर अलग कर दिया जाता था, फलतः व्यक्ति नपुंसक हो जाता था। यह बात ही अमानवीय है, इसे कदापि स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। हाँ, पुरुषों की जननाणुवाहिकाओं को काटकर या बाँधकर की जाने वाली वैसेक्टोमी (Vasectomy) तथा स्त्रियों की जननाणुवाहिकों को

काटकर या बाँधकर की जाने वाली सैल्पिन्जेक्टोमी या ट्यूबेक्टोमी (Salpingectomy or Tubectomy) ही बन्ध्याकरण के नाम पर स्वीकार की जा सकती है क्योंकि इससे नपुंसकता नहीं होती।

अस्तु, पूर्वकरण में हम बात कर रहे थे कि अयोग्यों को प्रजनन न करने हेतु प्रेरित करने मात्र से वे प्रजनन नहीं करेंगे, ऐसा कदापि नहीं सोचा जा सकता। अतः एक स्पष्ट प्रजनन नीति आवश्यक है। हम पूर्व प्रकरणों में कह चुके हैं कि जातकों के पालन–पोषण, चिकित्सा, शिक्षा आदि समस्त बातों के लिए अधिकांशरूपेण गोत्र तथा न्यूनांशरूपेण राज्य उत्तरदायी है। अतः प्रजनन नीति के अनुसार विवाह को व्यक्ति का मौलिक अधिकार माना जाना चाहिए किन्तु प्रजनन को **गोत्र** व **राज्य** का **संयुक्त अधिकार** घोषित किया जाना चाहिए। अतः गोत्र व राज्य जननाधिकार प्रदान करने हेतु नागरिकों की छँटनी करें। जिनको जननाधिकार प्राप्त न हो सके उनका बन्ध्याकरण कर दिया जाय। अब, यह विचारणीय है कि किस आधार पर जननाधिकार प्रदान किया जाय तथा प्रजनन के अनधिकारी बन्ध्याकरण के पूर्व ही सन्तानोत्पत्ति न कर सकें, इसकी व्यवस्था कैसे की जायेगी ? इस प्रश्न का उत्तर हम आगामी प्रकरण में देंगे।

।। इति षष्ठाध्यायान्तर्गतं षोडशप्रकरणम् ।।

छँटनी के तीन आधार – प्रतिभा, ऊँचाई व सौन्दर्य

पूर्वप्रकरण में हम कह चुके हैं कि गोत्र व राज्य के पास ही जननाधिकार होना चाहिए। वे योग्य व्यक्तियों को यह अधिकार प्रदान करें तथा अयोग्य व्यक्ति यह अधिकार चुरा न लें, इसकी व्यवस्था भी करें। किसी भी व्यक्ति की योग्यता उसकी प्रतिभा से ही आँकी जा सकती है तथा प्रतिभा का सही आकलन भी विकास के समान अवसरों की प्राप्ति पर ही निर्भर है। फिर, प्रतिभा भी विविध प्रकार की होती है, अतः प्रतिभा का परीक्षण सरल नही है। अतएव किसी भी क्षेत्र में प्रतिभाशाली सिद्ध होने वालों को जननाधिकार प्रदान किया जाय। अब, यह विचारणीय है कि मानव समाज की उन्नति का आकलन केवल प्रतिभा से ही नहीं किया जा सकता। निश्चितरूपेण ही शारीरिक श्रेष्ठता भी मानव समाज की उन्नति का एक पक्ष है। अतः शारीरिकरूपेण श्रेष्ठ व्यक्तियों को भी जननाधिकार प्रदान किया जाना चाहिए। शारीरिक श्रेष्ठता के दो स्पष्ट रूप हैं – ऊँचाई तथा सौन्दर्य। सर्वप्रथम ऊँचाई के विषय में बात करते हैं। अब, प्रश्न यह है कि कितनी ऊँचाई होने पर जननाधिकार प्रदान किया जाय ? निश्चितरूपेण ही औसत से अधिक ऊँचाई होने पर जननाधिकार प्रदान किया जाना चाहिए। अब, औसत ऊँचाई (Average height) किसे माना जाये ? इसका उत्तर है कि कुलगोत्र के 16 वर्ष से अधिक आयु के समस्त

व्यक्तियों की औसत ऊँचाई ही जननाधिकार प्रदान करने हेतु ली जानी चाहिए क्योंकि प्रत्येक कुलगोत्र का बना रहना समाज की उन्नति हेतु परमावश्यक है। इस प्रकार यदि किसी व्यक्ति की ऊँचाई उसके कुलगोत्र के 16 वर्ष से अधिक आयु वाले सदस्यों की औसत ऊँचाई से अधिक है तो उसे जननाधिकार प्रदान किया जाना चाहिए।

अब, सौन्दर्य की बात करते हैं। यह विषय अतिविवादित तथा जटिल है क्योंकि ऐसा देखा जाता है कि सौन्दर्य का मापदण्ड व्यक्तिशः भिन्न होता है। एक व्यक्ति जिसे सुन्दर मानता है, उसी में अन्य व्यक्ति को कोई सौन्दर्य दिखाई नहीं देता। तो फिर सौन्दर्य को कैसे निश्चित किया जाय ? अब, इस समस्या के निराकरण का केवल एक उपाय है कि इस विषय में वैयक्तिक मत की अवहेलना ही करनी होगी अन्यथा सौन्दर्य का कोई भी मापदण्ड निर्धारित ही नहीं हो सकेगा। इस हेतु हमें सर्वप्रथम यूरोपीय रंगभेद की भावना का परित्याग करना होगा क्योंकि इसके नाम पर वे अश्वेतों को हीन सिद्ध करते हैं तथा उनके उत्पीडन को भी अमानवीय नहीं मानते। इस प्रकार त्वचा का रंग सौन्दर्य के आधार के रूप में स्वीकृत नहीं किया जाना चाहिए। द्वितीयतः हमें सर्वांगसुन्दर की संकल्पना का भी परित्याग करना चाहिए क्योंकि सर्वांगसुन्दरता की शर्त प्रायः विरले ही पूरी कर सकते हैं। अतः हम सौन्दर्य के दो विभाग कर सकते हैं – मुखसौन्दर्य तथा मुखेतरांगसौन्दर्य। मुखसौन्दर्य के विषय में हमें वे आदर्श ही स्वीकार कर लेने चाहिए जो प्राचीनकाल से ही मूर्तिकारों, चित्रकारों, दार्शनिको, कवियों आदि द्वारा स्वीकार किये जाते रहे हैं। यथा – लम्बी–पतली तथा उठी हुई नाक, कम चौड़े नथुने, बड़ी आँखें, लम्बी ठोड़ी, चौड़ा माथा, मोतियों जैसी व्यवस्थित दन्तपंक्ति इत्यादि। इन समस्त बातों में से एक–आध का अभाव होने पर भी जननाधिकार प्रदान किया जा सकता है। अब, मुखेतरांगसौन्दर्य की बात करते हैं। इसमें प्रथम स्थान है – हाथ व पैरों की उँगलियों का। सौन्दर्यवर्णन करते समय समस्त कवियों ने मुख के पश्चात् हाथ व पैर की उँगलियों का ही वर्णन किया है। लम्बी, पतली, सीधी तथा सुगठित उँगलियाँ कमल की पंखुड़ियों के समान सुन्दर मानी जाती हैं। इसी कारण काव्य में करकमल तथा पादपंकज जैसे शब्दों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। शेष अंगों के विषय में भी सुदर्शनीयता को आधार माना जा सकता है। इस प्रकार यदि कोई व्यक्ति सामान्य मुखसौन्दर्य वाला हो किन्तु विशेष मुखेतरांगसौन्दर्य से युक्त हो तो उसे भी जननाधिकार प्रदान किया जा सकता है।

इस प्रकार प्रतिभा, ऊँचाई तथा सौन्दर्य में से किसी एक गुण के आधार पर जननाधिकार प्रदान किया जाना चाहिए। किन्तु जिस प्रकार हर नियम के अपवाद होते हैं उसी प्रकार हमें इन नियमों के अपवादों पर भी विचार करना होगा अन्यथा हमारा सम्पूर्ण विश्लेषण अपूर्ण और हवाई ही रह जायेगा।

अतः हमें प्रतिभा, ऊँचाई तथा सौन्दर्य तीनों के ही विकल्पों पर विचार करना होगा। वे विकल्प हैं – क्रयशक्ति, स्कन्धों अथवा श्रोणिमेखला की चौड़ाई, शारीरिक बल तथा आरोग्य। अब, क्रयशक्ति पर बात करते हैं। प्रतिभाहीन व्यक्ति के माता–पिता उसके लिए जननाधिकार खरीद भी सकते हैं। न्यूनतम कितना मूल्य चुकाने पर जननाधिकार प्रदान किया जा सकता है। इसका उत्तर है कि एक जातक पर उसके जन्म से लेकर 25 वर्ष की आयु तक होने वाला व्यय। इस व्यय का भली–भाँति आकलन कर एक राशि निश्चित की जानी चाहिए जो **गोत्रकोष** में जमा की जानी चाहिए तथा उतनी ही राशि **राजकोष** में भी जमा की जानी चाहिए। जातक के माता–पिता द्वारा गोत्र व राज्य को पृथक्–पृथक् इतनी राशि सौंप देने पर जातक को जननाधिकार प्रदान कर दिया जाना चाहिए।

ऊँचाई के दो विकल्प हैं – स्कन्धों अथवा श्रोणिमेखला की चौड़ाई तथा शारीरिक बल। स्कन्धों अथवा श्रोणिमेखला की चौड़ाई भी शारीरिक श्रेष्ठता की द्योतक है। अतः जिन व्यक्तियों के स्कन्ध अथवा श्रोणिमेखला औसत से अधिक चौड़े हों, उन्हें जननाधिकार प्रदान किया जाना चाहिए। अब, बल के विषय में बात करते हैं। कुलगोत्र के षोडशवर्षीय सदस्यों की औसत ऊँचाई से न्यून ऊँचाई होने पर भी व्यक्ति यदि विशेषरूपेण बलवान् (Extraordinarily Powerful) है तो उसे जननाधिकार प्रदान किया जाना चाहिए। कुछ लोग दाँतों से वायुयान खींच सकते हैं अथवा ऐसे ही अन्य कार्य कर सकते हैं जिनके लिए विशेष शारीरिक बल अपेक्षित है। ऐसे लोगों को जननाधिकार प्रदान किया जा सकता है क्योंकि उनके गुण समाज के लिए उपयोगी हो सकते हैं और प्रजनन द्वारा ही इन्हें आगे बढ़ाया जा सकता है।

इसी प्रकार सौन्दर्य के मापदण्ड पर खरा न उतरने वाला व्यक्ति यदि पूर्णतया नीरोग है तो उसे जननाधिकार प्रदान किया जा सकता है क्योंकि नीरोगता अथवा आरोग्य भी मानव समाज की उन्नति का परिचायक है।

इस प्रकार जिनके पास प्रतिभा, लम्बाई सौन्दर्य, क्रयशक्ति, स्कन्धों अथवा श्रोणिमेखला की चौड़ाई, बल तथा आरोग्य में से कोई भी एक गुण हो उसे जननाधिकार प्रदान किया जाना चाहिए। शेष का बन्ध्याकरण कर देना चाहिए। हाँ, इतना आवश्य ध्यातव्य है कि पागल, विकलांग, कोढ़ी आदि तथा घातक आनुवांशिक रोगों से ग्रस्त लोगों को क्रयशक्ति होने पर भी जननाधिकार प्रदान नहीं किया जाना चाहिए।

अस्तु, "नवीन व्यवस्था की इकाई – व्यक्ति" नामक प्रकरण में हम कह चुके हैं कि राज्य कुछ विशेष व्यक्तियों की उदरपूर्ति हेतु ही उत्तरदायी हो सकता है। ये बन्ध्याकृत व्यक्ति ही वे विशेष व्यक्ति हैं जिनकी उदरपूर्ति हेतु राज्य उत्तरदायी है। इन प्रजनन के अनधिकारियों हेतु राज्य द्वारा प्रत्येक नगर

में राजकीय भोजनालय की व्यवस्था की जानी चाहिए। ये व्यक्ति चाहें तो विवाह भी कर सकते हैं ताकि उनका काम पुरुषार्थ सिद्ध हो सके। इनका अपना कुलगोत्र भी इनकी आवश्यकताओं की पूर्ति में सहयोग कर सकता है। इतना ही नहीं, ये विवाहित स्त्री–पुरुष चाहें तो परखनली शिशु भी प्राप्त कर सकते हैं। एतदर्थ स्त्री–पुरुष अपने–अपने कुलगोत्र के उन स्त्री–पुरुषों के जननाणु प्राप्त कर सकते हैं जिन्हें जननाधिकार प्राप्त है।

।। षष्ठाध्यायान्तर्गतं सप्तदशप्रकरणम्।।

छँटनी केवल पुरुषों की अथवा स्त्री–पुरुष दोनों की

पूर्वप्रकरण में हमने जननाधिकारप्राप्ति की योग्यताओं के विषय में चर्चा की थी और यह भी कहा था कि जो लोग इन योग्यताओं को पूरा न कर सकें उनका बन्ध्याकरण कर दिया जाय। उस चर्चा में इस बात पर विशेष विचार नहीं किया गया था कि यह बन्ध्याकरण केवल पुरुषों का किया जाय अथवा स्त्री–पुरुष दोनों का। इस विषय में एक मत यह है कि यह बन्ध्याकरण केवल पुरुषों का ही किया जाना चाहिए, स्त्रियों का नहीं अर्थात् प्रतिभा, ऊँचाई, सौन्दर्य, क्रयशक्ति, स्कन्धों अथवा श्रोणिमेखला की चौड़ाई, बल अथवा आरोग्य के न होने पर भी स्त्रियों का बन्ध्याकरण न किया जाय। हाँ, जन्म से ही शारीरिक या मानसिकरूपेण विकलांग, पागल, कोढ़ी, घातक आनुवांशिक रोगों से ग्रस्त आदि सभी स्त्रियों का बन्ध्याकरण अवश्य कर दिया जाना चाहिए। दूसरे मत के अनुसार जननाधिकार की पूर्वोक्त सात योग्यताओं में से एक भी न होने पर स्त्रियों का भी बन्ध्याकरण कर दिया जाय। स्त्रियों की औसत ऊँचाई के निर्धारण हेतु न्यूनतम आयु भी 16 वर्ष ही मानी जानी चाहिए अर्थात् जिस कन्या की ऊँचाई कुलगोत्र की 16 वर्ष से अधिक आयु की स्त्रियों की औसत ऊँचाई अधिक हो उसे जननाधिकार प्रदान किया जाना चाहिए। शेष स्त्रियों का बन्ध्याकरण कर देना चाहिए। शेष बातें पूर्ववत् समझनी चाहिए।

अस्तु, उपर्युक्त दोनों मतों में से दूसरा मत अधिक वैज्ञानिक है क्योंकि प्रथम मत में स्त्री जाति के उत्थान की प्रेरणा न होने के कारण वह शनैः शनैः समस्त स्त्री जाति को निकृष्ट बना डालेगा। इसके अतिरिक्त आनुवांशिक रोगों का वहन प्रमुखतः स्त्रियाँ करती हैं, न कि पुरुष। अतः स्त्रियों की छँटनी होना तो पुरुषों की छँटनी से भी अधिक आवश्यक है।

हमारा तीसरा मत है कि केवल स्त्रियों की छँटनी होना ही पर्याप्त है। पुरुषों की छँटनी करना अनावश्यक है क्योंकि वे आनुवांशिक रोगों के प्रमुख वाहक नहीं हैं। इसके अतिरिक्त पुरुषों द्वारा Y गुणसूत्रों के साथ–साथ X गुणसूत्रों की भी रक्षा होती है किन्तु स्त्रियों में Y गुणसूत्र न होने से वे उसकी

रक्षा कर ही नहीं सकतीं। अतः बन्ध्याकरण तो स्त्रियों का ही होना चाहिए तथा बन्ध्याकृत स्त्रियाँ श्रेष्ठ स्त्रियों से अण्डाणु प्राप्त कर परखनली शिशुओं की माताएं बन सकती हैं। स्त्रियों को केवल इस बात की चिन्ता करनी चाहिए कि वे श्रेष्ठ पुरुष का ही पतिरूप में वरण करें।

अन्ततः यह ध्यातव्य है कि जब तक जननाधिकार को विवाह से पृथक् नहीं किया जाता तब तक प्रतिभाशाली, ऊँचे व सुन्दर लोगों को अधिक सन्तानोत्पत्ति हेतु प्रेरित किया जाय और उनकी सन्तानों के पालन–पोषण की व्यवस्था गोत्र करें ताकि वे सन्तानें पूर्ण विकसित हो सकें। गोत्र अपनी श्रेष्ठ कन्याओं के विवाह हेतु स्वयंवर भी करवायें जिनमें निहित कोई विशेष शर्त अथवा परीक्षा उत्तीर्ण करने वाले अविवाहित असगोत्र युवकों में से अभीष्ट युवकों का वे वरण कर सकें।

।। इति षष्ठाध्यायान्तर्गतं अष्टादशप्रकरणम्।।

।। इति षष्ठोऽध्यायः।।

उपसंहार

इस शोधकार्य का हमारा लक्ष्य वर्णसम्बन्धी सभी पक्षों की समीक्षा करना था। यह कार्य भारत के लिए अद्यावधि प्रासंगिक है क्योंकि रुचितः वर्ण–व्यवस्था रूपी गतिमान चक्र के रुक जाने पर ही जातितः वर्ण–व्यवस्था की उत्पत्ति हुई थी और हमारा देश आज भी जातिवाद से बुरी तरह त्रस्त है। जो थोड़ी–बहुत कसर बची थी वह जाति–आधारित राजनीति ने पूरी कर ही दी है। कोई भी सुशिक्षित, जागरूक और देशभक्त व्यक्ति इस स्थिति से असंपृक्त नहीं रह सकता। जातितः वर्ण–व्यवस्था का विरोध करने वाले स्वयमेव एक समानान्तर समाज का रूप धारण कर लेते हैं। किन्तु शेष बहुसंख्यक समाज जातितः वर्ण–व्यवस्थायुक्त ही बना रहता है। जैन, बौद्ध, सिक्ख, कबीरपन्थ आदि सभी सम्प्रदाय इसी ऐतिहासिक तथ्य के मूर्तिमान् उदाहरण हैं। ये सभी सम्प्रदाय असफल हुए क्योंकि इन्होंने जातितः वर्ण–व्यवस्था का अत्यधिक विरोध किया किन्तु यह न देख सके कि वस्तुतः गोत्र–व्यवस्था ही जातितः वर्ण–व्यवस्था की शामक (Antidote) है। इसे ठीक किये बिना न तो जातितः वर्ण–व्यवस्था को दूर किया जा सकता है और न ही किसी नवीन व्यवस्था की बात की जा सकती है। अतः जातियों की गोत्रों में परिणति ही जातितः वर्ण–व्यवस्था को समूल नष्ट कर सकती है। अब तो पूरी पृथ्वी के जीवविज्ञानी इस विषय में सहमत हो चुके हैं कि सम्पूर्ण मानवता को गोत्रों में विभक्त कर दिया जाय। जब तक पूरी पृथ्वी पर यह कार्य सम्पन्न नहीं हो जायेगा, क्या तब तक हमें प्रतीक्षा करनी चाहिए ? तब तो ऐसा मानना होगा कि गौरवशाली अतीत वाली इस भारतभूमि की उर्वराशक्ति पूरी तरह क्षीण हो चुकी है और अब इस भूमि पर विचारकों, चिन्तकों, समाजसुधारकों, देशभक्तों तथा संस्कृतिभक्तों का जन्म होना ही बन्द हो गया है। किन्तु हमें पूर्ण विश्वास है कि वीरवर महासेन की ही भाँति भारतभूमि का युवा वर्ग भी परम शक्तिशाली तथा परम ऊर्जस्वी है। आवश्यकता है तो केवल इस बात की कि उसे उसके प्राचीन गौरव का स्मरण कराया जाय। अतः भारत का युवा वर्ग गोत्र–व्यवस्थापनरूपी पावन लक्ष्य की पूर्ति में पूर्ण समर्थ है किन्तु उसे इस बात के महत्त्व का बोध नहीं है। यह शोधकार्य उसी महत्त्व के ज्ञापनार्थ ही है। गोत्र–व्यवस्था की दृढ ध्रुवा के सहारे वर्ण–व्यवस्थारूपी चक्र तीव्र वेग से घूमने लगेगा। ध्यातव्य है कि चक्र भी एक नहीं अपितु दो हैं। एक है पुरुष जाति तथा दूसरा है स्त्री जाति। ये दोनों चक्र एक–दूसरे के सहयोगी हैं, न कि प्रतिद्वन्द्वी क्योंकि दोनों मिलकर एक ही जीवनरथ को खींचते हैं। उनके मध्य होने वाले सहयोग का नाम है – विवाह। विवाह का अर्थ है – विशेषरूपेण ले जाना। पुरुष स्त्री को विशेषरूपेण ले जाता

है अर्थात् केवल अर्थ व काम हेतु ही नहीं अपितु धर्म हेतु भी। अब, धर्म क्या है ? साररूप में कहा जाय तो माता–पिता की सेवा–शुश्रूषा करना, सन्तानों का पालन–पोषण करना तथा राष्ट्र का उन्नयन करना ही धर्म है। पुरुष जीवन का संचालक है तथा स्त्री उसकी सहयोगिनी है। जो नारी–मुक्ति आन्दोलन और नारी–समानता आन्दोलन पुरुष–स्त्री समानता की बात करते हैं, वे भ्रामक हैं क्योंकि पुरुष–स्त्री समान नहीं अपितु पूरक हैं। ये नारी–मुक्ति आन्दोलन जीवन–रथ में स्त्री के स्थान को परिभाषित किये बिना केवल पुरुषों के अनुकरण मात्र को ही स्त्री के जीवन की सार्थकता सिद्ध कर रहे हैं। संवेदनशील स्त्रियों का कहना है कि "समस्त नारी–मुक्ति आन्दोलनों का अन्तिम साध्य यही प्रतीत होता है कि स्त्री, स्त्री ही न रहे अपितु नम्बर दो की पुरुष हो जाये। वह आचार–व्यवहार, चाल–ढाल, भोजन, वस्त्र आदि समस्त बातों में पुरुषों का अनुकरण करे। अन्त में ऐसी स्थिति आ जाये कि स्त्री को गर्भ में सन्तान को धारण ही न करना पड़े अपितु प्रयोगशालाओं में बड़ी–बड़ी परखनलियों में शिशु विकसित हों और वहीं से उन्हें घर ले आया जाय। इतना ही नहीं, स्त्री को मूत्रविसर्जन हेतु बैठना भी न पड़े अपितु वह भी चाहे तो पुरुषवत् खड़े–खड़े ही यह कार्य निपटा सके।" निश्चितरूपेण ही संवेदनशील स्त्रियों ने नारी–मुक्ति आन्दोलनों की दिङ्मूढता पर अत्यन्त गहरा और सार्थक व्यंग्य किया है। विडम्बना यह है कि आधुनिक सुशिक्षित नारी अपनी इस मूढता पर लज्जित नहीं अपितु गर्वित है। किन्तु नारी को दोष देना कदापि समीचीन नहीं होगा क्योंकि हमारी शिक्षा–व्यवस्था ही ऐसी है जिससे निकलकर समाज में आने वाला पुरुष हिमालय की भाँति गौरवशाली, पवित्र और उन्नत नहीं होता। नारी भी ऐसे पुरुष के प्रति स्वयं को कैसे समर्पित करे ? आधुनिक शिक्षाप्रणाली द्वारा शिक्षित आधुनिक पुरुष में तो कोई गरिमा ही नहीं है। वस्तुतः वह पूर्ण पुरुष ही नहीं है क्योंकि पौरुष के प्रतीक माने जाने वाले संकल्प तथा वचनपालकत्व का उसमें पूर्ण अभाव है। नारी भी अपनी सहज सौम्यता तथा लज्जा से रहित होकर फिरकनी बनने में ही अपनी शान समझने लगी है। उस पर विडम्बना यह है कि अपकाम (Infra-sex) का द्रुतगति से चतुर्दिक् प्रसार हो रहा है और सहजकाम (Normal sex) दिन–प्रतिदिन दुर्लभ होता जा रहा है। यह मानवता के मौलिक पतनों (Basic degenerations) में से एक है। मनोवैज्ञानिकदृष्ट्या प्रत्येक व्यक्ति एक बीज है और अपकाम का अर्थ है कि बीज भीतर से सड़ा हुआ है। सहजकाम से युक्त व्यक्ति ही मनोवैज्ञानिकदृष्ट्या अंकुरित एवं विकसित हो सकता है। आज सभ्य वेष धारण किए हुए शिष्ट–सा प्रतीत होने वाला आधुनिक मानव वस्तुतः भीतर से सड़ा हुआ और खोखला है किन्तु वह स्वस्थिति से पूर्णतया

अनभिज्ञ है। कितना कहा जाये! यहाँ तो कुएं में ही भाँग पड़ी है। अस्तु, अब आशा की केवल एक ही किरण शेष है कि जम्बूद्वीप के विचारशील, राष्ट्रभक्त व रुद्रभक्त जन सुषुप्त शैव संस्कृति के पुनर्जागरण की अलख जगाएं।

वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः।

।। इति उपसंहारः।।

सहायकग्रन्थसूची

क्रमांक	ग्रन्थ	लेखक/टीकाकार	प्रकाशन	वर्ष
1.	मनुस्मृति	डॉ. सुरेन्द्र कुमार	आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, नई दिल्ली	1995
2.	याज्ञवल्क्य स्मृति	डॉ. गंगासागर राय	चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली	2002
3.	धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग)	डॉ. पी.वी. काणे	उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ	1992
4.	वैदिक सम्पत्ति	पं. रघुनन्दन शर्मा	सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली	1990
5.	कामसूत्र	शशि मोहन बहल	रजत प्रकाशन, मेरठ	2000
6.	ऋग्वेद	पं. श्रीराम शर्मा	ब्रह्मवर्चस, शान्तिकुंज, हरद्वार	1997
7.	यजुर्वेद	,,	,,	,,
8.	सामवेद	,,	,,	,,
9.	अथर्ववेद	,,	,,	,,
10.	महाभारत	पं. रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय	गीता प्रेस, गोरखपुर	2006
11.	रामायण	जानकीनाथ शर्मा	,,	,,
12.	ईशादि नौ उपनिषद्	हरिकृष्ण दास गोयन्दका	,,	1953
13.	विष्णु पुराण	मुनिलाल गुप्त	,,	2000
14.	Beelzebub's Tales to His Grandson	G.I. Gurdjieff	Penguin Compass, New York	1999
15.	A New Model of the Universe	P.D. Ouspensky	Arkana Penguin Group, New York	1984

16.	In Search of the Miraculous	P.D. Ouspensky	Arkana Penguin Books, New York	1987
17.	The Fourth Way	„	Vintage Books, New York	1971
18.	समाजशास्त्र	प्रो. एम.एल. गुप्ता	साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा	2004
19.	आधुनिक जन्तुविज्ञान	डॉ. रमेश गुप्ता	प्रकाश पब्लिकेशन्स, आगरा	2000
20.	प्राचीन भारतीय इतिहास	डॉ. के.सी. श्रीवास्तव	यूनाइटेड बुक डिपो, इलाहाबाद	1998
21.	मध्यकालीन भारत	एल.पी. शर्मा	लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा	2000
22.	स्वतन्त्रता संग्राम	विपिन चन्द्र	नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया, नई दिल्ली	2000
23.	सामाजिक विज्ञान भाग–1, कक्षा–9	डॉ. रामकिशोर पाण्डेय	मास्टर माइण्ड पब्लिकेशन्स, मेरठ	2002
24.	सामाजिक विज्ञान भाग–1, कक्षा–10	„	„	„